THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

भ० महावीर की २५वीं निर्वाणशताब्दी के उपलक्ष्य मे

जैन-अंगशास्त्र
के अनुसार
मानव-व्यक्तित्व का विकास

लेखक

डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन

एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य

प्राध्यापक, सस्कृत विभाग

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म० प्र०)

पुरोवाक्

डॉ० शिवमङ्गलसिंह 'सुमन'

कुलपति, विक्रम विश्वविद्यालय

उज्जैन (म० प्र०)

प्रकाशक

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

सन्मति आगमसाहित्यमाला का १२वाँ रत्न

पुस्तक :

जैन-अंगशास्त्र के अनुसार मानव-व्यक्तित्व का विकास

●

लेखक :

डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य
प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म० प्र०)

पुरोवाक्

डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन'
कुलपति, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म० प्र०)

●

प्रथम संस्करण
भ० महावीर का २५०० वाँ निर्वाणवर्ष
दीपावलीपर्व, कार्तिक कृ० १५
नवम्बर १९७४

●

मूल्य :
पन्द्रह रुपये मात्र

●

प्रकाशक :
सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामंडी, आगरा-२

●

मुद्रक :
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस
१/११ साहित्य कुंज, महात्मा गांधी मार्ग, आगरा-२

समर्पण

भगवान् महावीर के द्वारा प्रदर्शित पथ का
अनुसरण करते हुए अपने व्यक्तित्व
के विकास में सतत संलग्न
पूज्य पिताश्री ब्रह्मचारी
छोटेललाजी महाराज
के करकमलों
में सविनय
समर्पित

उज्जैन
दिनाक ३०-६-१६७४

—हरीन्द्रभूषण जैन

प्रकाशकीय

मानव का जन्म किसी एक परिवार मे होता है, किन्तु उसके जीवन का विकास होता है, समाज, राष्ट्र और धर्मसघ के उत्तम वातावरण मे। विभिन्न धर्मशास्त्रो मे मानव-व्यक्तित्व के विकास के लिए विभिन्न मार्ग बताये है, परन्तु जैनधर्म ने मानवजीवन की अलग-अलग भूमिका के अनुसार व्यक्तित्व के विकास के लिए समन्वयवादी उदार दृष्टिकोण अपनाया है। जैनदर्शन ने व्यक्तित्व के विकास के लिए किसी देश, वेश, लिग, सम्प्रदाय, जाति, चिह्न आदि को महत्त्व न दे कर ज्ञान-दर्शन-चारित्र की साधना को महत्त्व दिया है। जैन-अगशास्त्रो मे ये बाते यत्रतत्र बिखरी हुई मिलती हैं। डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन ने अगशास्त्रो से मानव-व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे बिखरे हुए वचनरत्नो को प्रबन्ध के रूप मे एक सूत्र मे पिरो कर इसे पुस्तकारूढ किया है। मानव-व्यक्तित्व के विकास के लिए सचमुच यह पुस्तक अनूठी मार्ग-दर्शक है। प्रत्येक विचारक के लिए, खासतौर से जैन-संस्कृति के प्रेमियो के लिए यह पुस्तक बहुत ही उपादेय है। यही सोच कर सन्मति ज्ञानपीठ ने इसके प्रकाशन का निश्चय किया।

यद्यपि प्रेसो की कार्यव्यस्तता के कारण यह पुस्तक काफी विलम्ब से प्रकाशित हो रही है, जिसके लिए कई जैनविद्यारसिको को बहुत ही प्रतीक्षा भी करनी पडी है। इसके लिए हम उन पाठको से क्षमाप्रार्थी हैं।

आशा है, धर्मदृष्टि से जीवननिर्माणप्रेमी पाठक इससे अवश्य ही लाभ उठायेंगे। सुज्ञेषु किं बहुना!

—मत्री,

सन्मति ज्ञानपीठ

लोहामंडी, आगरा-२

पुरोवाक्

भारतीय सस्कृति की महत्ता, तपस्या और उत्सर्ग की भूमिका पर ही प्रतिष्ठित हुई है। जव साधक सावना करते करते सिद्धमय हो जाता है तो वही सस्कृति वन जाता है। आज से २५०० वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने वहुजनहिताय और वहुजनसुखाय स्वय को उत्सर्ग कर दिया था। उनकी विराट् सवेदना देश, जाति, काल की सीमाओ को पार कर गई थी। इसलिए वे सृष्टिमात्र के उद्धारक एव मुक्तिदाता माने गए। अहिंसा और अपरिग्रह की ऐसी अमोघवाणी सृष्टि मे पहले कभी नही सुनी गई थी। अपनी तात्त्विक अर्थवत्ता मे आज भी वह अनन्य है। लोक-कल्याण की दृष्टि से जन-भापा प्राकृत मे ही उनके प्रवचन मुखरित हुए थे। भगवान् महावीर के इन्ही उपदेशो का सार अगशास्त्र मे सग्रहीत है। युद्ध की विभीषिका से सत्रस्त अस्तव्यस्त मानवता को भगवान् की उस मगलमयी वाणी की जैसी आज आवश्यकता है, ऐसी पहले कभी नही थी। विश्वकल्याण की सार्वजनीनता को सवारने के लिये मानवात्मा के अन्तर्मन्थन से तत्वचिन्तन और दर्शन की जितनी उपलब्धियाँ आज तक हुई हैं, उनमे अनेकान्त, सत्यान्वेषण की सर्वोत्तम उपलब्धि है। चिन्तन और मनन की भावभूमि पर शील, सौजन्य, सहिष्णुता, उदारता और निरपेक्ष मूल्याकन का इससे वढकर उदाहरण मिल सकना कठिन है।

प्राकृत-भापा मे निवद्ध जैन साहित्य विश्वमनीपा के तत्वचिन्तन की वहुमूल्य उपलब्धि है। विना उसका अध्ययन किए भारतीय इतिहास एव सस्कृति का मर्म आत्मसात् नही किया जा सकता। जैन अगशास्त्रो की भापा अर्धमागधी प्राकृत है। भगवान् महावीर ने इसी के माध्यम से जन-जन-कल्याणी गगा की धारा प्रवाहित की थी। इसी तप पूत वाणी की प्रेरणा से अनगिनत अनाम अर्हतो ने प्राकृत भापा मे अनन्त स्रोतस्विनियाँ प्रवाहित की थी, जिनमे अवगाहन किए विना भारतीय वाङ्मय के भावना-वैभव का आकलन नही किया जा सकता। महावीर-परिनिर्वाण के इस पावनपर्व पर यदि प्राकृत के

इस अगाध भण्डार का पर्यवेक्षण, पुनर्मूल्याकन और प्रकाशन सम्भव हो सके तो भारतीय सस्कृति के पुनर्जागरण की भूमिका चरितार्थ हो सके। डा० हरीन्द्र-भूषण जैन ने अगशास्त्र के अगाध अम्बुधि मे अवगाहन कर महावीर की अमृत-वाणी के आधार पर मानव-व्यक्तित्व के विकास की जो रूपरेखा प्रस्तुत ग्रन्थ मे उद्घाटित की है—वह निस्सदेह समस्त विश्व मे शाति, सौहार्द एव पारस्परिक प्रेम-भावना के प्रसार की परिकल्पना साकार कर सकती है।

भगवान् महावीर के २५०० वे निर्वाण वर्ष मे इस ग्रन्थ का प्रकाशन भी एक सयोग ही है। डा० जैन ने अपनी नैष्ठिक आराधना, अध्ययन और अध्य-वसाय से न केवल भगवान् की कल्याणकारी वाणी से हमे उपकृत किया है, वरन् प्राकृत भाषा के अगाध भण्डार के अध्ययन-अध्यापन की तीव्र जिज्ञासा भी जागृत कर दी है। सदियो की सचित-साधना का यह मर्मोद्घाटन स्वय मे ही बहुमूल्य है। इस सद्प्रयत्न के लिए डा० जैन हम सबके साधुवाद के पात्र हैं। आगम, निगम और पुराणो के महारण्य मे अगशास्त्र की महिमा को उद्भासित करने का यह अनुष्ठान ज्ञानपीठ की सन्मति का ही परिचायक है। भगवान् महावीर की मगलमयी वाणी जन-जन का कल्याण और मानवता का परित्राण करे—इसी विनम्र स्तवन के साथ—

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

प्रस्तावना

जैन-अगशास्त्र पर शोधकार्य करने के परिणाम स्वरूप, सन् १९५७ मे सागर विश्वविद्यालय से मुझे पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी शोधकार्य का परिष्कृत रूप है।

जैन सस्कृति मे अगशास्त्र का अतिशय महत्व है। अगशास्त्र वे आगम ग्रन्थ हैं, जिनका सकलन तीर्थङ्कर महावीर की वाणी से किया गया है। यद्यपि आज यह नही कहा जा सकता कि अगशास्त्र के शब्द पूर्णरूप से वे ही शब्द है, जिनका प्रयोग तीर्थङ्कर महावीर ने किया था। काल की कराल गति से वे अनेक वार छिन्न-विच्छिन्न हुए और अनेक वार उन्हे जोड कर सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया, फिर भी आचार्य-परम्परा से प्राप्त इस अमूल्यनिधि मे प्राय मौलिकता विद्यमान प्रतीत होती है।

आज जैन-साहित्य पर्याप्त समृद्ध हो चुका है, किन्तु हमने उस अतिप्राचीन खण्डहर मे पडी हुई वहुमूल्य कडियो को एकत्रित कर शृखलारूप मे बांध कर मानव के व्यक्तित्व-विकास को समझने की चेप्टा की है। इस प्रयास मे हमे अङ्गशास्त्र के साथ प्राय सभी जैन-आगमो का अध्ययन करना पडा है।

जैन-आगमो पर अभी तक वहुत थोडा अनुसधान-कार्य हुआ है। डा० जगदीशचन्द्र जैन ने सवसे प्रथम जैन-आगमो पर अनुसधानकार्य किया। उनका वह कार्य अँग्रेजीभापा मे **'लाइफ इन एंश्येंट इण्डिया एज डेपिक्टेड इन दि जैन केनन्स'** नामक ग्रन्थ के रूप मे प्रकाशित है। इसका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो गया है। मैं डा० जैन के इस शोधकार्य से अत्यन्त प्रभावित हुआ। अनेक स्थलो पर उनका यह ग्रन्थ मुझे सहायक सिद्ध हुआ है, इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। डॉ० जगदीशचन्द्र ने अपने ग्रन्थ मे जैन-आगमो मे वर्णित भारत की प्राचीन सस्कृति के दर्शन कराये हैं, और मैंने अपने ग्रन्थ को केवल आध्यात्मिक सस्कृति तक ही सीमित रखा है।

मैंने इस ग्रन्थ मे इस वात को प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि मानव अपने जीवन की विभिन्न अवस्थाओ मे रह कर किस प्रकार धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए आचरण और व्यवहार करे। इस दृष्टि से जैन-अगसाहित्य पर कार्य अभी प्राय नही हुआ है।

गुरुवर डॉ० रामजी उपाध्याय, अध्यक्ष, सस्कृतविभाग, सागर विश्व-विद्यालय ने मुझे जैनधर्म एव जैनदर्शन पर शोधकार्य करने की सतत प्रेरणा प्रदान की। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन मे भी उनका मार्गदर्शन हमे प्राप्त हुआ। इसलिए मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूँ। मैं आदरणीय प० श्री सुखलालजी सघवी, गुरुवर प० श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री, श्री प० दलसुख मालवणिया, उपाध्याय श्री अमरमुनि, पुरातत्त्ववेत्ता पन्यास श्री कल्याणविजय गणी आदि का अत्यन्त आभारी हूँ, जिनके आगमसम्बन्धी ज्ञान एव प्रकाशित रचनाओ से मुझे वहुमूल्य सहायता प्राप्त हुई।

मैं हिन्दी भाषा और साहित्य के गहन चिन्तक और कवि, जैनदर्शन और सस्कृति के प्रति प्रगाढ आस्थावान्, तथा विक्रम-विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० शिवमङ्गलसिंह 'सुमन' का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर इस पुस्तक का 'पुरोवाक्' लिख देने का कष्ट किया।

अन्त मे, मैं आदरणीय राष्ट्रसन्त कविरत्न उपाध्याय श्री अमरमुनिजी पुन के प्रति अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूँ; जिन्होने भगवान् महावीर की २५०० वी निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य मे इस ग्रन्थ को 'सन्मति ज्ञानपीठ' के माध्यम से प्रकाशित कर मुझे अनुगृहीत किया।

सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ।
ससारो अण्णवो वुत्तो, ज तरंति महेसिणो॥

[महावीर वचनामृत-उत्तराध्ययन २३।७३]

(शरीर को नौका कहा गया है, आत्मा को नाविक कहा गया है और ससार को समुद्र कहा गया हे, जिसे महर्षिगण पार कर जाते है)

विनीत

—हरीन्द्रभूषण जैन

अध्यापक आवासगृह,
उज्जैन (म० प्र०)।
पर्यूषण पर्व
दिनाक २०-९-१९७४

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

(अंग-शास्त्र का परिचय)

			पृष्ठ
१.	अंगशास्त्र	..	१
२.	जैनागम तथा अगशास्त्र	....	२
३.	अंगशास्त्र का इतिहास	...	४
४	अंगशास्त्र की प्रामाणिकता	....	६
५.	अगशास्त्र का रचनाकाल	...	११
६.	अंगशास्त्र की शैली एव भापा	.	१३
७.	अंगशास्त्र की पदसंख्या	...	१५
८.	अंगशास्त्र की टीकाएँ	..	१६
९.	अंगशास्त्र का विपय तथा विवरण	..	१७

द्वितीय अध्याय

(आदर्श-महापुरुष)

१.	चौवीस तीर्थंकर	...	२३
२.	भगवान् ऋषभ	..	२४
	(अ) भागवत मे ऋषभदेव		२४
३	अन्य तीर्थंकर	....	३०
४.	भगवान् अरिष्टनेमि	...	३४
५	भगवान् पार्श्वनाथ	....	३६
	(अ) पार्श्व का चातुर्याम धर्म	....	३८
	(आ) पार्श्व-सघ	.	४२
	(इ) पार्श्व-कालीन श्रुत		४४
६.	भगवान् महावीर	...	४५
	(अ) जन्मकालीन परिस्थिति	..	४६
	(आ) जन्म	....	४७
	(इ) गृह-जीवन	.	५०
	(ई) गृह-त्याग तथा साधक-जीवन	..	५०

पृष्ठ

(उ) साधना का रहस्य ५३
(ऊ) तप ५४
(ए) निर्वाण ५८
(ऐ) उपदेश ५८
(ओ) सार्वजनिक सेवा ... ६२
(औ) तत्कालीन अन्य सम्प्रदाय ६४
(अ) संघ और शिष्य-परम्परा ... ७६
(अ) गण तथा गणधर ... ७८
(क) शिष्य-परम्परा .. ८०

तृतीय अध्याय

(जैन-तत्त्व-ज्ञान)

१. तत्त्व-ज्ञान . ८३
२. पूर्वीय तथा पश्चिमीय तत्त्वज्ञान की प्रकृति की तुलना ८३
३. जैन-तत्त्वज्ञान .. ८४
(अ) पदार्थ-निरूपण ८४
(१) जीव .. ८५
(अ) जीव के भेद ८६
(आ) गति ८६
(इ) इन्द्रिय ८७
(ई) शरीर .. ८९
(उ) जन्म ९०
(ऊ) भाव . ९०
(ए) लेश्या ९१
(ऐ) वेद .. ९२
(ओ) ज्ञान .. ९२
(औ) नय ... ९३
(२) अजीव .. ९५
(अ) पुद्गल .. ९५
(आ) धर्म तथा अधर्म .. ९५
(इ) आकाश .. ९६
(ई) काल .. ९६
(१) पल्योपम ९७
(२) सागरोपम . ९७

		पृष्ठ
(३) आस्रव	....	९७
(४) वंध	..	९८
(५) सवर	....	१०१
(६) निर्जरा	....	१०१
(७) मोक्ष	.	१०२
(८), (९) पुण्य तथा पाप	...	१०२
(व) लोक का स्वरूप	...	१०२
(१) ऊर्ध्व-लोक	...	१०३
(२) तिर्यग् लोक	...	१०४
(अ) जम्बूद्वीप	....	१०५
(३) अधोलोक	....	१०६
(स) जैनधर्म और ईश्वर	....	१०६

चतुर्थ अध्याय

(मानव-व्यक्तित्व का विकास)

१.	विराट् विश्व	...	१०९
२.	विश्व मे मानव का स्थान	....	१११
३	मानव-जीवन की प्राप्ति	....	१११
४.	मानव-जीवन की महत्ता	...	११२
५	विकास की परिभापा	...	११३
५	व्यक्तित्व का विकास तथा उसके साधन	...	११५
७	उपासक तथा श्रमण जीवन	.	११९
८	विकास की चरम अवस्था	..	१२१
९	व्यक्तित्व-विकास की विभिन्न अवस्थाएँ (अ)	..	१२१
	(अ) अरिहत	...	१२२
	(१) तीर्थंकर	...	१२३
	(आ) सिद्ध	...	१२९
	(इ) आचार्य	..	१३०
	(ई) उपाध्याय	.	१३३
	(उ) साधु	...	१३४
१०	व्यक्तित्व-विकास की विभिन्न अवस्थाएँ (व)	...	१३६

पृष्ठ

पंचम अध्याय
(उपासक-जीवन)

१.	उपासक-अवस्था	....	१४२
२	उपासक-अवस्था का महत्व	...	१४४
३.	उपासक-अवस्था मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का महत्त्व	...	१४५
४	उपासक-अवस्था के भेद	....	१४८
५	उपासक-धर्म	...	१५१
	(अ) अणुव्रत	....	१५२
	(आ) दिग्व्रत	..	१५६
	(इ) उपभोग-परिभोग- परिमाण-व्रत	..	१६०
	(ई) अनर्थदण्डविरमण	....	१६३
	(उ) सामायिक	...	१६४
	(ऊ) देशावकाशिक	..	१६५
	(ए) पोषधोपवास	...	१६६
	(ऐ) यथासंविभाग	.	१६६
	(ओ) उपासक की ११ प्रतिमा	.	१६८
	(औ) मारणांतिक सल्लेखना तथा मरणोत्तर-विधान	..	१७२
६	उपासक का जीवन-क्रम	..	१७४
७	उपासक की विचारधारा	..	१७८

षष्ठ अध्याय
(श्रमण-जीवन)

१.	श्रमण-अवस्था		१८१
२.	श्रमणशब्द का निर्वचन तथा समानार्थक शब्द	.	१८२
३	श्रमण-अवस्था का महत्व	.	१८४
४	प्रव्रज्या		१८६
	(अ) प्रव्रज्या के कारण	..	१८६
	(आ) निष्क्रमण सत्कार	..	१८८
५	श्रमण-अवस्था के भेद	..	१८९
	(अ) पुलाक	.	१९०
	(आ) वकुश	.	१९०

पृष्ठ

(इ) कुशील १९०
(ई) निर्ग्रन्थ ... १९०
(उ) स्नातक .. १९०
(ऊ) आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष्य, कुल, गण, सघ, सार्धमिक ... १९१
(ए) साधु के २१ प्रकार के सवलदोप ... १९१
६ श्रमण-धर्म ... १९२
(अ) महाव्रत ... १९३
(आ) समिति तथा गुप्ति १९५
(इ) धर्म ... १९५
(ई) परीपहजय .. १९६
(उ) संयम ... १९७
(ऊ) तप . १९७
(१) वाह्य-तप . १९९
(२) आभ्यन्तर-तप ... २००
प्रतिमा ... २००
सल्लेखना तथा मरणोत्तर-विधान ... २०१
७ श्रमण की जीवनचर्या ... २०५
(अ) भिक्षावृत्ति . २०५
(आ) निवास, मलमूत्रप्रक्षेप तथा शय्या .. २०६
(इ) वस्त्र २०८
(ई) पात्र .. २०८
(उ) विहार ... २०९
८ श्रमण-जीवन की विचारधारा .. २१०

सप्तम अध्याय

(ब्राह्मण तथा श्रमण-संस्कृति)

१. सस्कृति २१४
२ ब्राह्मण-संस्कृति २१४
३. श्रमण-सस्कृति .. २१५
(अ) जैनसस्कृति ... २१६
(आ) बौद्धसस्कृति . २१६
(इ) जैन तथा बौद्धसस्कृति का अन्तर २१७
४. ब्राह्मण तथा श्रमणसस्कृति का अन्तर . २१७
(अ) वैषम्य तथा साम्य-दृष्टि . २१७
(आ) परस्पर प्रभाव और समन्वय .. २२०

			पृष्ठ
५.	उभय संस्कृतियो की तुलना	...	२२०
	(अ) मानव-जीवन का उद्देश्य	....	२२०
	(आ) सस्कार	....	२२२
	(इ) विद्यार्थी-जीवन	....	२२४
	(ई) अध्ययन-काल	....	२२५
	(उ) ज्ञान की प्रतिष्ठा	....	२२५
	(ऊ) विद्या के अधिकारी	....	२२६
	(ए) शूद्रो का विद्याधिकार	...	२२८
	(ऐ) विद्यालय	....	२२९
	(ओ) अध्ययन के विषय	..	२३१
	(औ) शिक्षण-विधि	....	२३४
	(अ) अनुशासन	...	२३५
	(अ.) शिक्षक का व्यक्तित्व	....	२३६
	(क) समावर्तन	...	२३७
	(ख) विवाह	...	२३८
	(ग) वानप्रस्थ तथा संन्यास	...	२४०

अष्टम अध्याय

उपसंहार

१.	जैन-परम्परा मे मानवीय-विकास की रूपरेखा	...	२४४
२.	जैन-परम्परा के आदर्श	...	२४७
३.	जैन-परम्परा मे विकास की दो श्रेणियाँ और उनका परस्पर समन्वय	....	२४९

परिशिष्ट

१	सहायक ग्रन्थो की सूची	....	२५१
	(अ) जैन अगशास्त्र	....	२५१
	(आ) जैन आगम ग्रन्थ	....	२५२
	(इ) वैदिक ग्रन्थ	...	२५३
	(ई) बौद्ध ग्रन्थ	....	२५४
	(उ) अन्य ग्रन्थ	.	२५५

जैन अंगशास्त्र
के अनुसार
मानव-व्यक्तित्व का विकास

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

प्रथम अध्याय

अंग शास्त्र का परिचय

अंग शास्त्र :

ब्राह्मण धर्म मे वेद (श्रुति) का तथा बौद्ध धर्म मे त्रिपिटक का जैसा महत्त्व है, वैसा ही महत्त्व जैन धर्म मे अगशास्त्र का है। समवायाग मे अगशास्त्र को 'गणिपिटक' कहा गया है। टीकाकार अभयदेव ने 'गणिपिटक' का अर्थ निम्नप्रकार किया है—गणी अर्थात् आचार्यो का, पिटक अर्थात् धर्मरूप निधि रखने का पात्र।[1]

गणिपिटक के १२ भेद है[2]—

१	आयारे	(आचाराग)
२	सूयगडे	(सूत्रकृताग)
३	ठाणे	(स्थानाग)
४	समवाए	(समवायाग)
५	विवाहपन्नत्ति	(व्याख्याप्रज्ञप्ति)
६	णायाधम्मकहाओ	(ज्ञाताधर्मकथा)
७	उवासगदसाओ	(उपासकदशाग)
८	अतगडदसाओ	(अन्तकृद्दशाग)
९	अणुत्तरोववाइयदसाओ	(अनुत्तरौपपातिकदशाग)
१०	पण्हावागरणाइ	(प्रश्नव्याकरणाग)
११	विवागसुय	(विपाकश्रुत)
१२	दिट्ठिवाए	(दृष्टिवाद)

आगम मे यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आचाराग आदि अगो की रचना महावीर के अनुयायी गणधरो ने की है।[3] 'जिन'

---

१ समवायाग १३६ (अभयदेववृत्ति, पृ० १०० अ)

२ नदीसूत्र, ४४

३ नदीसूत्र चूर्णि, पृ० १११, ला० इन ए० इ०, पृ० ३२

भगवान् उपदेश देकर कृतकृत्य हो जाते है, उस उपदेश को गणधर या विशिष्ट प्रकार के साधक ग्रन्थ का रूप देते है।[1] जैसे समय समय पर बुद्ध ने जो मार्मिक गाथाएँ कही, उनका सकलन 'उदान' मे पाया जाता है, ऐसे ही अनेक गाथाएँ और वाक्य उन उन प्रसगो पर जो तीर्थकरो ने कहे, वे सब मूल ही नही, शब्दरूप मे भी इन गणधरो ने द्वादशाग मे रखे होगे।[2]

भगवान् महावीर का निर्वाण ४६७ ई० पू० हुआ था। महावीर के समय मे जैन सिद्धान्त 'चतुर्दश पूर्व' के रूप मे प्रचलित था। महावीर ने ये चौदह पूर्व अपने शिष्यो को अच्छी तरह सिखाये और उनका अभ्यास भी कराया। महावीर के निर्वाण के वाद उनके शिष्यो ने चौदह पूर्वो, महावीर के उपदेशो तथा महावीर के शिष्यो के जीवन के आधार पर जिन सैद्धान्तिक आगमो का निर्माण किया, वे अगशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुए। यद्यपि इन अगशास्त्रो की सख्या १२ है, किन्तु वर्तमान मे केवल ११ अगशास्त्र ही उपलब्ध है। अन्तिम अग दृष्टिवाद है, जो कि दार्शनिक गहन विचारो से परिपूर्ण एव अत्यन्त क्लिष्ट होने के कारण उपेक्षित रहा और इसी कारण लुप्त भी हो गया। अगशास्त्रो के निर्माण के कारण पूर्वशास्त्रो का अध्ययन तथा अध्यापन प्राय. समाप्त होने लगा, क्योकि इन अगशास्त्रो मे केवल पूर्व शास्त्रो का ही निचोड नही था, प्रत्युत तत्कालीन जैन धर्म का वह परिवर्तित एव सशोधित रूप भी विद्यमान था, जिसका उपदेश भगवान् महावीर ने दिया था। इस प्रकार पूर्वागमो का अध्ययन केवल पट्टधर आचार्यो तथा जैन सिद्धान्त के महामर्मज्ञो तक ही सीमित रहा और अगशास्त्र समस्त जैन-परम्परा के अनुयायियो के पठनीय विषय वने।[3]

जैनागम तथा अगशास्त्र :

'नन्दीसूत्र'[4] मे श्रुतज्ञान के दो भेद किए गए है—अगप्रविष्ट तथा अगवाह्य। अगवाह्य श्रुत दो प्रकार का है—आवश्यक तथा

---

१ आवश्यक निर्युक्ति, श्लोक, १९२

२ जैनदर्शन, पृ० ११

३ अन्तगडदसाओ, प्रस्तावना, पृ० १६–१९.

४ नन्दीसूत्र, ४३

आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यक श्रुत सामायिकादि[1] के भेद से छह प्रकार का है। आवश्यकव्यतिरिक्त श्रुत दो प्रकार का है—कालिक-श्रुत तथा उत्कालिक[2] श्रुत। उत्कालिक श्रुत दशवैकालिक, कल्पाकल्प आदि के रूप मे २९ प्रकार का है। कालिक श्रुत उत्तराध्ययन-सूत्र, दशाश्रुतस्कन्ध आदि के रूप मे अनेक प्रकार का है। अंग-प्रविष्ट श्रुत आचारांग आदि के रूप मे १२ प्रकार का है।[3]

वर्तमान मे सर्वज्ञप्रणीत (अर्हत द्वारा उपदिष्ट) ३२ आगम ही प्रमाण कोटि मे आते है—११ अगशास्त्र (अन्तिम अग दृष्टिवाद का लोप हो गया है), १२ उपागशास्त्र, ४ मूलशास्त्र, ४ छेदशास्त्र तथा १ आवश्यक सूत्र।

१२ अगशास्त्रो के नाम हम ऊपर लिख चुके है। उपागशास्त्रो के नाम ये है—१ औपपातिकशास्त्र, २ राजप्रश्नीयशास्त्र, ३ जीवाभिगमशास्त्र, ४ प्रज्ञापनाशास्त्र, ५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-शास्त्र, ६. सूर्यप्रज्ञप्तिशास्त्र, ७ चन्द्रप्रज्ञप्तिशास्त्र, ८ निरयावलिकाओ, ९ कप्पवडिसियाओ, १० पुप्फियाओ, ११ पुप्फचूलियाओ तथा १२ वण्हिदसाओ।

४ मूल शास्त्र ये है—१. दशवैकालिकशास्त्र, २ उत्तराध्ययन-शास्त्र, ३. नन्दीशास्त्र तथा ४ अनुयोगद्वारशास्त्र।

४ छेदशास्त्र ये है—१. व्यवहारशास्त्र, २ बृहत्कल्पशास्त्र, ३ दशाश्रुतस्कन्धशास्त्र, ४ निशीथशास्त्र।

इस प्रकार ३१ आगम तथा १ आवश्यकशास्त्र मिलाकर कुल ३२ आगम प्रमाणित माने जाते है।[4]

---

१ सामायिक, चतुर्विशतिस्तव, वन्दन। प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, तथा प्रत्याख्यान— ये छह आवश्यक श्रुत के भेद हैं।

—नन्दीसूत्र ४३ पृ० ११५

२ जो दिन और रात के प्रथम तथा अन्तिम पहर रूप काल मे पढे जाते है, वे कालिक तथा जो उससे भिन्न समय मे पढे जाते है वे उत्कालिक श्रुत है। —नन्दीसूत्र (हि०) पृ० ११९

३ नन्दीसूत्र, ४४

४ अनुत्तरौपपातिक दशासूत्र, (हि०), प्रस्तावना पृ० ३-४.

अगशास्त्र का इतिहास .

अगशास्त्र की सुरक्षा—ऋग्वेदादि वेदो की सुरक्षा भारतीयो का अद्भुत पराक्रम है। आज भी भारतवर्ष मे ऐसे सैकडो ब्राह्मण वेदपाठी मिलेगे, जो आदि से अन्त तक वेदो का शुद्ध मुखपाठ कर सकते है, उनको वेद-पुस्तक की आवश्यकता नही होती। वेद के अर्थ की परम्परा भले ही उनके पास नही है, किन्तु वेदपाठ की परम्परा तो अवश्य है।

जैनो ने भी अपने अगग्रन्थो को सुरक्षित रखने का वैसा ही प्रवल यत्न भूतकाल मे किया है, किन्तु जिस रूप मे भगवान् के उपदेश को गणधरो ने ग्रथित किया था, वह रूप आज हमारे पास नही है। प्राकृत होने के कारण उसकी भाषा मे परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। अत ब्राह्मणों की तरह जेनाचार्य और उपाध्याय अगग्रन्थो की अक्षरश सुरक्षा नही कर सके है। इतना ही नही, वे कई सम्पूर्ण ग्रन्थो को तो भूल भी चुके है और कई ग्रन्थो की अवस्था विकृत कर दी गई है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अगो का अधिकाश जो आज उपलब्ध है वह भगवान् के उपदेश के अधिक निकट है। उसमे परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ है, किन्तु सव का सव विल्कुल नया और मनगढन्त ही है, ऐसा नही कहा जा सकता। क्योकि जैन सघ ने उस सम्पूर्ण श्रुत को वचाने का वार-वार जो प्रयत्न किया है, उसका साक्षी इतिहास मिटाया नही जा सकता।

भूतकाल मे जो वाधाएँ जैनश्रुत के नाश मे कारण हुई, क्या वे ही वेदो का नाश नही कर सकती थी ? क्या कारण है कि जैनश्रुत से भी प्राचीन वेद तो सुरक्षित रह सके और जैनश्रुत सम्पूर्ण नही तो अधिकाश नष्ट हो गया ? इन प्रश्नो का उत्तर सहज ही है।

वेदो की सुरक्षा मे दोनो प्रकार की परम्पराओ ने सहयोग दिया है। जन्मवश की अपेक्षा पिता ने पुत्र को और उसने अपने पुत्र को, तथा विद्यावश की अपेक्षा गुरु ने शिष्य को और उसने अपने शिष्य को वेद सिखाकर वेदपाठ की परम्परा अव्यवहित गति से चालू रखी है, किन्तु जैनागम की रक्षा मे जन्मवश को कोई स्थान ही नही है। यहाँ पिता अपने पुत्र को नही, किन्तु अपने शिष्य को ही पढाता है। अतएव केवल विद्यावश की अपेक्षा से ही जैनश्रुत की परम्परा को जीवित

रखने का प्रयत्न किया गया है। यही कमी जैनश्रुत की अव्यवस्था मे कारण हुई है। ब्राह्मणो को अपना सुशिक्षित पुत्र और वैसा ही सुशिक्षित ब्राह्मण शिष्य प्राप्त होने मे कोई कठिनाई नही थी, किन्तु जैनश्रमण के लिए तो अपना सुशिक्षित पुत्र जैनश्रुत का अधिकारी ही नही है, यदि वह श्रमण नही है। और उधर अशिक्षित श्रमण, पुत्र न होने पर भी यदि शिष्य हो, तो वही श्रुत का अधिकारी हो जाता है। वेद की सुरक्षा एक वर्गविशेष से हुई है, जिसका स्वार्थ उसकी सुरक्षा मे ही था। जैनश्रुत की रक्षा वैसे किसी वर्गविशेष के अधीन नही, किन्तु चतुर्वर्ण मे से कोई भी मनुष्य यदि जैनश्रमण हो जाता है तो वही जैनश्रुत का अधिकारी हो जाता है। वेद का अधिकारी ब्राह्मण अधिकार पाकर उससे वरी नही हो सकता, अर्थात् उसके जीवन की प्रथमावस्था मे नियमित वेदाध्ययन आवश्यक था। अन्यथा ब्राह्मण समाज मे उसका कोई स्थान नही था। इसके विपरीत जैनश्रमण को जैनश्रुत का अधिकार तो मिल जाता है किन्तु कई कारणो से वह उस अधिकार के उपयोग मे असमर्थ रहता है। ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन सर्वस्व था, किन्तु जैन श्रमण के लिए आचार ही सर्वस्व है। अतएव कोई मन्द-बुद्धि शिष्य सम्पूर्ण श्रुत का पाठ न भी कर सके, तब भी उसके मोक्ष मे किसी भी प्रकार की रुकावट नही थी और उसका ऐहिक जीवन भी निर्बाध रूप से सदाचार के बल पर व्यतीत हो सकता था। जैनसूत्रो का दैनिक क्रियाओ मे विशेष उपयोग भी नही है। जहाँ एक सामायिक पदमात्र से भी मोक्षमार्ग सुगम हो जाने की शक्यता हो, वहा विरले ही साधक यदि सम्पूर्ण श्रुतधर होने का प्रयत्न करे, तो इसमे क्या आश्चर्य ? अधिकाश वैदिक सूक्तो का उपयोग अनेक प्रकार के क्रियाकाण्डो मे होता है, तब कुछ ही जैन सूत्रो का उपयोग श्रमण के लिए अपने दैनिक जीवन मे है। अपनी स्मृति पर बोझ न बढा कर पुस्तको मे जैनागमो को लिपिबद्ध करके भी जैनश्रमण आगमो को बचा सकते थे, किन्तु ऐसा करने मे अपरिग्रहव्रत का भङ्ग असह्य था। उसमे उन्होने असयम देखा।[1] जब उन्होने अपने अपरिग्रह व्रत को कुछ शिथिल किया, तब वे आगमो का अधिकाश भूल चुके थे। पहिले जिस पुस्तक-परिग्रह को असयम का कारण समझा था

---

१ पोत्थए सु घेप्पतएसु असजमो भवइ। —दशवैकालिक चूर्णि, पृ० २१

उसी को संयम का कारण मानने लगे।[1] क्योंकि ऐसा न करने से तो श्रुतविनाश का भय था। किन्तु अब क्या हो सकता था? जो कुछ उन्होंने खो दिया था, वह तो मिल ही नहीं सकता था। लाभ इतना अवश्य हुआ कि जब से उन्होंने पुस्तक-परिग्रह को संयम का कारण माना, तो जो कुछ आगमिकसंपत्ति उस समय तक शेष रह गई थी, वह सुरक्षित रह गई, अधिक हानि नहीं हुई। आचार के नियमों को श्रुत की सुरक्षा की दृष्टि से शिथिल कर दिया गया। श्रुतरक्षा के लिए कई अपवादों की सृष्टि भी की गई।

दैनिक आचार में भी श्रुतस्वाध्याय को अधिक महत्त्व दिया गया। इतना करने पर भी जो मौलिक कमी थी उसका निवारण तो हुआ ही नहीं, क्योंकि गुरु अपने श्रमणशिष्य को ही ज्ञान दे सकता है, यह जो नियम था, उसका तो अपवाद हुआ ही नहीं। अतएव अध्येता श्रमणों के अभाव में गुरु के साथ ही ज्ञान चला जाए तो इसमें आश्चर्य क्या? कई कारणों से, विशेषकर जैनश्रमण की कठोर तपस्या और अत्यन्त कठिन आचार के कारण अन्य बौद्धादि श्रमणसंघों की तरह जैनश्रमणसंघ का संख्याबल प्रारम्भ से ही कम रहा है। ऐसी स्थिति में कंठस्थ ग्रन्थों की तो क्या, वलभी में लिखित सकल ग्रन्थों की भी सुरक्षा न हो सकी तो इसमें आश्चर्य क्या है।[2]

पाटलिपुत्र की प्रथम वाचना—बौद्ध इतिहास में भगवान् बुद्ध के उपदेश को व्यवस्थित करने के लिए भिक्षुओं ने कालक्रम से तीन सँगीतियाँ की थी, यह प्रसिद्ध है।[3] उसी तरह भगवान महावीर के उपदेश को व्यवस्थित करने के लिए जैनाचार्यों ने भी मिलकर तीन वाचनाएँ की। जब-जब जैनाचार्यों ने देखा कि श्रुत का ह्रास हो रहा है, उसमें अव्यवस्था हो गई है, तब-तब उन्होंने एकत्र होकर जैनश्रुत को व्यवस्थित किया है।

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद आचार्य यशोभद्र के ज्येष्ठ

---

१ काल पुण पडुच्च चरणकरणट्ठा अवोच्छित्तिनिमित्त च गेण्हमाणस्स पोत्थए संजमो भवइ। —दशवैकालिक चूर्णि पृ० २१.

२ जैनागम, पृ० १०

३ सच्चसंगहो भूमिका, पृ० ९, तथा ला० इन एं० इ०, पृ० ३३, नोट ६.

शिष्य सभूतिविजय छठे पट्टधर हुए। इसी समय (३११ ई० पू० के लगभग) चन्द्रगुप्त मौर्य मगध के सिहासन पर आरूढ हुए। कल्पसूत्रानुसार सभूतिविजय की मृत्यु के वाद आचार्य स्थूलभद्र पट्टधर हुए, यद्यपि उस समय विद्या और बुद्धि की अपेक्षा आचार्य स्थूलभद्र से अधिक प्रतिभाशील एव प्रभावशाली, आचार्य यशोभद्र के लघु शिष्य आचार्य भद्रवाहु वर्तमान थे। आचार्य स्थूलभद्र के समय मे मगध मे १२ वर्ष का अकाल पडा।[१] जैन श्रमण सघ का एक भाग आचार्य भद्रवाहु की सरक्षकता मे दक्षिण की ओर प्रयाण कर गया, क्योकि उस अकालग्रस्त क्षेत्र मे धर्म के सरक्षण मे सावधान रहना अतिकठिन था। इस अव्यवस्थित समय मे अगशास्त्रो के अध्ययन और अध्यापन की उपेक्षा रही, अत श्रमणसघ को उसका अधिकाश भाग विस्मृत हो गया। सुसमय आने पर लगभग ३०० ई० पू०, पाटलिपुत्र मे जैनश्रमणसघ एकत्रित हुआ। एकत्रित हुए श्रमणो ने एक दूसरे से पूछकर ११ अगो को व्यवस्थित किया।[२] उस समय १२ वा अग 'दृष्टिवाद' व्यवस्थित नही किया जा सका, क्योकि उपस्थित श्रमणो मे से किसी को भी उसका ज्ञान नही था। उस अग के एक मात्र ज्ञाता आचार्य भद्रवाहु थे।[३] वे महाप्राण नामक ध्यानयोग की साधना के लिए नेपाल की ओर प्रयाण कर गए थे। आचार्य भद्रवाहु ही १४ पूर्वो के एकमात्र ज्ञाता थे। श्रमणसघ ने आचार्य स्थूलभद्र को कई साधुओ के साथ दृष्टिवाद अग तथा १४ पूर्वो के अध्ययन के लिए भद्रवाहु के निकट भेजा, किन्तु उनमें से केवल स्थूलभद्र ही दृष्टिवाद को ग्रहण करने में समर्थ हुए। आचार्य स्थूलभद्र ने दृष्टिवाद के साथ-साथ १४ पूर्वो का भी अध्ययन करना चाहा, किन्तु वे १० पूर्वो का पूर्ण ज्ञान तथा वाकी ४ पूर्वो का अर्थ से हीन केवल शब्दज्ञान ही प्राप्त कर सके। परिणाम यह हुआ कि स्थूलभद्र तक ही चतुर्दश पूर्व का ज्ञान श्रमणसघ मे

---

१ आवश्यकचूर्णि, तित्योगालीपइन्नय

२ आवश्यकचूर्णि, भाग २, पृ० १८७

३ हेमचन्द्र परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९, श्लोक ५७, ५८, तथा वीर निर्वाण सवत् पृ० ९४

रहा, किन्तु उनकी मृत्यु के वाद १२ अगो में से ११ अग और १० पूर्व का ही ज्ञान शेष रह गया।[१]

माथुरीवाचना—पट्टधर आचार्य स्कदिल के समय मे पुन १२ वर्ष का अकाल पडा और इस वार भी अगशास्त्र छिन्न-विच्छिन्न हो गए।[२] आचार्य स्कदिल के सभापतित्व मे, १२ वर्ष के दुष्काल के वाद, श्रमणसघ मथुरा मे पुन एकत्रित हुआ और स्मृति के आधार पर अगशास्त्र व्यवस्थित किए गए। यह वाचना मथुरा मे हुई थी, अत यह माथुरीवाचना कहलाई।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि दूसरी वार भी दुष्काल के कारण श्रुत की दुरवस्था हो गई थी। इस वार की सकलना का श्रेय आचार्य स्कदिल को है। मुनि श्री कल्याण विजय जी ने आचार्य स्कदिल का पट्टधर काल वीर निर्वाण सम्वत् ८२७ मे ८४० तक माना है, अत यह वाचना इसी वीच हुई होगी।[३]

वालभी-वाचना—जव मथुरा मे वाचना हुई उसी समय वलभी मे भी नागार्जुन सूरी ने श्रमणसघ को एकत्रित करके आगमो को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। वाचक नागार्जुन और एकत्रित सघ को जो जो आगम याद थे वे लिख लिए गए और विस्तृत स्थलो को पूर्वापर सवध के अनुसार ठीक करके वाचना दी गई।[४]

देवर्धिगणि का पुस्तक लेखन—उपर्युक्त वाचनाओ को सपन्न हुए लगभग १५० वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो चुका था। उस समय पुन वलभी नगर मे देवर्धिगणि क्षमा श्रमण की अध्यक्षता मे श्रमण-सघ एकत्रित हुआ और पूर्वोक्त दोनो वाचनाओ के समय सकलित आगमो को लिखाकर सुरक्षित करने का निश्चय किया गया।[५]

---

१ ला० इन ए० इ०, पृ० ३२ तथा जैन-आगम, पृ० ११, अन्तगडदसाओ प्रस्तावना, पृ० २०, २१

२ नदी, चूर्णि पृ० ८

३ वीर निर्वाण सवत्, पृ० १०४.

४ वही पृ० ११० तथा ला० इन ए० इ०, पृ० ३२, ३३

५ अतगडदसाओ, भूमिका, पृ० २२

इस श्रमण-परिषद् ने दोनो वाचनाओ के सिद्धान्तो का परस्पर समन्वय किया और जहाँ तक हो सका भेदभाव मिटाकर उन्हे एक रूप कर दिया।[१] यही कारण है कि मूल और टीका मे हम **"वायंणतरे-पुण"** या **"नागार्जुनीयास्तु पठन्ति"** जैसे उल्लेख पाते है।[२] यह कार्य वीर निर्वाण सवत् ९८० (४५४ ई०) मे हुआ। वाचनान्तर के अनुसार इस कार्य का काल ९९३ वीर सवत् (४६७ ई०) भी है। वर्तमान मे जो अगशास्त्र उपलब्ध है, उनका अधिकाश इसी समय मे स्थिर हुआ।[3]

क्षमाश्रमण देवर्धिगणी ने आगमो को लिखित रूप देने का कार्य सभवत. इस आशका से प्रेरित होकर किया होगा कि कालान्तर मे कही ये आगम स्मृतिदुर्बलता के कारण लुप्त न हो जाएँ। उनके पहिले आचार्य, शिष्यो के अध्ययन के लिए लिखित ग्रन्थो का प्रयोग नही करते थे, किन्तु वाद मे आगमो के लिखित रूप मे आ जाने के कारण, लिखित आगमो का उपयोग अध्ययन और अध्यापन के लिए होने लगा। प्राचीन काल मे पुस्तके थी ही नही। वैदिक पुरुष स्मृति पर ही अधिक विश्वास रखते थे। जैन और बौद्धो ने भी उनका अनुकरण किया। इसमे कोई सदेह नही कि अध्यापन की इस शैली के परिवर्तन का श्रेय देवर्धिगणी को ही है। प्रत्येक आचार्य तथा कम से कम प्रत्येक उपाश्रय के लिए आगमो की अनेक प्रतियाँ देवर्धिगणी द्वारा अवश्य तैयार कराई गई होगी।[४]

अंगशास्त्र की प्रामाणिकता

अंगशास्त्र की प्रामाणिकता और मौलिकता के विषय मे जैनागम के प्रगाढ अभ्यासी डा० हर्मन याकोवी जैसे योरोपीय विद्वानो ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। वे इन अगशास्त्रो को वास्तविक 'जैनश्रुत' मानते है और इन्हीं के आधार पर वे जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने मे सफल हुए है।[५]

---

१ वीर निर्वाण सवत्, पृ० ११२.

२ वीर निर्वाण सवत्, पृ० ११६.

३ जैन-आगम, पृ० १५, जैनसूत्राज् भाग १, प्रस्तावना पृ० ३७.

४ जैनसूत्राज्, भाग १, प्रस्तावना, पृ० ३८, ३९

५ वही भाग १ प्रस्तावना, पृ० ९

पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाए तो सत्य एक ही है, सिद्धान्त एक ही है। नाना देश, काल और पुरुष की दृष्टि से उस सत्य का आविर्भाव नाना प्रकार से होता है, किन्तु उन आविर्भावो मे एक ही सनातन सत्य अनुस्यूत है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर जैनागम को अनादि एव अनन्त कहा जाता है।

नदीसूत्र मे कहा है कि—"द्वादशांगभूत गणिपिटक कभी नही था, ऐसा नही, कभी नही है, ऐसा भी नही, और कभी नही होगा, ऐसा भी नही। वह तो था, है, और होगा। वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है।"[1]

वृहत्कल्पभाष्य मे कहा गया है कि ऋषभादि तीर्थंकरो की शरीर-सपत्ति और वर्द्धमान की शरीर-सपत्ति में अत्यन्त वैलक्षण्य होने पर भी इन सभी के धृति, संघयण और शरीर-रचना का विचार किया जाए तथा उनकी आतरिक-योग्यता (केवलज्ञान) का विचार किया जाए तो उन सभी की योग्यता में कोई भेद न होने के कारण उनके उपदेश में भी कोई भेद नही हो सकता।[2]

सभी तीर्थंकरो के उपदेश की एकता का उदाहरण अगशास्त्र मे भी मिलता है। आचाराग सूत्र मे कहा गया है कि—"जो अरिहत पहिले हो गए है, जो अभी वर्तमान है और जो भविष्य में होगे, उन सभी का एक ही उपदेश है कि किसी भी प्राण, जीव, भूत और सत्त्व की हत्या मत करो, उनके ऊपर अपनी सत्ता मत जमाओ, उनको दास मत वनाओ और उनको मत सताओ। यही मार्ग ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और विवेकी पुरुषो द्वारा वताया हुआ है।"[3]

उपर्युक्त कथन से यह वात निर्विवाद सिद्ध है कि सत्य की जो अविच्छिन्न धारा अगणित काल से चली आ रही है, मध्य मे उत्पन्न होने वाले आदर्श महापुरुषो ने उसी धारा का अपनी अपनी दृष्टि से उद्धार एव सम्वर्द्धन किया है। सत्य का आविर्भाव किस रूप में

---

१ नदीसूत्र, ५७

२ वृहत्कल्प भाष्य, २०२, २०३

३ आचाराग १, ४, १२६

हुआ ? किसने किया ? कब किया ? और कैसे किया ? इत्यादि दृष्टि से विचार करने पर आगमो की सादिता एव सान्तता भी सिद्ध होती है। इस प्रकार उभय दृष्टि से विचार करने पर जैन अग पौरुषेयता और अपौरुषेयता के सुन्दर समन्वय प्रतीत होते है।

अंगशास्त्र का रचनाकाल

अगशास्त्र की रचना के सम्बन्ध मे एक परम्परागत सिद्धान्त यह है कि ये सभी अग प्रथम तीर्थंकर द्वारा ही रचे गए है, किन्तु आजकल वैज्ञानिक युग मे इस सिद्धान्त पर विश्वास नही किया जा सकता।

अगशास्त्र शब्दवाच्य कोई एक ग्रन्थ नही है, किन्तु अनेककर्तृक अनेक ग्रन्थो का समुदाय है, अतएव अगशास्त्र की रचना का कोई एक काल भी निश्चित नही किया जा सकता। भगवान् महावीर का उपदेश ५०० विक्रम पूर्व मे प्रारम्भ हुआ, अतएव उपलब्ध किसी अगशास्त्र की रचना का उससे पहिले होना सम्भव नही है। और उसके दूसरी ओर अन्तिम वाचना के आधार पर पुस्तक-लेखन, वलभी मे विक्रम सवत् ५१० (मतान्तर से ५२३) मे हुआ। अतएव तदन्तर्गत कोई शास्त्र विक्रम ५२५ के बाद का नही हो सकता। इस मर्यादा को ध्यान मे रखकर हमे सामान्यत अगशास्त्र की रचना के काल का विचार करना है।

अग ग्रन्थ गणधरकृत कहे जाते है, किन्तु उनमे सभी एक समान प्राचीन नही है। आचाराग के ही प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध भाव और भाषा मे भिन्न है, यह कोई भी कह सकता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध द्वितीय से ही नही, किन्तु समस्त जैन वाङ्मय मे सबसे प्राचीन अश है। उसमे परिवर्तन और परिवर्द्धन सर्वथा नही है, यह तो नही कहा जा सकता। किन्तु उसमे नवीन अश सबसे कम मिलाया गया है, यह तो निश्चयपूर्वक कहा ही जा सकता है। वह महावीर के साक्षात् उपदेश रूप न भी हो, तब भी उसके अत्यन्त निकट तो है ही। ऐसी स्थिति मे उसे हम विक्रम-पूर्व ३०० से बाद की सकलना नही कह सकते। अधिक सभव यही है कि वह प्रथम वाचना की सकलना है। आचाराग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध आचार्य भद्रबाहु के बाद की रचना होना चाहिए, क्योकि उसमे प्रथम श्रुतस्कन्ध की

अपेक्षा भिक्षुओ के नियमोपनियम के वर्णन मे विकसित भूमिका की सूचना मिलती है। इसे हम विक्रम-पूर्व दूसरी शताब्दी से इधर की रचना नही कह सकते। यही बात हम अन्य सभी अगो के विषय मे सामान्यत कह सकते है। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उनमें जो कुछ सकलित है वह इसी शताब्दी का है। वस्तु तो पुरानी है, वह गणधरो से परम्परा से चली ही आती थी। उसी को सकलित किया गया। इसका मतलव यह भी नही समझना चाहिए कि विक्रम-पूर्व दूसरी शताब्दी के वाद इसमे कुछ नया नही जोडा गया है। स्थानाग जैसे अग ग्रथो मे वीर निर्वाण की छठी शताब्दी की घटना का भी उल्लेख मिलता है। किन्तु ऐसे कुछ अशो को छोडकर वाकी सव भाव पुराने ही है। भाषा मे यत्र-तत्र काल की परिवर्तित होती हुई गति और प्राकृत भाषा के कारण भाषा-विकास के नियमानुसार परिवर्तन होना अनिवार्य है, क्योकि प्राचीन समय मे इसका पठन-पाठन लिखित ग्रन्थो से नही, किन्तु कठोपकठ से होता था। प्रश्नव्याकरणांग का वर्णन जैसा नदीसूत्र मे है, उसे देखते हुए उपलब्ध प्रश्नव्याकरण अग सपूर्ण ही वाद की रचना हो, ऐसा प्रतीत होता है। वालभी-वाचना के वाद कव यह अग नष्ट हो गया और कव उसके स्थान मे नया वनाकर जोडा गया, इसके जानने का हमारे पास कोई साधन नही है। इतना ही कहा जा सकता है कि अभयदेव की टीका, जो कि विक्रम १२ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे लिखी गई है, उससे पहिले ही वह कभी वन चुका था।[1]

डा० हरमन याकोवी ने भी अपने आचाराग सूत्र की प्रस्तावना मे विस्तार के साथ समस्त आगमो के रचनाकाल के सम्बन्ध मे विचार किया है। अगशास्त्र की भाषा, छन्द आदि के गहन अध्ययन के वाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि अगशास्त्र की रचना का काल ३०० ई० पू० के लगभग होना चाहिए, जव आगमो की प्रथम वाचना पाटलिपुत्र मे हुई थी।[2]

---

१ जैन आगम, पृ० २२, २३

२ जैनसूत्राज् भाग १, प्रस्तावना, पृ० ४३.

अंगशास्त्र की शैली एवं भाषा

शैली—गुरु-शिष्य के क्रम से आये हुए सूत्रो की भापा और शैली मे हजार–आठ सौ वर्प मे कुछ भी परिवर्तन न हो, यह सम्भव नही है। यद्यपि सूत्रो मे प्रयुक्त प्राकृत उस समय की सीधी-सादी लोकभापा थी, परन्तु समय के प्रवाह के साथ उसकी सुगमता ओझल होती गई और उसे समझने के लिए व्याकरण की आवश्यकता हुई। प्रारभ मे व्याकरण तत्कालीन भाषानुगामी वने, परन्तु पिछले समय मे ज्यो-ज्यो प्राकृत का स्वरूप अधिक मात्रा में वदलता गया त्यो-त्यो व्याकरण ने भी उसका अनुगमन किया। फल यह हुआ कि हमारी सौत्र-प्राकृत पर भी उसका असर पडे विना नही रहा। यही कारण है कि कुछ सूत्रो की भापा नवीन-सी प्रतीत होती है।

प्राचीन सूत्रो मे एक ही आलापक, सूत्र और वाक्य को वार-वार लिखकर पुनरुक्ति करने का एक साधारण नियम-सा था। यह उस समय की सर्वमान्य शैली थी। उस समय के वैदिक, वौद्ध और जैन ग्रन्थ इसी शैली मे लिखे हुए है। परन्तु जैन आगमो के पुस्तकारूढ होने के समय वह शैली कुछ अगों मे वदल कर सूत्रपाठ सक्षिप्त कर दिए गये और जिस विषय की चर्चा एक स्थल पर व्यवस्थित रूप मे हो चुकी थी उसे अन्य स्थल पर सक्षिप्त कर दिया गया। जिज्ञासुओ के लिए उसी स्थल पर सूचना भी कर दी गई कि यह विपय अमुक सूत्र अथवा स्थल पर देख लेना। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य वाते भी, जो उस समय तक शास्त्रीय मानी जाने लगी थी, उचित स्थान पर यादी के तौर पर लिख दी गई, जो आज तक उसी रूप मे दृष्टिगोचर होती है और अपने स्वरूप से ही वे नवीन प्रतीत होती है।[1]

अगशास्त्र मे, एक अग का दूसरे अग मे तथा प्रस्तुत अंग का प्रस्तुत अग मे ही वर्णन पाया जाता है, जैसे—समवायाग मे १२ अगो का वर्णन है, जिनमे समवायाग का भी वर्णन सम्मिलित है। अतकृद्-दशाग मे स्वय उसका वर्णन है।[2] यही क्रम अन्य अगो मे भी है।

---

१ श्रमण भगवान् महावीर, पृ० ३३२, ३३३

२ समवायाग सूत्र, १३६, तथा अन्तगडदशाओ, २७, पृ० ६४

इसका कारण आगमो की प्राचीन शैली है, जो कि वेदो मे भी पाई जाती है।

भाषा—अगशास्त्र की भाषा अर्द्धमागधी है। समवायाग, भगवती ओववाइय तथा पण्णवणा मे इस बात के स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् महावीर अपने सिद्धान्तो का प्रचार अर्द्धमागधी भाषा मे करते थे और वह भाषा सब जीवो को अपनी-अपनी भाषा मे परिणत हो जाती थी।[1]

स्थानाग सूत्र तथा अनुयोगद्वार मे इस भाषा को 'इसि-भासिया' (ऋषिभासिता) कहा गया है। इसी आधार पर हेमचन्द्राचार्य आदि ने इसका नाम 'आर्ष' रखा।[2] अत अर्धमागधी, ऋषिभाषिता तथा आर्ष—ये तीनो ही नाम एक ही भाषा के है। पहला नाम उत्पत्ति-स्थान (मगध) के कारण है तथा अन्य नाम उस भाषा को सर्व-प्रथम साहित्य मे स्थान प्रदान करने वाले ऋषियो से सम्बन्ध रखते है।

डा० हर्मन याकोबी ने जैनागम की भाषा को प्राचीन महाराष्ट्री कह कर 'जैन महाराष्ट्री' नाम दिया है, जिसका डा० पिशल ने अपने विख्यात प्राकृत-व्याकरण मे खण्डन करके सप्रमाण सिद्ध किया है कि अर्द्धमागधी मे बहुलता से ऐसी अनेक विशेषताएँ है, जो महा-राष्ट्री आदि किसी प्राकृत मे ढूढने से भी नही मिलती, इसलिए उपर्युक्त नाम नही दिया जा सकता। नाटको मे जो अर्द्धमागधी पाई जाती है उसमे और सूत्रो की अर्द्धमागधी मे समानता की अपेक्षा भेद ही अधिक है। भरत तथा मार्कण्डेय ने अर्द्धमागधी के भिन्न-भिन्न लक्षण बताये है।[3] ये लक्षण केवल नाटकीय अर्द्धमागधी के है। हेमचन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण मे अर्द्धमागधी को 'आर्ष प्राकृत' और अर्वाचीन रूप को 'महाराष्ट्री' माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि महाराष्ट्री से अर्द्धमागधी बहुत प्राचीन है। अथवा यो कहिए कि अर्द्धमागधी ही महाराष्ट्री का मूल है।[4]

---

१ समवायाग सूत्र, ३४ भगवती, ५ ४, पृ० २३१ ओववाइय, ५६. पण्णवणा, पृ० ५६, (आगमोदय-समिति)

२ हेमचन्द्राचार्य का प्राकृत व्याकरण, सूत्र १, ३

३ भरत नाट्यशास्त्र, १६ ४८, ५०.

४ इन्ट्रोडक्शन टू प्राकृत लक्षण आफ चड, पृ० १९, डा० हार्नली

वहुत से लोग अर्द्धमागधी की व्युत्पत्ति "अर्धं मागध्या" करके कहते है कि जिसका आधा अश मागधी भाषा हो वह अर्द्धमागधी है क्योकि नाटकीय अर्द्धमागधी मे मागधी के लक्षण वहुलता से पाए जाते है, इसलिए वह अर्द्धमागधी है। और जैन सूत्रो मे मागधी के लक्षण वहुत कम मिलते है, इसलिए वह अर्धमागधी नही है। परन्तु उनकी यह व्युत्पत्ति भ्रमात्मक एव असगत है। इसकी वास्तविक व्युत्पत्ति है—"अर्द्ध मगधस्येय" अर्थात् मगध देश के अर्धांश की जो भाषा हो वह अर्द्धमागधी है। इसकी उत्पत्ति पश्चिम मगध अथवा मगध और सूरसेन का मध्य-प्रदेश (अयोध्या आदि) होने पर भी इसमें मागधी और शौरसेनी के इतने लक्षण नही दिखते, जितने महाराष्ट्री के दिखते है। इसका कारण सभवत. श्रमणो का दुष्काल के कारण दक्षिण–गमन एव तद्देशीय भाषा का प्रभाव है।[1]

अंगशास्त्र की पदसंख्या

प्राचीन पद्धति के अनुसार जैन सूत्रों की पदसख्या निश्चित करके लिखी गई है। नंदी टीका तथा समवायाग सूत्र[2] के अनुसार जैनसूत्रो की पदसख्या निम्नप्रकार है .

	अंगशास्त्र	पदसंख्या
१	आचाराग	१८,०००
२.	सूत्रकृताग	३६,०००
३	स्थानांग	७२,०००
४	समवायाग	१,४४,०००
५	व्याख्या–प्रज्ञप्ति	२,८८,०००
६	ज्ञाताधर्म-कथाग	५,७६,०००
७	उपासकदशांग	११,५२-०००
८	अन्तकृद्दशाग	२३,०४,०००
९	अनुत्तरौपपातिकदशाग	४६,०८,०००
१०	प्रश्नव्याकरण	९२,१६,०००
११	विपाकसूत्र	१,८४,३२,०००

१ सुत्तागमे, पृ० १८, १९ (प्रस्तावना).

२. समवायाग, १३६–१४७.

यहा पर पद का अर्थ 'अर्थबोधक—शब्द' अथवा जिसके अन्त मे विभक्ति हो वह 'पद' किया गया है।[1]

अंगशास्त्र की टीकाएँ

अगशास्त्र की टीकाएँ प्राकृत और सस्कृत मे हुई है। प्राकृत टीकाएँ निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि के नाम से लिखी गई है। निर्युक्ति और भाष्य पद्यमय है और चूर्णि गद्यमय। उपलब्ध निर्युक्तियाँ भद्रवाहु द्वितीय की रचनाएँ है। उनका समय विक्रम पाचवी या छठी शताब्दी है। निर्युक्तियो मे भद्रवाहु ने अनेक प्रसगो पर दार्शनिक चर्चाएँ वडे मुन्दर ढग से की है।

किसी भी विषय की चर्चा का यदि अपने समय तक का पूर्ण-रूप देखना हो तो भाष्य देखने चाहिए। भाष्यकारो मे प्रसिद्ध सघदासगणी और जिनभद्र हैं। इनका समय सातवी शताब्दी है।

लगभग सातवी-आठवी शताब्दी की चूर्णियाँ मिलती हैं। चूर्णिकारो मे जिनदास अति प्रसिद्ध है। चूर्णियो मे भाष्य के ही विषय को सक्षेप मे गद्य मे लिखा गया है। अगशास्त्र की सवसे प्राचीन सस्कृत टीका आचार्य हरिभद्र ने की है। उनका समय विक्रम ७५७ से ८५७ के वीच का है। हरिभद्र ने प्राकृत चूर्णियो का प्राय. सस्कृत मे अनुवाद किया है।

हरिभद्र के वाद शीलाकसूरि ने दसवी शताब्दी मे सस्कृत-टीकाओ की रचना की। इसके वाद प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेव हुए, जिन्होने स्थानाग आदि नव अगो पर सस्कृत मे टीकाएँ रची। उनका जन्म विक्रम १०७२ मे और स्वर्गवास विक्रम ११३५ मे हुआ है।

सस्कृत-प्राकृत टीकाओ का परिमाण इतना वड़ा था और विषयो की चर्चा इतनी गहनतर होती गई कि वाद मे यह आवश्यक समझा गया कि आगमो का शब्दार्थ वताने वाली सक्षिप्त टीकाएँ की जाएँ। सस्कृत और प्राकृत वोलचाल की भाषा से हटकर मात्र साहित्यिक भाषा वन गई थी। अत. तत्कालीन अपभ्रंश अर्थात् प्राचीन गुजराती भाषा मे वालाववोधो की रचना हुई। इन्हे 'टवा' कहते हैं।[2]

---

१ सुप्तिङन्त पद —पाणिनीय, १. ४ १४

२ जैन आगम पृ० २६, २७

अंगशास्त्र का विषय तथा विवरण

आचारांग—आचाराग बारह अगो में सबसे प्रथम अग है। इसका दूसरा नाम 'सामायिक' भी है।[1] इसके दो श्रुतस्कन्ध है, जो कि शैली तथा विषय दोनो मे एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न है। प्रथम श्रुतस्कन्ध द्वितीय श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन मालूम पडता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध मे आठ अध्ययन तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध मे सत्तरह अध्ययन है। इसमे मुख्यतया श्रमण निर्ग्रन्थो के आचार का वर्णन किया गया है। भिक्षु को भिक्षा, शय्या, वस्त्र, पात्र आदि किस प्रकार, कितनी मात्रा मे, किन स्थानो से मागना चाहिए और किस प्रकार उपर्युक्त वस्तुओ का उपयोग करना चाहिए, भिक्षु को किस प्रकार गमन करना चाहिए, किस प्रकार की भाषा बोलना चाहिए, उसे कहाँ ठहरना चाहिए, कहाँ मल मूत्र त्याग करना चाहिए, आदि भिक्षु के आचार-सबधी समस्त प्रश्नो के उत्तर आचारांग मे समाविष्ट है।

आचार-वर्णन के अतिरिक्त भिक्षु के विचारो को प्रभावित करने के लिए आचारांग मे सुख-दु ख, हिंसा-अहिंसा, सम्यक्त्व-मिथ्यात्व आदि विषयो पर भी विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। इस प्रकार हम कह सकते है कि आचाराग भिक्षु के आचार तथा विचार का एक महाग्रन्थ है।

आचाराग की महत्ता का एक सबसे महान् कारण यह भी है कि आचाराग अगशास्त्रो मे सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है, अत इसमे सग्रह किए हुए महावीर के जीवन और तप का विवरण ऐतिहासिको के लिए बहुत ही उपयोगी तथा प्रामाणिक सिद्ध हुआ है। इसके आधार पर ही आज के युग मे जैनधर्म तथा महावीर की ऐतिहासिकता एव प्रामाणिकता प्रतिष्ठित हुई है।[2]

सूत्रकृतांग—सूत्रकृताग १२ अगो मे द्वितीय अग है। इसके दो श्रुतस्कन्ध तथा २३ अध्ययन है। इसमे सूत्र (सक्षिप्त) रूप मे कथन

---

१. अनगार धन्य, सामायिक आदि एकादश अगशास्त्रो का अध्ययन करने लगा। —अनुत्तरोपपातिकदशाग, ३

२ जैनसूत्राज भाग १, प्रस्तावना, पृ० ४७-५३, समवायाग सूत्र, १३६, नदीसूत्र, ४५

होने के कारण सम्भवत इस ग्रन्थ का नाम सूत्रकृताग रखा गया होगा।[1] यही कारण है कि इस अग के सम्बन्ध मे यह परम्परा रखी गई कि साधु-जीवन को स्वीकार करने के बाद चतुर्थ वर्ष मे इस अग का अध्ययन किया जाए।[2] सूत्रो के दुर्ज्ञेय होने के कारण बिना पूर्व शास्त्राभ्यास के इस ग्रन्थ का अध्ययन करना कठिन होता होगा।

इस अग मे नवदीक्षित श्रमणो को सयम मे स्थिर करने के लिए उपयोगी जैन सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। साथ मे तत्कालीन अन्य मतो का निराकरण करके स्वमत की स्थापना भी की गई है। इसमे भूतवादियो का निराकरण करके आत्मा का पृथक् अस्तित्व, ब्रह्मवाद के स्थान मे नानात्मवाद तथा जीव और शरीर को पृथक् बताकर कर्म और उसके फल की सत्ता सिद्ध की गई है। जगदुत्पत्ति के विषय मे नानावादो का निराकरण करके "विश्व को किसी ईश्वर ने नही बनाया, वह तो अनादि अनन्त है"–इस मत की स्थापना की गई है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का निराकरण करके सुसस्कृत क्रियावाद की स्थापना की गई है।[3]

समवायाग के अनुसार इस अंग में १८० क्रियावादियो के, ८४ अक्रियावादियो के, ६७ अज्ञानवादियो के तथा ३२ विनयवादियो के—इस प्रकार कुल ३६३ अन्य-दर्शनो के मतो का खण्डन कर जैन सिद्धान्त का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन नव पदार्थो की भी व्याख्या की गई है।[4] "प्राचीन भारत के तत्त्वज्ञान के अभ्यासी के लिए सूत्रकृताग मे वर्णित अजैन सिद्धान्त रोचक एव ज्ञानवर्द्धक होगे।"[5]

---

१ सूत्र का लक्षण "अल्पाक्षरमसदिग्ध सारवद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्य च सूत्र सूत्रविदो विदु॥"
—लघु कौ० फुट नोट पृ० १४

२ जैनसूत्राज् भाग २, प्रस्तावना, पृ० ३९, फुट नोट न० १

३ जैन आगम, पृ० २५, २६

४ समवायागसूत्र, १३७, तथा नदीसूत्र, ४६

५ आनन्दशङ्कर बापू भाई ध्रुव, सूत्रकृताग (हि०अ०) पृ० ३, (प्रस्तावना)

स्थानांग तथा समवायांग—अगशास्त्र मे स्थानाग तृतीय तथा समवायाग चतुर्थ अग है। इन दोनो अगो मे एक-एक श्रुतस्कन्ध है। स्थानाग मे १० अध्ययन और समवायाग मे १ अध्ययन है। दोनो अगो का वर्णन तथा वर्णनीय विषय प्राय एक ही प्रकार के है। इनकी रचना वौद्धो के अगुत्तरनिकाय के ढग की है।

स्थानाग मे पदार्थो के गुण, द्रव्य, क्षेत्र, काल, तथा पर्यायो की व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त पर्वत, नदी, समुद्र, सूर्य, भवन, विमान, निधि, पुरुषो के प्रकार, स्वर, ज्योतिष्सचार आदि का विस्तृत वर्णन भी इस अग में है। आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, नय, प्रमाण आदि दार्शनिक विषयो की चर्चा भी वहुत सुन्दर ढग से इस अग मे की गई है। भगवान् महावीर के शासन मे हुए ७ निह्नवो का वर्णन भी इसमे समाविष्ट है। ऐसे ७ व्यक्ति वताये गये है, जिन्होने महावीर के सिद्धान्तो की भिन्न-भिन्न वातो को लेकर अपना मतभेद प्रकट किया, वे ही निह्नव कहे जाते है।[1] एकरूप पदार्थो का वर्णन (एकविध वक्तव्य), दो रूप पदार्थो का वर्णन (द्विविध-वक्तव्य) और इसी प्रकार क्रम से एक-एक वढाते हुए १० रूप तक के पदार्थो का वर्णन इस अग की एक विशिष्ट शैली है।

समवायाग के वर्णन की शैली भी उपर्युक्त प्रकार की ही है। केवल अन्तर इतना है कि स्थानाग मे १० रूप तक के पदार्थो का वर्णन है, जव कि समवायाग मे १ से लेकर १–१ की वृद्धि करते हुए १०० रूप तक के पदार्थो का वर्णन है। तथा आगे अधिक वृद्धि करते हुए कोटि-कोटि रूप तक के पदार्थो का वर्णन है। स्थानाग का वर्णन कुछ विस्तृत है, किन्तु समवायांग का सक्षिप्त है। स्थानाग मे एक प्रकार के पदार्थो का वर्णन करने के लिए अनेक सूत्र है और समवायाग मे एक प्रकार के पदार्थो का वर्णन करने के लिए एक ही सूत्र है। इसमे जम्वूद्वीप, धातकीखड द्वीप, पुष्करार्ध द्वीप तथा पर्वतो के विस्तार, ऊँचाई तथा प्रकार आदि का वर्णन है। समवायाग मे १२ अगो के वर्णनीय विषयो की भी व्याख्या की गई है।[2]

---

१ स्थानाग ५८७

२ समवायाग, १३८-१३९, नन्दीसूत्र, ४७-४८

भगवतीसूत्र—इस अग का नाम 'भगवती-व्याख्या-प्रज्ञप्ति' है। सक्षेप मे इसे भगवतीसूत्र तथा व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र कहा जाता है। इसका अगशास्त्र मे पाचवा स्थान है। इसमे एक श्रुतस्कन्ध तथा १० अध्ययन है। वर्तमान मे इसमें ४१ शतक उपलब्ध होते हैं। इसकी रचना बौद्ध 'सुत्तपिटक' की तरह है। सुत्तपिटक मे महात्मा बुद्ध से पूछे गये प्रश्न तथा उनके द्वारा दिए गए उत्तर सगृहीत हैं, उसी प्रकार भगवती सूत्र मे भी महावीर से पूछे गए प्रश्न तथा उनके द्वारा दिए गए उत्तरो का सग्रह है।

तत्त्व ज्ञान के विषय मे सदिग्ध तत्कालीन देव, नरेन्द्र, राजर्षि तथा महर्षियो के द्वारा नव पदार्थ तथा उनके द्रव्य, गुण, क्षेत्र, काल, पर्याय, प्रदेश, परिणाम, यथास्तिभाव, अनुगम, निक्षेप, नय, प्रमाण आदि के सम्बन्ध मे महावीर से जो जो प्रश्न किए गए और महावीर ने उनके जो जो सयुक्तिक उत्तर दिए, उनका सग्रह इस अग में किया गया है।[1]

ज्ञाताधर्मकथा—यह धर्मकथा-प्रधान छठा अग है। इसमे कल्पित तथा अकल्पित दोनो ही प्रकार की कथाओ के आधार पर धर्म का उपदेश दिया गया है। ज्ञाताधर्मकथा मे दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के १९ अध्ययन तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १० वर्ग है। नन्दीसूत्र के अनुसार ज्ञाताधर्मकथा मे धर्मकथाओ के १० वर्ग है, जिनमे प्रत्येक धर्मकथा मे पाच-पाच सौ आख्यायिकाएँ है, एक-एक आख्यायिका मे पॉच-पॉच सौ उपाख्यायिकाएँ है, एक-एक उपाख्यायिका मे पॉच-पॉच सौ आख्यायिकोपाख्यायिकाएँ है। इस प्रकार कुल मिलाकर अध्युष्ट—साढ़े तीन करोड कथाएँ इस अग मे है।

ज्ञाताधर्मकथा मे ज्ञात अर्थात् उदाहरणभूत व्यक्तियो के नगर, उद्यान, वनखड चैत्य यक्षायतन, समवसरण-धर्मसभा, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इस लोक-परलोक सम्बन्धी ऋद्धिविशेष, भोग का त्याग, प्रव्रज्या, मुनिदीक्षा, पर्याय दीक्षा-समय, श्रुतग्रहण, तप-उपधान, सल्लेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोप-

---

१ समवायाग, १४०, नदीसूत्र, ४९.

गमन (टूटे हुए वृक्ष की तरह चेष्टारहित होकर अनशन करना), देवलोक-गमन, सुकुल में जन्म, प्रत्यागमन, सम्यक्त्वधर्म की प्राप्ति और अंतक्रिया (निर्वाण प्राप्ति) का वर्णन है।[1]

उपासकदशांग—यह सातवाँ अग है। इसमे श्रमणोपासको (साधुओ के सेवक श्रावको) के नगर-उद्यानादि, भोगो का परित्याग, श्रावक दीक्षा, श्रावक अवस्था का काल प्रमाण, श्रुतग्रहण, तप-उपधान, शीलव्रत, अणुव्रत, गुणव्रत, प्रतिमा, उपसर्ग (कष्ट), सल्लेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोकगमन, पुनः मनुष्य भव मे सुकुल की प्राप्ति, सम्यक्त्व धर्म की प्राप्ति और अन्तक्रिया आदि का वर्णन है। इस अग में एक श्रुतस्कन्ध तथा दस अध्ययन है।[2]

अन्तकृत्दशांग—यह आठवाँ अग है। इसमे अन्तकृत्—संसार का अन्त करने वाले मनुष्यो के नगरादि, भोगपरित्याग, प्रव्रज्या (मुनिदीक्षा), श्रुतग्रहण, तप-उपधान, सल्लेखना, अन्तक्रिया आदि का वर्णन है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध तथा आठ वर्ग हैं।[3]

अनुत्तरौपपातिकदशांग—यह नवा अग है। इसमें अनुत्तरौपपातिक—अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होने वाले जीवो के नगरादि तथा निर्वाण प्राप्ति का वर्णन है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध तथा तीन वर्ग है।[4]

प्रश्न-व्याकरणांग—यह दसवा अग है। इसमे एक श्रुतस्कन्ध तथा १० अध्ययन है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह-रूप आस्रवद्वारो तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-रूप संवर द्वारो का इसमें विस्तृत वर्णन है। नदीसूत्र तथा समवायाग के अनुसार इसमे उन प्रश्नो—विद्याओ (अगुष्ठप्रश्न, अगुष्ठविद्या, बाहुप्रश्न, आदर्शप्रश्न आदि) का वर्णन है, जो केवल जप-मात्र से पूछे गये, बिना पूछे गये तथा उभयरूप प्रश्नो के उत्तर देती है। इन

---

१ समवायाग, १४१, नदीसूत्र ५०

२ वही, १४२ तथा वही, ५१

३ वही, १४३ वही, ५२

४ वही, १४४ वही, ५३

विद्याओ के साथ नागकुमार, सुवर्णकुमार आदि के दिव्य सवाद भी इस अग मे वर्णित हैं।[1]

विपाकश्रुत—यह ११ वा अग है। इसमे शुभाशुभ कर्मों के फल-विपाक कहे गये है। फलविपाक २० है—१० दु खविपाक तथा १० सुखविपाक। दु खविपाक मे दु ख-विपाक के भोगने वाले पुरुपो के नगरोद्यानादि, इसलोक परलोक-ऋद्धि-विशेप, दुराचरण से नरकगमन ससार मे जन्म का विस्तार, दु ख की परम्परा, पुन. हीन-कुल मे उत्पत्ति और सम्यक्त्व धर्म की दुर्लभता आदि का वर्णन है। सुखविपाक मे सुखविपाक को भोगने वाले पुरुपो के नगरादि, भोगो का परित्याग, प्रव्रज्या, तप-उपधान, सल्लेखना, आहारत्याग, देवलोक-गमन, सुख-परम्परा, पुन उत्तम कुल मे जन्म, सम्यक्त्व-लाभ तथा निर्वाण-प्राप्ति का वर्णन है। इसमे दो श्रुतस्कन्ध तथा बीस अध्ययन है।[2]

दृष्टिवाद—यद्यपि परम्परानुसार यह अग पूर्ण रूप से लुप्त हो गया है, फिर भी इसके वर्णनीय विषय आदि के सम्बन्ध मे समवायाग तथा नदीसूत्र में उल्लेख मिलते हैं। यह १२ वां अग है। दृष्टिवाद के ५ भेद किए गए है—१. परिकर्म, २ सूत्र, ३ पूर्वगत, ४ अनुयोग, तथा ५ चूलिका। दृष्टिवाद के इन भेदो के भी अनेक प्रभेद है। दृष्टि का अर्थ है—"दर्शन"। इस अग मे प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन तथा उपदर्शन का विशेप रूप से वर्णन है। इसमे एक श्रुत-स्कन्ध तथा चौदह पूर्व है।[3]

---

१ समवायाग, १४५. तथा नदीसूत्र, ५४.

२ वही, १४६ वही ५५

३ वही, १४७ वही, ५६

द्वितीय अध्याय

आदर्श–महापुरुष

चौबीस तीर्थंकर

जैन-परम्परा के अनुसार इस दृश्यमान जगत् मे काल का चक्र सदा घूमता रहता है। यद्यपि काल का प्रवाह अनादि और अनन्त है, तथापि उस काल चक्र के छह विभाग है—१ सुसम-सुसमा (सुषम-सुषमा), २ सुसमा (सुषमा), ३ सुसम–दूसमा (सुषम-दु षमा), ४ दूसम-सुसमा (दु पम-सुषमा), ५ दूसमा (दु षमा), ६ दूसम-दूसमा (दु पम-दु पमा)।

जैसे चलती हुई गाडी के चक्र का प्रत्येक भाग नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे जाता है, वैसे ही ये छह भाग भी क्रमवार सदा घूमते रहते है, अर्थात् एक वार जगत सुख से दु ख की ओर जाता है और दूसरी वार दुःख से सुख की ओर वढता है। सुख से दु ख की ओर जाने को ओसप्पिणी (अवसर्पिणी) या अवनति काल कहते है, और दु ख मे सुख की ओर जाने को उस्सप्पिणी (उत्सर्पिणी) या विकास-काल कहते हैं।[1] इन दोनो कालो की अवधि लाखो करोडो वर्षो से भी अधिक है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के दु ख-सुख रूप भाग मे चौवीस तीर्थकरो का जन्म होता है, जो 'जिन' अवस्था को प्राप्त करके जैन-धर्म का उपदेश देते है। इस समय अवसर्पिणी काल चल रहा है। इस युग के चौवीस तीर्थकरो मे से भगवान् उसभ (ऋषभ) प्रथम तीर्थकर थे और भगवान् वद्धमाण (वर्द्धमान) अर्थात् महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे।[2] सम-

---

१ स्थानाग, सूत्र ५०.

२ समवायाग, सूत्र २३.

वायाग मे इन चौवीस तीर्थकरो को देवाहिदेव (देवाधिदेव) कहा गया है, क्योकि ये इन्द्रादि देवताओ के भी पूज्य है।[1]

भगवान् ऋषभ

भगवान् पार्श्वनाथ तथा भगवान् महावीर, ये दोनो ऐतिहासिक महापुरुष है, यह प्राय सभी आधुनिक पूर्वीय तथा पाश्चात्य विद्वान् स्वीकार कर चुके है।[2] भगवान् नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) तक भी इतिहास की कुछ किरणे पहुँच चुकी है, किन्तु भगवान् ऋषभ के वारे मे अभी तक कुछ भी सुनिश्चित रूप से ज्ञात नही है।

इस वात को तो प्राय सभी विद्वान स्वीकार करते है कि भगवान् ऋषभ जैनधर्म के सस्थापक थे। डा० याकोवी कहते हैं कि--इसमे कोई भी प्रमाण नही कि पार्श्वनाथ जैनधर्म के सस्थापक थे। जैन-परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैन धर्म का सस्थापक मानने मे एकमत है। इस मान्यता मे ऐतिहासिक सत्य की सम्भावना है।[3]

डा० याकोवी के इस मत से डा० सर राधाकृष्णन् भी सहमत है। उनका कहना है कि—जैन परम्परा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति होने का कथन करती है, जो वहुत-सी शताब्दियो पूर्व हुए थे। इस वात के प्रमाण पाए जाते है कि ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें कोई सदेह नही कि जैनधर्म वर्द्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहिले प्रचलित था। यजुर्वेद मे ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि—इन तीन तीर्थंकरो के नामो का निर्देश है। भागवत-पुराण भी इस वात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के सस्थापक थे।[4]

भागवत में ऋषभदेव

ब्राह्मण परम्परा और उसमे भी विशेष रूप से वैष्णव-परम्परा का वहुमान्य और सर्वत्र अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ भागवत है, जिसे भागवत-

---

१ समवायाग, सूत्र २४

२ जैनसूत्राज् भाग १, प्रस्तावना, पृ० १००

३ इण्डियन एण्टीक्वेरी, पुस्तक ९, पृ० १६३

४ इण्डियन फिलासफी, पुस्तक १, पृ० २८७

पुराण भी कहते है। इनमें ऋषभदेव का सुन्दर वर्णन है जो कि जैन-परम्परा के वर्णन से बहुत अशो मे मिलता है। उसमे लिखा है कि—"जव ब्रह्मा ने देखा कि मनुष्य सख्या नही बढी तो उसने स्वयभू मनु और सतरूपा को उत्पन्न किया। उनके प्रियव्रत नाम का लडका हुआ, प्रियव्रत का पुत्र अग्नीध्र हुआ, अग्नीध्र के घर नाभि ने जन्म लिया। नाभि ने मरुदेवी मे विवाह किया और उनमे ऋषभदेव हुए। ऋषभदेव ने इन्द्र के द्वारा दी गई जयन्ती नाम की भार्या से सौ पुत्र उत्पन्न किए और वडे पुत्र भरत का राज्याभिषेक करके सन्यास ले लिया। उस समय केवल शरीरमात्र उनके पास था और वे दिगम्वर वेश मे नग्न विचरण करते थे, मौन रहते थे, कोई डराए, मारे, ऊपर थूके, पत्थर फेंके, मूत्र-विष्टा फेके, तो इन सवकी ओर ध्यान नही देते थे। यह शरीर असत् पदार्थो का घर है, ऐसा समझकर अहकार-ममकार का त्याग करके अकेले भ्रमण करते थे। उनका कामदेव के समान सुन्दर शरीर मलिन हो गया था। उनका क्रिया-कर्म वडा भयानक हो गया था। शरीरादिक का सुख छोडकर उन्होने "आजगर" व्रत ले लिया था। इस प्रकार कैवल्यपति भगवान् ऋषभदेव निरन्तर परम आनन्द का अनुभव करते हुए भ्रमण करते-करते कोक, वैक, कुटक, दक्षिण कर्नाटक देशो मे अपनी इच्छा मे पहुँचे, और कुटिकाचल पर्वत के उपवन में उन्मत्त के समान नग्न होकर विचरने लगे। जगल मे वाँसो की रगड से आग लग गई ओर उन्होने उसी मे प्रवेश करके अपने को भस्म कर दिया।"[1]

इस तरह ऋषभदेव का वर्णन करके भागवतकार आगे लिखते हैं कि—"इन ऋषभदेव के चरित्र को सुनकर कोक, वैक, कुटक देशो का राजा अर्हन् उन्ही के उपदेश को लेकर कलियुग मे जव अधर्म वहुत हो जाएगा तव स्वधर्म को छोडकर कुपथ पाखड (जैनधर्म) का प्रवर्त्तन करेगा। तुच्छ मनुष्य माया मे विमोहित होकर, शौच आचार को छोडकर ईश्वर की अवज्ञा करने वाले व्रत धारण करेगे। न स्नान, न आचमन। ब्रह्म, ब्राह्मण, यज्ञ सवके निदक ऐसे पुरुष होगे, जो वेद विरुद्ध आचरण करके नरक मे गिरेगे।

---

१ श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५, अध्याय २

यह ऋषभावतार रजोगुण से व्याप्त मनुष्यो को मोक्षमार्ग सिखलाने के लिए हुआ।"[1]

श्रीमद्भागवत के उक्त कथन मे से यदि उस अंग को निकाल दिया जाए, जो कि धार्मिक विरोध के कारण लिखा गया है तो उससे वरावर यह ध्वनित होता है कि ऋषभदेव ने ही जैन-धर्म का उपदेश दिया था। क्योकि जैन तीर्थकर ही केवल-ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर "जिन", "अर्हत्" आदि नामो से पुकारे जाते है और उसी अवस्था मे वे धर्मोपदेश करते है जो कि उनकी उस अवस्था के नाम पर जैनधर्म या आर्हत-धर्म कहलाता है।

श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव के द्वारा उनके पुत्रो को जो उपदेश दिया गया है वह भी वहुत अशो मे जैन धर्म के अनुकूल ही है, उसका सार निम्न प्रकार है :—

१ हे पुत्रो! मनुष्यलोक मे शरीरधारियो के वीच मे यह शरीर कष्टदायक है, भोगने योग्य नही है। अत. दिव्य तप करो, जिससे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।

२ जो कोई मेरे से प्रीति करता है, विषयी जनो से, स्त्री से, पुत्र से और मित्र से प्रीति नही करता, तथा लोक मे प्रयोजन मात्र आसक्ति करता है वह समदर्शी, प्रशान्त और साधु है।

३ जो इन्द्रियो की तृप्ति के लिए परिश्रम करता है, उसे हम अच्छा नही मानते, क्योकि यह शरीर भी आत्मा को क्लेशदायी है।

४ जव तक साधु आत्मतत्त्व को नही जानता, तव तक वह अज्ञानी है। जव तक यह जीव कर्मकाण्ड करता रहता है तव तक सव कर्मो का, शरीर और मन द्वारा आत्मा से वन्ध होता रहता है।

५ गुणो के अनुसार चेष्टा न होने से विद्वान् प्रमादी हो, अज्ञानी वनकर, मैथुन-सुख-प्रधान घर में वस कर अनेक सतापो को प्राप्त होता है।

६ पुरुष का स्त्री के प्रति जो कामभाव है, यही हृदय की ग्रन्थि है। इसी से जीव को घर, खेत, पुत्र, कुटुम्व और धन से मोह होता है।

---

१. श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५, अध्याय ६

७ जब हृदय की ग्रन्थि को बनाए रखने वाले मन का बन्धन शिथिल हो जाता है, तब यह जीव ससार से छूटता है और मुक्त होकर परमलोक को प्राप्त होता है।

८ जब वह सार-असार का भेद कराने वाली व अज्ञानान्धकार का नाश करने वाली मेरी भक्ति करता है और तृष्णा, सुख-दु.ख का त्याग कर तत्त्व को जानने की इच्छा करता है, तथा तप के द्वारा सब प्रकार की चेष्टाओ की निवृत्ति करता है, तब मुक्त होता है।

६. जीवो की जो विषयों की चाह है, वही अन्धकूप के समान नरक मे जीव को पटकती है।

१० अत्यन्त कामना वाला तथा नष्टदृष्टि वाला यह जगत अपने कल्याण के हेतुओ को नही जानता है।

११ जो कुबुद्धि सुमार्ग छोड़ कुमार्ग में चलता है, उसे दयालु विद्वान् कुमार्ग में कभी भी नही चलने देता।

१२. हे पुत्रो! सब स्थावर-जगम जीवमात्र को मेरे ही समान समझ कर भावना करना योग्य है।

ये सभी उपदेश जैनधर्म के अनुसार है। इनमे न० ४ का उपदेश, तो विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, जो कर्मकाण्ड को बन्ध का कारण बतलाता है। जैनधर्म के अनुसार मन, वचन और काय का निरोध किए बिना कर्मबन्धन से छुटकारा नही मिल सकता। किन्तु वैदिक धर्मों में यह बात नही पाई जाती। शरीर के प्रति निर्ममत्त्व होना, तत्त्वज्ञानपूर्वक तप करना, जीवमात्र को अपने समान समझना, कामवासना के फन्दे में न फँसना, ये सब तो वस्तुत: जैनधर्म ही है। अत श्रीमद्भागवत के अनुसार जैनधर्म का उद्गम श्री ऋषभदेव से हुआ, ऐसा स्पष्ट ध्वनित होता है।[1]

भगवान् ऋषभ द्वारा अपने पुत्रो को उपदेश देने का प्रसग अग-शास्त्र में भी है। सूत्रकृताग का द्वितीय अध्ययन (प्रथम श्रुतस्कन्ध) इसी उपदेश से भरा है। भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्र थे, जिनमे भरत सबसे ज्येष्ठ थे। भरत ने राज्य-प्राप्ति के बाद अपने निन्यानवे

---

१. जैनधर्म, पृ० ६–७

भाइयो को सन्ताप दिया। अपने वड़े भाई से दुखी होकर वे सभी अपने पिता भगवान् ऋषभ के निकट पहुँचे, जो कि अष्टापद पर्वत पर स्थित थे और जिन्हे दिव्यज्ञान उत्पन्न हो गया था। पुत्रो ने कहा कि हे भगवन्! भरत हम लोगो से अपनी आज्ञा पालन कराना चाहता है, हमें क्या करना चाहिए? तव भगवान् आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को अग्नि का दृष्टान्त देकर यह उपदेश किया कि जैसे काष्ठ से अग्नि की तृप्ति नही होती है उसी प्रकार विपयो का भोग करने से मनुष्य की इच्छानिवृत्ति नही होती है। भगवान् के इस उपदेश का वर्णन सूत्रकृताग में है।[1] इसके पश्चात् श्री ऋपभदेव का उपदेश सुनकर उनके निन्यानवे पुत्रो ने ससार को असार, विपयो को कटुफलवाले एव सार रहित आयु को मतवाले हाथी के कान के समान चचल तथा युवावस्था को पहाडी नदी के समान अस्थिर जानकर भगवान् की आज्ञा पालन करने में हो कल्याण है—यह समझ कर उनके पास प्रव्रज्या ग्रहण की।[2]

भगवान् ऋपभ अपने पूर्वजन्म मे चक्रवर्ती राजा थे।[3] उनके जीवन के सम्वन्ध में कल्पसूत्र मे निम्न प्रकार का उल्लेख मिलता है। भगवान् ऋषभ प्रथम जिन, तथा प्रथम तीर्थंकर थे। उनका जन्म अगणित वर्प पूर्व उस अत्यन्त प्राचीन समय में हुआ था, जव कि लोग विल्कुल अशिक्षित तथा जीवन की कलाओ से पूर्ण अनभिज्ञ थे। वे कोशली कहलाते थे, क्योकि उनका जन्म कोशल अर्थात् अयोध्या मे हुआ था।

आसाढ कृष्णा चतुर्थी को स्वर्ग से पृथ्वी पर उनका अवतरण हुआ। उनके पिता का नाम नाभि और माता का नाम मरुदेवी था। उनका जन्मस्थान इक्ष्वाकु-भूमि (अयोध्या) था। भगवान ऋषभ के पिता कुलकर थे, क्योकि वे ही सवसे प्रथम कुल अर्थात् वंश के

---

१ सूत्रकृताग, भाग १, प्रथम श्रुतस्कन्ध, द्वितीय अध्ययन

२ वही भाग १, प्रथम श्रुतस्कन्ध, द्वितीय अध्ययन की भूमिका.
—(टीकाकार शीलाकाचार्य)

३ समवायाग, सूत्र २३।

प्रवर्त्तक थे। चैत्र कृष्णा अष्टमी को भगवान् का जन्म हुआ। वे काश्यप गोत्र के थे। भगवान् ऋषभ प्रथम राजा, प्रथम श्रमण, प्रथम जिन तथा प्रथम तीर्थंकर थे। वे चौरासी लाख-वर्ष तक इस पृथ्वी पर रहे, जिसमे वीस लाख-वर्ष राजकुमार अवस्था मे, त्रेसठ लाख-वर्ष राजा के रूप में, एक हजार वर्ष तपस्वी के रूप मे, निन्यानवे हजार वर्ष केवली के रूप मे रहे। उनका ८३ लाख-वर्ष गृहस्थ-अवस्था का और १ लाख-वर्ष श्रमण अवस्था का काल है।

भगवान् ऋषभ ने अपने ६३ लाख-वर्षो के राज्य-काल मे मानव जाति के हित के लिए अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओ का प्रणयन, सम्वर्द्धन एव शिक्षण किया। उन्होने मनुष्यो को लेखन, गणित, ज्योतिष आदि ७२ प्रकार के विज्ञान, नृत्य, गायन, वादन आदि ६४ प्रकार की स्त्रियोपयोगी कलाओ, मिट्टी के वर्तन वनाना, लोहा, सोना, चाँदी आदि धातुओ के काम, रँगाई, वुनाई तथा नाई के काम आदि १०० प्रकार की मानवीय कलाओ तथा कृषि, वाणिज्य आदि व्यवसायो की शिक्षा दी। अन्त मे अपने सौ पुत्रो का राज्याभिषेक कर उन्हे पृथक् पृथक् राज्य अर्पण किया।

भगवान् ऋषभ मनुष्य जाति को ससार मे प्रविष्ट होने की शिक्षा देने के लिए ही नही आए थे, किन्तु ससार मे प्रविष्ट जनो को उससे निकलने का मार्ग वताने का उत्तरदायित्व भी उन्ही के ऊपर था। अत. गृहस्थजीवन मे जनकल्याण मे व्यस्त भगवान् ऋषभ को लौकान्तिक जाति के देवताओ ने सम्वोधित किया और उन्हे वास्तविक आत्मकल्याण तथा जनकल्याण करने का मार्ग वताया।[1] वे गृहस्थ जीवन से ऊव उठे और चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन सुदर्शना नामक शिविका पर आरोहण करके सिद्धार्थ वन नामक उपवन मे गये, जहाँ अशोक वृक्ष के नीचे उन्होने चार मुट्ठियों से अपने केशो को उखाडा। अढाई दिन का निर्जल उपवास कर

---

१ तीर्थंकरो को जनकल्याण के लिए प्रेरित करने एव उनका निष्क्रमण तथा तप-कल्याणक मनाने के लिए लौकान्तिक देव, स्वर्गलोक से मनुष्य लोक पर आते हैं।

—उत्तराध्यन, २२, रथनेमीय, पृ० २३५ तथा आचाराग २—१५

चार हजार प्रशस्त, उच्च कुलीन मनुष्यो के साथ अनगार अवस्था को प्राप्त किया ।

एक हजार वर्ष के निरन्तर तपश्चरण एव अध्यात्म चिन्तन के वाद उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हुआ । इसके वाद ९९ हजार वर्षो तक वे प्राणिमात्र को आत्म-कल्याण का मार्ग वताने मे व्यस्त रहे। अवसर्पिणी काल के सुपम-सुषमा विभाग के समाप्त होने मे जव तीन वर्ष, साढे आठ माह रह गये तव भगवान् ऋषभ ने माघ कृष्णा त्रयोदशी के दिन अष्टापद (कैलाश) पर्वत के शिखर पर दस हजार साधुओ के साथ निर्वाण प्राप्त किया ।

भगवान् ऋषभ के ८४ गण तथा ८४ गणधर थे । उनके सघ मे ८४ हजार श्रमण, तीन लाख भिक्षुणी, तीन लाख पाँच हजार उपासक, पाँच लाख चऊअन हजार उपासिकाएँ, तथा अनेक चऊदह-पूर्वधारी, अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी, केवलज्ञानी, ऋद्धिधारी आदि साधु थे । भगवान् ऋषभ को मुक्ति-लाभ किए ४२००२ वर्ष ८॥ माह कम एक कोटाकोटि सागरोपम व्यतीत हो चुका है ।[1]

उत्तराध्ययन मे केशिमुनि तथा गौतम मुनि के सम्वाद के समय ऋषभ तथा महावीर के समय की तुलना की गई है । उसमे कहा गया है कि प्रथम तीर्थंकर के समय मे मनुष्य बुद्धि मे जड होने पर भी प्रकृति के सरल थे, किन्तु अन्तिम तीर्थंकर के समय के मनुष्य जड तथा प्रकृति के कुटिल है । ऋषभ प्रभु के अनुयायी पुरुषो को धर्म समझना कठिन होता था, परन्तु समझने के वाद उसे धारण करने मे समर्थ होने के कारण वे भवसागर पार उतर जाया करते थे, किन्तु अन्तिम तीर्थंकर के अनुयायियो को धर्म समझना सरल है, परन्तु उनसे धर्म का पालन करवाना कठिन है ।[2]

अन्य तीर्थंकर

भगवान् ऋषभ के निर्वाण के वाद उनके द्वारा दिखाए हुए मार्ग पर आत्मकल्याण तथा जनकल्याण करने का कार्य अन्य २३ तीर्थंकरो ने किया । उनमे से २० तीर्थंकरो के वारे मे किसी प्रकार की

---

१ जैन सूत्राज् भाग १ (कल्पसूत्र), पृ० २८१-२८५

२ उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन २३ , पृ० २५३

विशिष्ट सामग्री उपलब्ध नही है, जो कि उनके जीवन पर प्रकाश डाल सके। कल्पसूत्र मे उन सभी के नाम तथा एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर के निर्वाण-काल का अन्तर दिया गया है। अन्य २३ तीर्थंकरो के नाम निम्न प्रकार है —

१ अजित, २ सम्भव, ३ अभिणदण (अभिनन्दन), ४ सुमइ (सुमति), ५ पउमप्पह (पद्मप्रभ), ६ सुपास (सुपार्श्व) ७ चन्दप्पह (चन्द्रप्रभ), ८ सुविधि, ९ सीअल (शीतल), १० सिज्जस (श्रेयास), ११ वासुपुज्ज (वासुपूज्य), १२ विमल, १३ अणत (अनन्त), १४ धम्म (धर्म), १५ सन्ति (शान्ति), १६ कुन्थ (कुन्थु), १७. अर (अरह), १८ मल्ली, १९ मुणिसुव्वय (मुनिसुव्रत), २० नमि, २१ नेमि, २२ पास (पार्श्व), २३ वद्धमाण (वर्द्धमान)।[1]

"नायाधम्मकहाओ" मे उन्नीसवे तीर्थंकर मल्ली के जीवन का कुछ विवरण मिलता है। मल्ली के पिता का नाम कुम्भक और माता का नाम प्रभावती था। मल्ली को छोड वाकी २३ तीर्थंकर पुरुष थे, केवल मल्ली स्त्री थी। वह जन्म से ही अत्यन्त रूपवती थी। उसके नयन अधिक रमणीय, ओष्ठ विम्वफल के समान सुन्दर, दात की पक्ति अत्यन्त श्वेत, कमल की तरह सुन्दर और कोमल अग तथा पूर्ण विकसित कमल के समान सुगन्धित नि श्वास था।

वचपन पार कर जव राजकुमारी ने अपनी यौवनावस्था मे प्रवेश किया तो उनके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर छह राजा मल्ली को प्राप्त करने की कामना करने लगे। जव वह सौ वर्ष में कुछ कम थी तव उसने अवधिज्ञान से उन छहो राजाओ को जान लिया। राजकुमारी मल्ली ने महल मे अपने प्रतिरूप एक सुवर्ण प्रतिमा का निर्माण कराया, जिसमे ऊपर की ओर एक ढक्कन रखा। वह प्रतिदिन ढक्कन उठाकर भोजन का एक ग्रास उसमे डाल दिया करती थी। एक दिन राजकुमारी ने छहो राजाओ को अपने घर पर निमन्त्रित किया।

अवसर पाकर राजकुमारी ने राजाओ के समक्ष अपने प्रतिरूप उस सुन्दर सुवर्ण प्रतिमा का, जिसमे त्र ऊपर का ढक्कन उठाकर

---

१ समवायाग, सूत्र न० २४।

प्रतिदिन अपने सुस्वादु भोजन का एक एक ग्रास डाल दिया करती थी, ढक्कन ऊपर उठाया। ढक्कन उठाना था कि दुर्गन्ध का ज्वार-सा आ गया, मारे दुर्गन्ध के राजाओ की नाक फटने लगी, दम घुटने लगा और उन्होने उत्तरीय वस्त्रो से अपने अपने मुह आच्छादित कर लिए।

तदनन्तर राजकुमारी जितशत्रु प्रमुख उन सभी राजाओ से इस प्रकार बोली कि "हे देवानुप्रियो, इस रमणीय सुवर्ण प्रतिमा मे मनोज्ञ भोजन के एक एक ग्रास को प्रतिदिन डाल देने पर इस प्रकार अशुभ पौद्गलिक एव दुर्गन्ध रूप परिणमन हुआ तो इस औदारिक (स्थूल) शरीर का, जो कि वात, पित्त, कफ, शोणित, पूय, मूत्र, पुरीप आदि से परिपूर्ण एव सडने और गलने के स्वभाव वाला है, अतिम परिणाम क्या होगा ? अत. हे देवानुप्रियो, आप लोग इन मानवीय कामभोगो मे अनुरक्त, गृद्ध एवं लुब्ध मत होओ।"

इसके बाद मल्ली ने दीक्षा ग्रहण करने का विचार किया। देवराज शक्र तथा राजा कुम्भक ने मल्ली को सिहासन पर विठाया, सोने के एक हजार आठ कलशों से अभिपेक किया। इसके बाद उन्हे शिविका पर विठाया गया। देवता लोगो ने शिविका को कन्धे पर उठाया और मल्ली ने सहस्राम्रवन मे जाकर दीक्षा धारण की। दीक्षाधारण के साथ ही मल्ली को मन पर्ययज्ञान हुआ। दीक्षा के दिन ही अर्धरात्रि के समय शुभ परिणाम एव प्रशस्त लेश्या के द्वारा तदावरण कर्मो का नाश कर अपूर्वकरण गुणस्थान मे प्रवेश करके मल्ली ने केवलज्ञान तथा केवलदर्शन प्राप्त किया।

मल्ली ने सहस्राम्रवन मे निकल कर बाहर भ्रमण करना प्रारम्भ किया और लोगो को आत्मोन्नति का मार्ग बताया। आर्यिका मल्ली के २८ गण तथा भिक्षुकप्रमुख २८ गणधर थे। उनके सघ मे ४८ हजार श्रमण, ५५ हजार आर्यिका, १ लाख ८४ हजार श्रावक, ३ लाख ६५ हजार श्राविकाएँ तथा अनेक पूर्वज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी तथा केवलज्ञानी शिष्य थे। अन्त मे अवशिष्ट कर्मो का नाश कर मल्ली ने निर्वाण पाया।[1]

---

१ नायाधम्मकहाओ, आठवा अध्ययन पृ० ९०

प्रथम २२ तीर्थकरो के सम्बन्ध मे ऐसी किसी भी प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नही है जिसमे कि उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता स्थापित की जा सके। इन सभी तीर्थकरो में इक्ष्वाकु-वश मे सम्बन्ध रखने वाले तीर्थकर अधिक है। इनमें से प्राय' अधिको ने सम्मेय (सम्मेत) पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया है। उनके जीवनकाल की लम्बी अवधि तथा एक तीर्थकर से दूसरे तीर्थकर के बीच के अतराल पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये पौराणिक पुरुष २४ बुद्धो के सख्या की समानता मिलाने के लिए ही स्थापित किए गए है।[१]

सभी तीर्थकरो को मुक्ति लाभ किए आज से निम्नाकित समय व्यतीत हो चुका है —

१	नमि,	५ ८४ ९८९ वर्ष		
२	मुनिसुव्रत,	११ ८४ ९८० वर्ष		
३	मल्ली,	६५ ८४ ९८० वर्ष		
४	अरह,	१ ०० ०० ००० वर्ष		(मल्ली के मुक्ति लाभ से पूर्व)
५	कुन्थु,	पल्योपम का एक चौथाई		,, ,, ,,
६	शान्ति,	,, ,, तीन	,,	,, ,, ,,
७	धर्म,	तीन सागरोपम		,, ,, ,,
८	अनन्त,	सात	,,	,, ,, ,,
९	विमल,	सोलह	,,	,, ,, ,,
१०	वासुपूज्य,	चालीस	,,	,, ,, ,,
११	श्रेयास,	सौ	,,	,, ,, ,,
१२	शीतल,	एक करोड	,,	(४२,००३ वर्ष ८॥ माह कम, महावीर के मुक्ति लाभ से पूर्व)
१३	सुविधि,	दस करोड	,,	(शीतल के मुक्ति लाभ से पूर्व)
१४	चन्द्रप्रभ,	सौ ,,	,,	,, ,, ,,
१५	सुपार्श्व,	एक हजार	,,	,, ,, ,,
१६	पद्मप्रभ,	दस ,,	,,	,, ,, ,,
१७	सुमति,	एक लाख,,	,,	,, ,, ,,
१८	अभिनदन,	दस लाख,,	,,	,, ,, ,,

१ ला० इन० ए० इ०, पृ० १९

१९ सम्भव, वीस लाख ,, ,, (शीतल के मुक्ति लाभ से पूर्व)
२० अजित, पचास ,, ,, ,, ,, ,, ,,

भगवान् अरिष्टनेमि

अन्य पूर्ववर्ती २१ तीर्थकरो की तरह २२ वे तीर्थकर अरिष्टनेमि के जीवन के सम्बन्ध में भी वहुत कम सामग्री उपलब्ध है। ये वासु-देव कृष्ण के चचेरे भाई थे। इनके नाम का उल्लेख यजुर्वेद मे भी मिलता है।[2] कल्पसूत्र मे अर्हत् अरिष्टनेमि के जीवन का एक अध्याय है, उसके अनुसार उनके पिता का नाम समुद्रविजय तथा माता का नाम शिवा था। उनका जन्मस्थान सौरीपुर (शौर्यपुर) था। कार्तिक कृष्णा द्वादशी को अपराजित विमान से अवतरित होकर वे माता के गर्भ मे आए और श्रावण शुक्ला पचमी के दिन उन्होने पृथ्वी पर जन्म लिया। उनकी माता ने गर्भकाल मे स्वप्न मे चक्र की नेमि देखी थी अत. उनका नाम नेमि या अरिष्टनेमि रखा गया।

श्रावण शुक्ला षष्ठी को उत्तर-कुरु नामक शिविका पर आरो-हण करके भगवान् द्वारावति (द्वारिकापुरी) होते हुए सीधे रैवतक नामक उपवन मे पहुँचे जहाँ पर उन्होने पचमुष्टि केशलोच किया। तदनतर ढाई दिन का निर्जल उपवास कर हजारो मनुष्यो के साथ अवशिष्ट केशो का लुञ्चन करके उन्होने अनगार अवस्था को धारण किया।[3]

अर्हत् अरिष्टनेमि लगातार ५४ दिनो तक शरीर की कुछ भी परवाह किए विना तपश्चरण मे मग्न रहे। ५५वे दिन आश्विन कृष्णा अमावस्या को गिरनार पर्वत की चोटी पर वेतस वृक्ष के नीचे उन्हे सम्पूर्ण, प्रतिपूर्ण, निरावरण, अव्याहत केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

---

१ जैन सूत्राज् भाग १ (कल्पसूत्र, एपाक्स आफ् दी इण्टरमीडियट तीर्थंकराज्) पृ० २८०

२ जैन दर्शन, पृ० ६ तथा इडियन फिलासफी, पुस्तक १, पृ० २८७

३ तुलना, महाभारत—युगे युगे महापुण्य दृश्यते द्वारिकापुरी,
अवतीर्णो हरिर्यत्र प्रभासशशिभूपण ।
रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले,
ऋपीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥

अर्हत् अरिष्टनेमि के १८ गण और १८ गणधर थे। उनके सघ मे १८ हजार श्रमण, ४० हजार आर्यिका, १ लाख ६९ हजार उपासक, ३ लाख ३६ हजार उपासिकाएँ तथा अनेक १४ पूर्वज्ञान के धारी, अवधिज्ञानी, मन.पर्ययज्ञानी, केवलज्ञानी, ऋद्धिधारी एव चरमशरीरी साधु, उपाध्याय तथा आचार्य थे। भगवान् अरिष्टनेमि का जीवन-काल एक हजार वर्ष का था, जिसमे वे तीन-सौ वर्ष राजकुमार अवस्था मे, ५४ दिन तपस्या में मग्न, और कुछ कम ७०० वर्ष केवली अवस्था मे रहे।

अवसर्पिणी काल के दुष्षम-सुषमा काल का अधिक भाग व्यतीत हो चुकने पर आषाढ शुक्ला अष्टमी के दिन एक माह का निर्जल उपवास करके गिरनार की चोटी पर ५५६ साधुओ के साथ भगवान् अरिष्टनेमि का निर्वाण हुआ। तव से ८४ हजार ९७९ वर्ष व्यतीत हो चुके है।[1]

उत्तराध्ययन में "रथनेमीय" नाम का एक प्रकरण है जिसमें भगवान् अरिष्टनेमि के जीवन की उस महान् घटना पर प्रकाश डाला गया है जिसने, उनके जीवन मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया और जिसके कारण वे सासारिक मोह-माया को त्याग कर मुक्तिपथ के पथिक वने।

रथनेमि अरिष्टनेमि के सहोदर लघु भ्राता थे। यह प्रकरण उन्ही के नाम से है क्योकि इसमे मुख्य रूप से उनके जीवन की उस घटना का चित्र उपस्थित किया गया है, जिसमे वे साधुजीवन स्वीकार कर लेने के वाद भिक्षुणी राजीमती (जिनके साथ भगवान् अरिष्टनेमि का विवाह-सम्वन्ध निश्चित हुआ था) को देखकर साधुत्व से च्युत होने लगते है किन्तु भिक्षुणी द्वारा उपदेश दिए जाने पर पुन साधुत्व में स्थिर हो जाते है।

यद्यपि अरिष्टनेमि वाल्यकाल से ही सुसस्कारी थे। गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने की उनकी लेशमात्र भी इच्छा नही थी। वे तो वैराग्य मे डूबे हुए थे, किन्तु अपने चचेरे भाई महाराज कृष्ण के

---

१ जैन सूत्राज्, भाग १ (कल्पसूत्र, लाइफ आफ अरिष्टनेमि) पृ० २७६–२७९

अति आग्रहवश, उनका विवाह सम्बन्ध जूनागढ के महाराज उग्रसेन की सुशीला, सुनयना सुपुत्री राजीमती के साथ निश्चित हुआ।

भरपूर ठाटवाट के साथ समस्त यादवकुल सहित कुमार अपने विवाह के लिए चल पडे। उनके श्वसुर ने मासाहारी अतिथियो के सत्कार के लिए कुछ पशुओ को अपने घर के निकट एक वाडे मे वद कर रखा था। जव वारात उस वाडे के निकट पहुँची तो कुमार ने भय से पीडित एव चीखते-चिल्लाते हुए उन पशुओ को दखकर सारथि से पूछा कि ये इतने पशु इस तरह क्यो रोके गए है। अरिष्ट-नेमि को यह जानकर अत्यन्त दु ख हुआ कि मेरे विवाह मे अतिथियो के सत्कारार्थ इन पशुओ का वध किया जाने वाला है। वे वोले कि यदि मेरे विवाह के निमित्त इतने पशुओ का जोवन संकट में है तो धिक्कार है ऐसे विवाह को, अव मै विवाह नही करूँगा। वे तत्क्षण रथ से नीचे उतर पडे और मुकुट तथा कगन को फेक कर वन की ओर चल दिए। वारात मे इस समाचार के फैलते ही कुहराम मच गया। जूनागढ के अन्त पुर मे जव राजीमती को यह समाचार मिला तो वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। वहुत से लोग नेमिनाथ को लौटाने के लिए दौडे, किन्तु व्यर्थ। वे पास ही मे स्थित गिरनार पर्वत पर चढ गए और सहस्राम्रवन मे दिगम्वर हो आत्मध्यान मे लीन हो गए।

होश आने पर राजीमती ने सोचा कि राजकुमार ने मुझे त्याग दिया, राजपाट तथा ऐश्वर्य सुख छोड कर उन्होने दीक्षा धारण की और वे योगी वन गए किन्तु मैं अभी तक घर मे ही हूँ। मेरे जोवन को धिक्कार है, मुझे भी दीक्षा लेनी चाहिए, इसी मे मेरा कल्याण है। यह सोचकर विदुषी राजीमती ने वहुत-सी सहेलियो तथा सेविकाओ के साथ दीक्षा धारण की और उसी गिरनार पर्वत पर तप करने लगी।[1]

भगवान् पार्श्वनाथ

आधुनिक जैन-परम्परा के निर्माता महावीर है, इसमे किसी भी विद्वान् को सदेह नही है। किन्तु महावीर की आचार-विचार परम्परा

---

१ उत्तराध्ययन, अ० २२, "रथनेमीय", पृ० २२९

उनकी अपनी ही थी अथवा किसी पूर्ववर्ती साधु की, इस विषय मे पाश्चात्य ऐतिहासिक सदिग्ध अवश्य थे। डा० याकोवी जैसे विद्वानो ने उनका सदेह निवारण किया और अकाट्य प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया कि भगवान् पार्श्वनाथ नि.सदेह एक ऐतिहासिक महापुरुष है। इस विषय मे डा० याकोवी ने जो प्रमाण दिए उनमे जैन आगमो के अतिरिक्त बौद्ध-पिटक का भी समावेश होता है। बौद्ध-पिटकगत उल्लेखो से जैनागमगत वर्णनो का मेल विठाया गया, तब ऐतिहासिको की प्रतीति दृढतर हुई कि महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ अवश्य हुए हैं।[1]

भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध हो जाने के बाद इस बात मे भी कोई सदेह नही रहा कि भगवान महावीर को जैन-आचार-विचार की परम्परा पार्श्वनाथ से मिली थी। भगवान् महावीर के पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे, अत उन्हें जैनागमो मे "पार्श्वापत्यिक" कहा गया है।[2] प्राप्त आगमग्रन्थो मे अनेक जगह पार्श्वनाथ और उनकी परम्परा के सम्बन्ध मे सूचना प्राप्त होती है। आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानांग, भगवती, उत्तराध्ययन और कल्पसूत्र इस विषय मे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी (वनारस) मे हुआ था। राजा अश्वसेन उनके पिता थे। उनकी माता का नाम वामादेवी था। पौष कृष्णा दशमी को उन्होने गर्भ मे प्रवेश किया और ९ माह ७॥ दिन के बाद पृथ्वी पर जन्म लिया। उनकी माता ने स्वप्न-काल मे पास मे रेगते हुए काले सर्प को देखा था, अत उनका नाम पार्श्वनाथ रखा गया। ३० वर्ष तक वे घर मे रहे, और इसके बाद पौष कृष्णा एकादशी के दिन विशाला नाम की शिविका पर आरोहण करके वनारस से सीधे आश्रमपद नाम के उपवन मे आए तथा अशोक वृक्ष के नीचे उन्होने पचमुष्टि केशलुंच किया।

साढे तीन दिन का निर्जल उपवास कर ३०० अन्य मनुष्यो के साथ अवशिष्ट केशो को उखाड कर भगवान् पार्श्व ने अनगार

---

१ जैनसूत्राज्, भाग २, प्रस्तावना, पृ० २१

२. आचाराग २, भावचूलिका ३, सूत्र स० ४०१, पृ० ३८९

अवस्था को प्राप्त किया। वे ८३ दिन तक निरतर तपश्चरण मे मग्न रहे। ८४वे दिन चैत्र कृष्णा चतुर्थी को धातकी वृक्ष के नीचे उन्होने केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान् पार्श्वनाथ के ८ गण तथा ८ गणधर थे। उनके सघ मे १६ हजार श्रमण, १८ हजार आर्यिका, १ लाख ८४ हजार उपासक, ३ लाख २७ हजार उपासिकाएँ तथा अनेक पूर्वधारी केवलज्ञानी आदि थे।

भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन-काल कुल १०० वर्षों का है जिसमे वे ३० वर्ष तक गृहस्थ रहे। उन्होने ८३ दिन तक तपश्चरण कर केवलज्ञान प्राप्त किया तथा कुछ कम ७० वर्ष तक केवली अवस्था मे निरतर भ्रमण करते हुए वे मनुष्यो को उपदेश देते रहे।

अवसर्पिणी काल के दूपम-सुपमा के अधिक भाग समाप्त हो चुकने के वाद श्रावण शुक्ला अष्टमी के दिन सम्मेत शिखर (पार्श्वनाथ हिल) पर ८३ साधुओ के साथ भगवान् पार्श्वनाथ ने निर्वाण पाया। उनके निर्वाण को १२२९ वर्ष व्यतीत हो चुके है।[1]

भगवान् पार्श्वनाथ का समय महावीर से २५० वर्ष पूर्व माना जाता है।[2] पार्श्वनाथ ने अपने जीवन-काल में अनेक स्थानो की यात्रा की जिनमे अहिच्छत्त, आमलकप्प, सावत्थी, हत्थिनापुर, कम्पिल्लपुर, सागेय, रायगिह तथा कोसम्वी प्रधान है। वे "पुरिसादानीय" अर्थात् मनुष्यो के सम्मानीय रूप मे प्रसिद्ध थे।[3]

पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म

भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा से चला आने वाला धर्म चातुर्याम धर्म कहलाता था जिसका वर्णन स्थानागमूत्र मे मिलता है। १ सर्वप्राणातिपात विरमण, २. सर्वमृपावाद विरमण, ३ सर्वअदत्तादान विरमण और ४ सर्ववहिद्धादाण विरमण अर्थात् सपूर्ण प्रकार की हिसा, झूठ, चोरी तथा परिग्रह से निवृत्ति।[4] टीकाकार अभयदेव ने वहिद्धादाण का अर्थ, परिग्रह किया है। इस परिग्रह मे अब्रह्म का त्याग भी इष्ट था।

---

१ जैनसूत्राज्, भाग १ (कल्पसूत्र, लाइफ् आफ् पार्श्व, पृ० २७१
२ वही भाग २ उत्तराध्ययन, नोट न० ३ पृ०, १८९
३ ला० इन० ए० इ०, पृ० १९
४ स्थानागसूत्र २६६, पृ० १८९

पार्श्वापत्यिक परम्परा बुद्ध के समय विद्यमान थी। बुद्ध तथा उनके अनुयायी इस परम्परा से पूर्ण अभिज्ञ थे। बौद्धपिटको मे निर्ग्रन्थ साधु के लिए आया हुआ "चातुर्यामसवरसवुत्तो" विशेषण हमें पार्श्वनाथ की इसी परम्परा की ओर सकेत करता है।[1]

महात्मा बुद्ध ने गृह-त्याग के वाद कुछ दिन तक निर्ग्रन्थ आचार का पालन किया। उसके साथ तत्कालीन निर्ग्रन्थ आचार का जव हम मिलान करते है तथा बौद्धपिटको मे पाये जाने वाले आचार और तत्त्वज्ञान सम्बन्धी कुछ पारिभाषिक शब्दों,[2] जो केवल निर्ग्रन्थ प्रवचन मे ही पाये जाते है, पर विचार करते है तो ऐसा मानने मे कोई सदेह नही रहता कि वुद्ध ने भले ही थोडे समय के लिए हो, पार्श्वनाथ की परम्परा को स्वीकार किया था।[3] बौद्ध विद्वान् अध्यापक धर्मानन्द कोशाम्बी भी इस मान्यता से सहमत है।[4]

---

१ दीघनिकाय, मामञ्जफलसुत्त।

२. पुग्गल, आसव, संवर, उपोसथ, सावक, उवासग इत्यादि। पुग्गल शब्द बौद्ध पिटक मे जीव व्यक्ति का वोधक है (मज्झिमनिकाय, १०४)। जैन-परम्परा मे वह शब्द सामान्य रूप से जड परमाणुओ के अर्थ मे रूढ हो गया है। तो भी भगवती तथा दशवैकालिक के प्राचीन स्तरो मे उसका बौद्ध-पिटक स्वीकृत अर्थ भी सुरक्षित रहा है।
आसव और संवर, ये दोनो शब्द परस्पर विरुद्धार्थक हैं। आसव-चित्त या आत्मा के क्लेश का वोधक है, जबकि सवर उसके निवारण एव निवारण उपाय का। ये दोनो शब्द जैन आगम और बौद्धपिटक मे समान अर्थ मे प्रयुक्त होते है (स्थानागसूत्र १ ला स्थान, समवायागसूत्र ५वा समवाय, मज्झिम निकाय, २)।
'उपोसथ' शब्द गृहस्थो के उपव्रत विशेष का वोधक है जो पिटको मे आता है (दीघनिकाय २६)। उसी का एक रूप पोसह या पोषध भी है जो आगमो मे प्रयुक्त होता देखा जाता है (उवासकदसाओ)।
सावक तथा उवासग—ये दोनो शब्द किसी न किसी रूप मे पिटक (दीघनिकाय ५) तथा आगमो मे पहले से प्रचलित रहे है।

३ जैन दर्शन, पृ० ७

४ पार्श्वनाथाचा चातुर्यामधर्म, पृ०, २४-२६

पार्श्वनाथ के चातुर्याम तथा महावीर के पचमहाव्रत का अन्तर उत्तराध्ययन के २३ वे अध्ययन मे वर्णित है। वहाँ पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थकेशी और महावीर के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति (गौतम), दोनो के श्रावस्ती मे मिलने की और आचार-विचार के कुछ प्रश्नो पर सवाद होने की वात कही गई है। केशी पार्श्वापत्यिक प्रभावशाली निर्ग्रन्थ रूप से निर्दिष्ट हैं। इन्द्रभूति तो महावीर के साक्षात् शिष्य ही है। उनके वीच की वार्ता के विषय कई है, पर यहाँ प्रस्तुत दो ही है। केशी गौतम से पूछते है कि हे मुने ! पार्श्व ने चारयाम-रूप धर्म का उपदेश दिया, जवकि वर्द्धमान महावीर पचमहाव्रत रूप धर्म वतलाते है, सो क्यो ? इसी तरह पार्श्वनाथ ने सचेल (सवस्त्र) धर्म वतलाया, जव कि महावीर ने अचेल (वस्त्र रहित) धर्म, सो क्यो ? इसके जवाव मे इन्द्रभूति ने कहा कि तत्त्वदृष्टि से चारयाम और पचमहाव्रत में कोई अन्तर नही है, केवल वर्तमान युग की कम और विपरीत समझ देखकर ही महावीर ने विशेष शुद्धि की दृष्टि से चार के स्थान पर पाच महाव्रत का उपदेश दिया है। मोक्ष का वास्तविक कारण तो आन्तर ज्ञान, दर्शन और शुद्ध चारित्र ही है। इन्द्रभूति के उत्तर की यथार्थता देखकर केशी पचमहाव्रत धर्म स्वीकार करते है और इस प्रकार महावीर के सघ के एक अग वनते है।[1]

उत्तराध्ययन के उक्त प्रकरण से यह वात स्पष्ट हो जाती है कि पार्श्व के चातुर्याम धर्म और महावीर के पचमहाव्रत धर्म मे कोई अन्तर नही है। पार्श्वापत्यिक परम्परा के चार यामो मे से "वहिद्धादाण" का अर्थ जानना यहाँ आवश्यक है। नवागी-टीकाकार अभयदेव ने "वहिद्धादाण" शब्द का अर्थ "परिग्रह" सूचित किया है। "परिग्रह से विरति" यह पार्श्वापत्यिको का चौथा याम था जिसमें अब्रह्म का वर्जन अवश्य अभिप्रेत था।[2]

इस प्रकार पार्श्व के चातुर्याम धर्म मे "वहिद्धादाण" का अर्थ परिग्रह तथा अब्रह्म दोनो है किन्तु जव मनुष्य सुलभ दुर्वलता के

---

१ उत्तराध्ययन अ० २३ श्लोक २३, ३२ पृ० २५२

२ इह च मैथुन परिग्रहेऽन्तर्भवति, न हि अपरिगृहीता योषिद् भुज्यते,

—स्थानाग, २६६ सूत्रवृत्ति.

कारण अब्रह्म-विरमण मे शिथिलता आई और परिग्रह-विरति के अर्थ मे स्पष्टता करने की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब महावीर ने अब्रह्म-विरमण को परिग्रह विरमण से अलग स्वतत्र यमरूप में स्वीकार करके पॉच महाव्रतो की भीष्म-प्रतिज्ञा निर्ग्रन्थो के लिए रखी और स्वय उस प्रतिज्ञा-पालन के अग्रणी हुए। इतना ही नही, बल्कि क्षण-क्षण के जीवन-क्रम में बदलने वाली मनोवृत्तियो के कारण होने वाले मानसिक, वाचिक, कायिक दोष भी महावीर को निर्ग्रन्थ जीवन के लिए अत्यन्त अखरने लगे, इसलिए उन्होने निर्ग्रन्थजीवन मे सतत जागृति रखने के लिए प्रतिक्रमण धर्म को भी स्थान दिया, जिससे कि प्रत्येक निर्ग्रन्थ साय-प्रात अपने जीवन की त्रुटियो का निरीक्षण करे और लगे दोषो की आलोचनापूर्वक भविष्य मे दोषो से बचने के लिए शुद्ध सकल्प को दृढ करे। उनके इस कठोर प्रयत्न के कारण ही चार याम का नाम स्मृतिशेष रह गया तथा पॉच महाव्रत सयम धर्म के जीवित अग बने।[1]

जब चार याम मे से महावीर के पॉच महाव्रत और बुद्ध के पॉच शील के विकास पर विचार करते है, तब कहना पडता है कि पार्श्व-नाथ के चार याम की परम्परा का ज्ञातपुत्र ने अपनी दृष्टि के अनुसार और शाक्यपुत्र ने अपनी दृष्टि के अनुसार विकास किया।[2] अध्यापक धर्मानन्द कोशाम्बी के "पार्श्वनाथाचा चातुर्यामधर्म" नामक पुस्तक लिखने का तात्पर्य भी यही बतलाना है कि शाक्य पुत्र ने पार्श्व-नाथ के चातुर्यामधर्म की परम्परा का विकास किस तरह किया।

आचाराग मे कहा गया है कि महावीर ने गृह त्याग करते समय एक वस्त्र धारण किया था। क्रमश उन्होने उसका हमेशा के लिए त्याग कर दिया और पूर्णतया अचेलत्व स्वीकार किया।[3] इससे यह ज्ञात होता है कि महावीर ने सचेलत्व में से अचेलत्व की ओर कदम बढाया।

पार्श्वापत्यिक-परम्परा मे निर्ग्रन्थो के लिए मर्यादित वस्त्र धारण वर्जित न था, जब कि महावीर ने वस्त्रधारण के बारे मे अनेकान्त

---

१ चार तीर्थंकर, पृ० १५१, १५२

२ वही, पृ० १५५

३ आचाराग १ ९ १

दृष्टि से काम लिया। उन्होंने सचेलत्व और अचेलत्व—दोनों को निर्ग्रन्थ-संघ के लिए यथाशक्ति और यथारुचि स्थान दिया। इसी कारण उनके निर्ग्रन्थ संघ में सचेल और अचेल दोनों निर्ग्रन्थ अपनी-अपनी रुचि एवं शक्ति का विचार करके ईमानदारी के साथ परस्पर उदार भाव से रहे। महावीर का कहना था कि मुक्ति के लिए तो मुख्य और पारमार्थिक लिंग—साधन, ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप आध्यात्मिक संपत्ति है, अचेलत्व या सचेलत्व यह तो लौकिक बाह्य लिंगमात्र है, पारमार्थिक नहीं।[1]

पार्श्वसंघ

जैन आगम-ग्रन्थों में अनेक जगह पार्श्व तथा उनके अनुयायियों का (पासावच्चिज्ज-पार्श्वापत्यिक) वर्णन मिलता है। हम कह चुके हैं कि भगवान् महावीर के माता-पिता पार्श्व के अनुयायी थे।

कालासवेसी नामक पार्श्वापत्यिक का वर्णन भगवती सूत्र में है जो कि किन्हीं स्थविरों में मिला और जिसने सामायिक, संयम, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग आदि पर अनेक प्रश्न किये। स्थविरों द्वारा संतोषपूर्ण उत्तर पाने के बाद कालासवेसी ने महावीर के पंचमहाव्रत और प्रतिक्रमण धर्म को स्वीकार किया।[2]

भगवती सूत्र में एक अन्य जगह गांगेय नामक पार्श्वापत्यिक का वर्णन है। वाणिज्य ग्राम में जाकर उसने भगवान् महावीर से जीवों की उत्पत्ति, च्युति के संबंध में प्रश्न किया। भगवान् महावीर से संतोषपूर्ण उत्तर पाकर गांगेय को उनकी सर्वज्ञता की प्रतीति हुई और अंत में वह सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रत स्वीकार कर महावीर के संघ का अंग बन गया।[3]

सूत्रकृतांग में एक पार्श्वापत्यिक उदक पेढाल का वर्णन है, जो कि गौतम के पास आया और कुछ प्रश्नों का सयुक्तिक उत्तर पाकर महावीर के संघ में सम्मिलित हो गया।[4]

---

१. चार तीर्थंकर, पृ १५०

२ भगवती सूत्र, १. ९ ७६

३ वही, ९ ३२ ३७८, ३७९.

४ सूत्रकृतांग, नालन्दीय अध्ययन, २. ७ ७१, ७२, ८१.

पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थ केशी तथा महावीर के शिष्य गौतम के परस्पर मिलन-वार्ता और अत मे केशी के महावीर सघ मे सम्मिलित होने की वात हम पहिले ही कह चुके है।

भगवती सूत्र मे कुछ ऐसे थेरो (स्थविरो) का वर्णन मिलता है जो कि राजगृह मे महावीर से मर्यादापूर्वक मिले, कुछ आध्यात्मिक प्रश्न किये, शान्तिपूर्वक उनका उत्तर सुना, और महावीर की सर्वज्ञता की प्रतीति कर उनके शिष्य वन गये।[१]

आवश्यक चूर्णि मे ऐसे अनेक पार्श्वापत्यिको का वर्णन मिलता है जो कि महावीर के श्रमण काल मे उपस्थित थे। उप्पल, ऐसा ही एक पार्श्व का अनुयायी था, जिसने कि साधु-जीवन की कठिन तपस्या से घवडाकर गृहस्थ धर्म को स्वीकार कर लिया था और फिर "अट्ठियागाम" मे भविष्यवक्ता (नेमित्त) का व्यवसाय कर अपना जीवन व्यतीत करने लगा था।[२]

सीमा और जयन्ती नाम की उसकी दो वहिनो ने भी पार्श्व का धर्म स्वीकार किया था, किन्तु उसकी कठोरता से घवडाकर श्रमण-धर्म छोडकर वैदिक धर्म को अपना लिया था।[३]

तुगियाग्राम पार्श्वापत्यिक थेरो का केन्द्र माना गया है। वहाँ पर पार्श्व के अनुयायी साधु ५०० का सघ वनाकर भ्रमण किया करते थे। उस ग्राम के निवासी पार्श्वापत्यिक श्रावक उनके पास धर्म-श्रवण के लिए जाया करते थे और उनसे खूव तत्त्व-चर्चा किया करते थे। एक वार राजगृह मे भगवान् महावीर ने गौतम द्वारा पार्श्वापत्यिक थेरो और श्रावको की धर्म-चर्चा की वात सुनी थी।[४]

नायाधम्मकहाओ मे वर्णन है कि श्रमणोपासिका काली को वैराग्य उत्पन्न हो गया और उसने आर्यिका पुष्पचूला के निकट भगवान् पार्श्व के धर्म को स्वीकार किया।[५]

---

१ भगवती सूत्र, ५ ९ २२६

२ आवश्यक चूर्णि, पृ० २७३

३ वही, पृ० २८६

४ भगवती सूत्र, २ ५

५ नायाधम्मकहाओ, २ १ पृ० २२०

बौद्ध ग्रन्थो मे निर्ग्रन्थ का 'एक शाटक' विशेषण पार्श्वापत्यिक निर्ग्रन्थो की ओर ही सकेत करता है ।[1]

जैन-आगम तथा बौद्ध-साहित्य के उपर्युक्त उद्धरणों मे इस बात की सूचना मिलती है कि महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ ने जिस निर्ग्रन्थ धर्म और सघ का निर्माण किया था उसने महावीर के धर्म और सघ-निर्माण के लिए नीव का काम किया ।

पार्श्वकालीन श्रुत

जैन आगमो मे जहाँ कही भी अनगार धर्म स्वीकार करने की कथा है वहाँ या तो यह कहा गया है कि वह सामायिक आदि ११ अग पढता है या चतुर्दश पूर्व पढता है ।[2]

शास्त्रो मे यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आचाराग आदि ११ अगो की रचना महावीर के अनुगामी गणधरो ने की ।[3] भगवती-सूत्र मे अनेक जगह महावीर के मुख से कहलाया गया है कि अमुक वस्तु पुरुषादानीय पार्श्वनाथ ने वही कही है जिसको मै भी कहता हूँ । और जब हम यह भी देखते है कि महावीर का तत्त्वज्ञान वही है जो पार्श्वापत्यिक परम्परा से चला आता है तब हमे 'पूर्व' शब्द का अर्थ समझने मे कोई दिक्कत नही आती । 'पूर्व' श्रुत का अर्थ स्पष्टतया यही है कि जो श्रुत महावीर के पूर्व से पार्श्वापत्यिक परम्परा द्वारा चला आता था और जो किसी न किसी रूप मे महावीर को भी प्राप्त हुआ । डा० याकोबी का भी ऐसा ही मत है ।[4]

जैन श्रुत के मुख्य विषय नवतत्त्व, पचअस्तिकाय, आत्मा और

---

१ अगुत्तरनिकाय, छक्कनिपात, २ १

२ ११ अग पढने का उल्लेख, भगवती ११ ९. ४, १८ १६ ५, पृ० ७६. ज्ञाता धर्मकथा, अ० १२ , १४ पूर्व पढने का उल्लेख भगवती सूत्र ११. ११ ४३२ , १७ २ ६१७ , ज्ञाता-धर्मकथा अ०५ । ज्ञाता-धर्मकथा अ०६ मे पांडवों के १४ पूर्व पढने का एव द्रौपदी के ११ अग पढने का उल्लेख है । इसी प्रकार ज्ञाता०२. १ मे काली साध्वी बनकर ११ अग पढती है, ऐसा वर्णन है ।

३ नदी सूत्र (विजयदानसूरि सशोधित), चूर्णि पृ० १११

४ जैन सूत्राज् १, प्रस्तावना पृ० ४४

कर्म का सवध, उसके कारण, उनकी निवृत्ति के उपाय, कर्म का स्वरूप आदि है। इन्ही विपयो का महावीर और उनके शिष्यो ने सक्षेप से विस्तार और विस्तार से सक्षेप कर भले ही कहा हो, पर वे सव विषय पार्श्वापत्यिक परम्परा के पूर्ववर्ती श्रुत मे किसी न किसी रूप से निरूपित थे. इस विषय मे कोई सदेह नही। एक भी स्थान पर महावीर अथवा उनके शिष्यो में से किसी ने भी ऐसा नही कहा कि महावीर का श्रुत अपूर्व अर्थात् सर्वथा नवीन है। चौदह पूर्व के विपयो की एव उनके भेद-प्रभेदो की जो टूटी-फूटी यादी नंदीसूत्र[1] तथा धवला [2] मे मिलती है उसका आचाराग आदि ११ अगो मे तथा अन्य उपांगादि शास्त्रो मे प्रतिपादित विपयो के साथ मिलान करने पर इसमे सदेह नही रहता कि जैन परम्परा के आचार-विचार विपयक मुख्य प्रश्नो की चर्चा पार्श्वापत्यिक परम्परा के पूर्वश्रुत और महावीर की परम्परा के अगोपाग श्रुत मे समान ही है।

कल्पसूत्र मे वर्णन है कि महावीर के सघ मे ३०० श्रमण १४ पूर्व के धारी थे।[3] इससे मैं अभी तक निम्नलिखित निष्कर्ष पर आया हूँ कि —

१ पार्श्वकालीन परम्परा का पूर्व-श्रुत महावीर को किसी न किसी रूप मे अवश्य प्राप्त हुआ, तथा उसी मे प्रतिपादित विपयों पर आचाराग आदि ग्रथो की पृथक्-पृथक् हाथो से रचना हुई।

२ महावीरशासित सघ मे पूर्व श्रुत और आचाराग आदि श्रुत दोनो की वडी प्रतिष्ठा रही, फिर भी पूर्व-श्रुत की महिमा अधिक ही की जाती रही है। इसी से हम दिगम्बर तथा श्वेताम्बर, दोनों परम्पराओ के साहित्य मे आचार्यो का ऐसा प्रयत्न पाते है कि वे अपने अपने कर्मविपयक तथा ज्ञान आदि विपयक इतर पुरातन-ग्रंथो का सबध उस विपय के पूर्व नामक ग्रथ से जोडते हैं। दोनो परम्परा के वर्णन से इतना निश्चित मालूम पड़ता है कि सारी निर्ग्रंथ-परम्परा अपने वर्तमान श्रुत का मूल 'पूर्व' मे मानती आई है।[4]

---

१ नदीसूत्र, पृ० १०६

२ पट्खडागम (धवला टीका) पुस्तक १, पृ० ११४

३ जैनसूत्राज् भाग १ (कल्पसूत्र ५), पृ० २६८

४. चार तीर्थकर, पृ० १५५

३ पूर्व श्रुत मे जिस-जिस देश काल का एव जिन-जिन व्यक्तियों के जीवन का प्रतिविम्ब था उसमे आचाराग आदि अगो मे भिन्न देश-काल एव भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के जीवन का प्रतिविम्ब पडा, यह स्वाभाविक है, फिर भी आचार एव तत्त्वज्ञान के मुख्य प्रश्नो के स्वरूप मे दोनो मे कोई विशेष अतर नही पडा।[४]

भगवान् महावीर

जन्मकालीन परिस्थिति :

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व महावीर के जन्म से पहिले, भारत की सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक स्थिति ऐसी थी, जो कि एक विशिष्ट आदर्श की अपेक्षा रखती थी। देश मे ऐसे अनेक मठ थे जहाँ रहकर साधु लोग विभिन्न प्रकार की तामसिक तपस्याएँ किया करते थे। अनेक ऐसे आश्रम थे जहाँ मायावी मनुष्य के समान ममत्व रखने वाले वडे-वडे धर्मगुरु रहते थे। कितनी ही सस्थाएँ ऐसी थीं जहाँ विद्या की अपेक्षा कर्मकाण्ड की, विशेपकर यज्ञ की प्रधानता थी और उन यज्ञो मे पशुओ का वलिदान धर्म माना जाता था।[१] समाज मे एक ऐसा वडा दल था, जो पूर्वज के परिश्रमपूर्वक उपार्जित गुरु-पद को अपने जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप मे स्थापित करता था। इस वर्ग मे उच्चता की और विद्या की ऐसी कृत्रिम अस्मिता रूढ हो गई थी कि जिसके कारण वह अन्य कितने ही लोगो को अपवित्र मानकर अपने से नीच और घृणा योग्य समझता, उनकी छाया के स्पर्श तक को पाप मानता,[२] तथा ग्रन्थो के अर्थहीन पठनमात्र में पाण्डित्य मानकर दूसरो पर अपनी गुरुसत्ता चलाता। शास्त्र और उसकी व्याख्याएँ विद्वद्गम्य भाषा मे होती थी, इससे जनसाधारण उस समय उन शास्त्रो से यथेष्ट लाभ उठा न पाता था। स्त्रियो, शूद्रो और विशेपकर अति शूद्रो को किसी भी वात से आगे वढने का पूरा अवसर नही मिलता था। उनकी आध्यात्मिक महत्त्वाकाक्षाओ के जागृत होने का अथवा जागृत होने के वाद उनके पुष्ट रखने का

१ शतपथ ब्राह्मण, का० ३, अ० ७, ८, ९

२ वही, का० ३, अ० १, ब्रा०

कोई विशेष अवलम्बन न था।[1] पहिले से प्रचलित जैन गुरुओ की परम्परा मे भी बडी शिथिलता आ गई थी। राजनैतिक स्थिति मे किसी प्रकार की एकता न थी। गणसत्तात्मक तथा राजसत्तात्मक राज्य इधर-उधर बिखरे हुए थे। यह सब कलह मे जितना अनुराग रखते थे, उतना मेल-मिलाप में नही। प्रत्येक एक दूसरे को कुचल कर अपने राज्य-विस्तार का प्रयत्न करता था।

ऐसी परिस्थिति को देखकर उस काल के कितने ही विचारशील और दयालु व्यक्तियो का व्याकुल होना स्वाभाविक था। उस दशा को सुधारने की इच्छा, कितने ही लोगो की होती थी। वह सुधारने का प्रयत्न भी करते थे और ऐसे प्रयत्न कर सकने वाले नेता की अपेक्षा रखते थे। ऐसे समय मे महावीर का जन्म हुआ।[2]

जन्म

भगवान् पार्श्व के निर्वाण के बाद जैन परम्परा के सबसे प्रबल प्रचारक भगवान् महावीर हुए। वे इस अवसर्पिणी काल के २४ तीर्थ-करो मे से सबसे अंतिम तीर्थकर थे।[3] आज से कुछ ही दशक पूर्व आधुनिक विद्वान् इस महापुरुष को एक काल्पनिक दैवी विभूति मानते थे। किन्तु जैन-आगम-ग्रन्थो के प्रकाश एव प्रचार मे आ जाने के बाद प्राय सभी पूर्वीय तथा पाश्चात्य विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके है कि भगवान् महावीर एक ऐतिहासिक महापुरुष है।[4]

महावीर स्वर्ग से अवतरित होकर सबसे प्रथम ऋषभदत्त की पत्नी ब्राह्मणी देवानद के गर्भ मे आए। सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र शक्र ने ऐसा सोचकर कि तीर्थकर कभी भी ब्राह्मणी के गर्भ से जन्म नही लेते, उन्हे ब्राह्मणी के गर्भ से निकाल कर क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ मे रख दिया।[5]

---

१ आपस्तम्ब, ३ ९ १५. (जहाँ चाडाल रहता हो, वहाँ वेद नही पढना चाहिए), गौतम १२ ४ ६ (शूद्र यदि वेद का पाठ सुन ले तो उसके कानो मे शीशा गलाकर डाल देना चाहिए, यदि वह वेदोच्चारण करे तो जीभ काट लेना चाहिए।

२ चार तीर्थंकर, पृ ३७

३. स्थानाग, सूत्र ५३

४ जैन सूत्राज्, भाग १, प्रस्तावना पृ० १०

५ आचाराग, २ १५ तथा जैन सूत्राज्, भाग १ (कल्प सूत्र) २ १७-३०

मानव-वश के इतिहास मे इस प्रकार की घटना सबसे अनोखी मालूम होती है। जिसे आज के वैज्ञानिक युग मे सहसा स्वीकार नही किया जा सकता। आधुनिक जैन विद्वान् प० सुखलाल जी सघवी ने इस असगत घटना का खुलासा करते हुए लिखा है कि —

(१) महावीर की जननी तो ब्राह्मणी देवानदा ही है, क्षत्रियाणी त्रिशला नही।

(२) त्रिशला जननी तो नही है, पर वह भगवान् को गोद लेने वाली या अपने घर पर रखकर सम्वर्धन करने वाली माता अवश्य है।

त्रिशला द्वारा महावीर सम्वर्धन के अनेक कारण हो सकते है। त्रिशला के कोई अपना औरस पुत्र न होगा। स्त्री सुलभ पुत्रवासना की पूर्ति उसने देवानंदा के औरस पुत्र को अपना बनाकर की होगी। दूसरा कारण यह भी सभव है कि महावीर छोटी उम्र से ही उस समय ब्राह्मण-परम्परा मे अतिरूढ हिसक यज्ञ और दूसरे निरर्थक क्रिया-काण्डी-कुल-धर्म-विरुद्ध-सस्कार वाले तथा त्यागी प्रकृति के थे। उन्हे छोटी उम्र मे ही किसी निर्ग्रथ परम्परा के त्यागी भिक्षु के ससर्ग मे आने का अवसर मिला होगा और उस निर्ग्रन्थ सस्कार से उनकी स्वाभाविक त्याग वृत्ति की पुष्टि हुई होगी। महावीर के त्यागाभिमुख सस्कार, होनहार के योग्य शुभ लक्षण और निर्भयता आदि गुण देखकर उस निर्ग्रन्थ गुरु ने अपने दृढ अनुयायी सिद्धार्थ और त्रिशला के यहाँ उनको सम्वर्धन के लिए रखा होगा।[1]

महावीर का जन्म स्थान कुण्डपुर अथवा कुण्डग्राम है। आचाराग सूत्र मे इसे सन्निवेश कहा गया है। व्याख्याकारो ने सन्निवेश का अर्थ 'यात्रियो का विश्रामस्थल' किया है। इस कुण्डपुर की दक्षिण दिशा मे ब्राह्मण लोग रहते थे और उत्तर दिशा मे क्षत्रिय लोग।

बौद्ध साहित्य "महावग्ग" में लिखा है कि जब बुद्ध "कोटिग्गाम" मे थे, तब अम्बपाली नाम की वेश्या तथा समीपस्थ राजधानी वैशाली के लिच्छवी लोग उनके पास गये थे। संभवत. बौद्धो का यह "कोटिग्गाम" जैनो का "कुण्डग्राम" ही हो। ऐसा मालूम होता है कि यह

---

१ चार तीर्थंकर, पृ० ११०

कुण्डग्राम विदेह की राजधानी वैशाली का कोई मोहल्ला ही होगा। क्योंकि सूत्र कृतांग मे महावीर को वैशालिक कहा गया है।[1]

अवसर्पिणी काल के सुपम सुपमा, सुपमा, सुपम दुष्पमा पूर्ण रूप से समाप्त हो चुके थे तथा दुष्पम-सुपमा का भी वहुत अधिक भाग समाप्त हो चुका था। केवल ७५ वर्ष ८॥ माह अवशिष्ट थे। उस समय आषाढ शुक्ला षष्ठी के उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र मे महावीर ने स्वर्ग से उतर कर जम्वूद्वीप भारतवर्ष मे ब्राह्मणी देवानदा के गर्भ मे सिंहरूप मे प्रवेश किया।

८ माह ७॥ दिन व्यतीत होने पर चैत्र-कृष्णा त्रयोदशी को क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ से महावीर का जन्म हुआ। उसी रात्रि को देवताओ ने अमृत, गध, चूर्ण, पुष्प और रत्नो की वहुत वृष्टि की, तथा भगवान् का अभिषेक, तिलक और रक्षावन्धन आदि किया।

जिस दिन से महावीर ने रानी त्रिशला के गर्भ मे प्रवेश पाया, उसी दिन से राजा सिद्धार्थ के घर मे धन-धान्य की अत्यधिक वृद्धि हुई, अत जन्म से ११वे दिन राजा सिद्धार्थ ने अपने सगे सवधियो को बुलाकर उन्हे भोजनादि द्वारा सतुष्ट करके यह घोषित किया कि "जव से कुमार ने रानी त्रिशला के गर्भ मे प्रवेश पाया है, हमारे घर मे धन-धान्य की अनेक प्रकार से वृद्धि हुई है। अत कुमार आज से 'वर्द्धमा' न इस नाम से सम्वोधित किए जायेगे।

महावीर के सम्वर्धन के लिए पाँच दाइयाँ रखी गई थी–१ दूध पिलाने वाली, २ स्नान कराने वाली, ३. कपडे पहिनाने वाली, ४ खिलाने वाली और ५ गोद मे रखने वाली।

भगवान् के तीन नाम थे—माता-पिता का रखा हुआ नाम 'वर्द्धमा' न था। अपने वैराग्य आदि सहज गुणों से प्राप्त 'श्रमण' नाम था, और अनेक उपसर्ग-परिषह सहन करने के कारण देवो का रखा आ 'श्रमण भगवान् महावीर' नाम था।

भगवान् के पिता के भी तीन नाम थे—सिद्धार्थ, श्रेयास और जसस (यशस्वी)। भगवान् की माता के भी त्रिशला, विदेहदिन्ना और प्रियकारिणी तीन नाम थे। भगवान् के काका का नाम

---

१. जैन सूत्राज्, भाग १, प्रस्तावना पृ० १० तथा ११., सूत्र कृताग १।३.

सुपार्श्व, वडे भाई का नाम नन्दिवर्द्धन और बड़ी वहिन का नाम सुदर्शना था।[1]

भगवान् के माता-पिता पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणो के उपासक थे, उन्होने वहुत वर्षो तक श्रमणोपासक के आचार का पालन कर अत मे छहकाय के जीवो की रक्षा के लिए आहार-पानी का त्याग(अपश्चिम–मारणातिक सल्लेखना) करके देह त्याग किया। इसके वाद वे अच्युत कल्प नामक १२ वे स्वर्ग मे देव हुए। वहाँ से वे महाविदेह क्षेत्र मे जाकर अन्तिम उच्छ्वास के समय सिद्ध, वुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त होगे तथा सव दु खो का अत करेगे।[2]

गृहजीवन

महावीर के माता-पिता जिस पार्श्वनाथ की पम्परा के अनुयायी थे, उसमे त्याग और तप की भावना प्रवल थी, जो कि महावीर को जन्मकाल से प्राप्त हुई। अत वाल्यकाल व्यतीत होने के वाद जव महावीर के सामने विवाह का प्रस्ताव आया तो उन्होने इस पर अपनी अरुचि प्रकट की, जो कि स्वाभाविक ही थी। किन्तु विनयशील महावीर अपने माता-पिता के आग्रह को न टाल सके और विवाह करना पडा। उनकी पत्नी का नाम यशोदा था जो कि कौडिन्य गोत्र की थी। यशोदा से महावीर को एक पुत्री प्राप्त हुई, जिसके दो नाम थे–अनवद्या तथा प्रियदर्शना।

यद्यपि महावीर अपनी पूर्व प्रतिज्ञानुसार २८ वर्ष की अवस्था मे ही गृह त्याग कर देना चाहते थे किन्तु अपने ज्येष्ठ भ्राता के आग्रह से उन्होने गृहवास की अवधि दो वर्ष और वढा दी।[3] इन दो वर्षो मे महावीर ने घर मे भी त्यागी और तपस्वी जीवन को व्यतीत किया।

गृह त्याग तथा साधक जीवन

महावीर ने ३० वर्ष गृहस्थाश्रम मे रहकर अपने माता-पिता का

---

१. आचाराग २। १५। १७७

२ आचाराग, २ १५ १७८

३ वही, २ १५ १७७

देहान्त होने पर अपनी प्रतिज्ञा (माता-पिता के देहान्त होने पर प्रव्रज्या लेने की। पूरी करने का समय जानकर मार्गशीर्ष-कृष्णा दशमी को प्रव्रज्या लेने का निश्चय किया।

कर्म-भूमि[1] में उत्पन्न होने वाले तीर्थकर का जब दीक्षा लेने का समय निकट आता है तब पाँचवे कल्प के विमानो मे रहने वाले लोकान्तिक देव आकर उनको सबोधित करते है कि हे भगवन्! आप सकल जीवो के हितकारक धर्म-तीर्थ की स्थापना करे। इसी के अनुसार २९ वे वर्ष उन देवो ने आकर भगवान् से ऐसी प्रार्थना की। तीसवे वर्ष मे भगवान् ने दीक्षा लेने की तैयारी की। उस समय सब देव-देवी अपनी समस्त समृद्धि के साथ अपने-अपने विमानो मे बैठकर कुण्डग्राम के उत्तर मे क्षत्रिय विभाग के ईशान्य मे आ पहुँचे।

हेमन्त ऋतु के पहिले महीने मे, प्रथम पक्ष मे मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी को भगवान् को शुद्ध जल से स्नान कराया गया और उत्तम सफेद बारीक दो वस्त्र और आभूषण पहिनाये गये। उनके लिए चन्द्र-प्रभा नामक सुशोभित पालकी लाई गई, जिसमे भगवान् निर्मल शुभ मनोभाव से विराजमान हुए। उस समय उन्होने एक ही वस्त्र धारण किया था। फिर उनको धूमधाम से गाँव के बाहर ज्ञातृवशी क्षत्रियो के उद्यान मे ले गये। उद्यान मे जाकर भगवान् ने पूर्वाभिमुख बैठकर सब आभूषण उतार डाले और पाँच मुट्ठियो मे दाहिने हाथ से दाहिनी ओर के और बाएँ हाथ से बाई ओर के सब बाल उखाड दिये। फिर सिद्ध को नमस्कार करके, "आगे से मै कोई पाप नही करूँगा", यह नियम लेकर सामायिक चारित्र को स्वीकार किया। देव और मनुष्य चित्र के समान स्तब्ध होकर यह सब देखते रहे।

भगवान् को 'क्षायोपशमिक सामायिक चारित्र' लेने के बाद मनः-पर्ययज्ञान प्राप्त हुआ और वे मनुष्य लोक के पचेन्द्रिय और सज्ञी जीवों के मनोगत भावो को जानने लगे। प्रव्रज्या लेने के बाद महावीर ने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सबधियो को विदा किया और स्वय ने यह नियम लिया कि वे १२ वर्ष तक शरीर की रक्षा या उसमे ममता रखे,

---

१ ससार का वह भाग, जहाँ धर्म पालन किया जाता है, कर्मभूमि कहलाती है। जम्बूद्वीप, भरत, ऐरावत तथा विदेह कर्मभूमि है। जैन सूत्राज् भाग १—आचाराग, नोट न० १, पृ० १९५.

विना, जो कुछ भी परीषह और उपमर्ग आऍंगे उन सवको अडिग होकर स्थिर भाव से सहन करेगे तथा उपसर्ग (विघ्न) देने वाले के प्रति समभाव रखेगे। ऐसा नियम लेकर महावीर भगवान् कुम्मार ग्राम मे आ पहुँचे।

इसके वाद भगवान् शरीर की ममता छोडकर विहार, निवास-स्थान, उपकरण, तप, सयम, ब्रह्मचर्य, त्याग, सतोप, समिति, गुप्ति आदि मे सर्वोत्तम पराक्रम करते हुए तथा निर्वाण की भावना से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। वे उपकार तथा अपकार, सुख और दु ख, लोक तथा परलोक, जीवन और मृत्यु, मान तथा अपमान आदि मे समभाव रखने, ससारसमुद्र पार करने का निरन्तर प्रयत्न करने और कर्म रूपी शत्रु का समुच्छेद करने मे तत्पर रहते थे।

इस प्रकार विचरते हुए भगवान् को देव, मनुष्य तथा पशु-पक्षी आदि ने जो कष्ट दिये उन सवको उन्होने अपने मन को निर्मल रखते हुए, अदीनभाव से सहन किया और अपने मन, वचन और काय को पूर्णरूप से स्वाधीन रखा।

इस प्रकार १२ वर्ष वीतने पर १३ वे वर्ष में, ग्रीष्म के दूसरे महीने में, वैसाख-शुक्ला दशमी को जृभक गॉव के वाहर ऋजुवालिका नदी के उत्तर किनारे पर श्यामाक नामक गृहस्थ के खेत मे भगवान् गोदोहासन से वैठे ध्यान मग्न होकर धूप मे तप कर रहे थे। उस समय उनको अट्ठमभत्त (छह दिन का अनशन) निर्जल उपवास था और वे शुद्ध ध्यान मे लीन थे। उसी समय उनको सपूर्ण, प्रतिपूर्ण, अव्याहत, निरावरण, अनन्त और सर्वोत्तम केवलज्ञान तथा दर्शन उत्पन्न हुआ। अव भगवान् अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ और सर्वभावदर्शी हुए।

भगवान् को केवलज्ञान हुआ, उस समय देव-देवियो के आने जाने से अतरिक्ष मे धूम मची थी। भगवान् ने प्रथम अपने को, फिर लोक को देखभाल कर पहिले देवो को उपदेश दिया और फिर मनुष्यो को।[1]

1　आचाराग, २ १५ १७९ तथा कल्पसूत्र "लाइफ आफ महावीर"।

साधना का रहस्य

महावीर के साधनाविषयक आचाराग के प्राचीन और प्रामाणिक वर्णन से उनके जीवन की भिन्न-भिन्न घटनाओ से तथा अब तक उनके नाम से प्रचलित सम्प्रदाय की विशेषता से यह जानना कठिन नही है कि महावीर को किस तत्त्व की साधना करनी थी और उस साधना के लिए उन्होने मुख्यत कौन से साधन स्वीकार किये थे।

महावीर की साधना का केन्द्र अहिसा तत्त्व था और उसके लिए सयम और तप ये दो साधन मुख्य रूप से अगीकार किये थे। उन्होने यह विचार किया कि ससार मे जो बलवान् होता है वह निर्बल के सुख और साधन एक डाकू की तरह छीन लेता है। यह अपहरण करने की वृत्ति अपने माने हुए सुख के राग से, विशेषकर सुखशीलता से पैदा होती है। इस वृत्ति से शाति और समभाव का वातावरण कलुषित हुए बिना नही रहता। प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख और सुविधा को इतना महत्त्व देने लगता है कि उसके सामने दूसरे प्राणियो की सुख-सुविधा का कुछ भी मूल्य नही होता। इस प्रकार स्वार्थपरिपूर्ण वृत्ति से, व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समाज तथा समाज-समाजो मे आपस का अन्तर बढता है और शत्रुता की नीव पडती जाती है। इसके फलस्वरूप निर्बल बलवान् होकर बदला लेने का प्रयत्न करने लगता है। इस प्रकार हिसा और प्रतिहिसा का ऐसा मलिन वातावरण तैयार होता है कि लोग इस ससार मे ही नरक का अनुभव करने लगते है। हिसा के रौद्र ताडव से आर्द्रहृदय महावीर ने अहिसा-तत्त्व मे ही प्राणिमात्र की शाति का मूल देखा। यह विचार कर उन्होने कायिक सुख-दु ख की समता से वैर भाव रोकने के लिए तप प्रारभ किया और अधैर्य जैसे मानसिक दोष से होने वाली हिसा को रोकने के लिए सयम का अवलम्बन लिया।

सयम का संबध मुख्यत मन और वचन के साथ होने के कारण उसमे ध्यान और मौन का समावेश होता है। महावीर के समस्त साधक जीवन मे सयम और तप—यही दो बाते मुख्य है और उन्हे सिद्ध करने के लिए १२ वर्षो तक उन्होने जो प्रयत्न किया और उसमे जिस तत्परता और अप्रमाद का परिचय दिया वैसा आज तक की तपस्या के इतिहास मे किसी व्यक्ति ने दिया हो, यह नही दिखाई

देता। कितने लोग महावीर के तप को देह-दुःख और देह-दमन कहकर उसकी अवहेलना करते है, परन्तु यदि वे सत्य तथा न्याय के लिए महावीर के जीवन पर गहरा विचार करेंगे तो यह मालूम हुए बिना नही रहेगा कि महावीर का तप शुष्क देह-दमन नही था। वे सयम और तप दोनो पर समान रूप से वल देते थे।

वारह वर्ष की कठोर और दीर्घ साधना के पश्चात् जव उन्हे अपने अहिसा तत्त्व के सिद्ध हो जाने की पूर्ण प्रतीति हुई तव वे अपना जीवनक्रम वदलते है। अहिसा का सार्वभौम धर्म उस दीर्घ तपस्वी मे परिप्लुत हो गया था। अव उनके सार्वजनिक जीवन से कितनी ही भव्य आत्माओ मे परिवर्तन हो जाने की पूर्ण सभावना थी। मगध और विदेह देश का पूर्वकालीन मलिन वातावरण धीरे धीरे शुद्ध होने लगा था, क्योकि उसमे उस समय अनेक तपस्वी और विचारक लोकहित की आकाक्षा से प्रकाश मे आने लगे थे। इसी समय दीर्घ तपस्वी भी, प्रकाश मे आए।

तप

आचारांग सूत्र मे भगवान् महावीर के तप का जो वर्णन मिलता है, वह वस्तुत ध्यान देने योग्य है।

भगवान् महावीर प्रव्रज्या स्वीकार कर हेमंत ऋतु की सर्दी मे ही घर से वाहर निकल पडे। उस अत्यधिक शीत मे भी वस्त्र से शरीर को न ढकने का उनका दृढ सकल्प था।[१] अरण्य मे विचरण करने वाले भगवान् को छोटे-वड़े अनेक जन्तुओ ने चार महीने तक अनेक कष्ट दिये और इनका मास तथा रक्त चूसा।[२] तेरह महीने तक भगवान ने वस्त्र को कधे पर रख छोड़ा, फिर दूसरे वर्ष शिशिर ऋतु के आधी वीत जाने पर उसको भी छोडकर भगवान् सम्पूर्ण अचेलक (वस्त्र रहित) हो गये।[३]

वस्त्र न होने पर भी कठिन शीत मे वे अपने हाथो को लम्वे रख कर ध्यान करते थे। शीत के कारण उन्होने किसी भी दिन हाथ

---

१ आचारांग, १ ९ १ २.
२. वही, १ ९. ३.
३. वही, १ ९ ४ २२

वगल मे नही डाले। कभी-कभी वे शीत के दिनो मे छाया में बैठकर ही ध्यान करते और कभी-कभी गर्मी के दिनो मे धूप मे बैठकर।[1]

वस्त्र रहित होने के कारण तृण के स्पर्श, ठड-गर्मी के स्पर्श तथा डास-मच्छर आदि के स्पर्श महावीर ने समभाव से सहन किए।[2] महावीर चलते समय आगे पीछे पुरुप की लम्वाई के वरावर मार्ग पर दृष्टि रखकर सावधानी से चलते थे। कोई उनसे वोलता, तो भी वे वहुत कम वोलते। उनको इस प्रकार नग्न देखकर भय भीत होकर लडको का झुड उनका पीछा करता और चिल्लाता रहता था।[3]

उजाड घर, सभा स्थान, प्याऊ और हाट ऐसे स्थानो मे महावीर अनेक वार ठहरते थे। कभी लुहार के स्थान पर तो कभी धर्मशालाओ मे, वगीचो मे, घरो मे, या नगर मे भी ठहरते थे। इस प्रकार महावीर ने १२ वर्ष से अधिक समय विताया। इन वर्षो मे रात-दिन प्रयत्नशील रहकर भगवान् अप्रमत्त होकर समाधिपूर्वक ध्यान करते, पूरी नीद न लेते, नीद मालूम होने पर उठकर आत्मा को जागृत करते। किसी समय वे करवट से हो जाते, किन्तु निद्रा की इच्छा से नही। कदाचित् निद्रा आ ही जाती तो वे उसको प्रमाद वढाने वाली समझ कर उठकर दूर करते।[4]

उन स्थानो पर भगवान् को अनेक प्रकार के भयंकर संकट पडे। उन स्थानो पर रहने वाले जीव-जन्तु उनको कष्ट देते। नीच मनुष्य भी उन्हे वहुत दु ख देते। कई वार गॉव के चौकीदार हाथ में हथियार लेकर भगवान् को सताते। कभी-कभी विषय वृत्ति से स्त्रियाँ या पुरुप भगवान् को तंग करते। रात मे अकेले फिरने वाले लोग वहाँ भगवान् को अकेला देखकर उनसे पूछ-ताछ करते। भगवान् के जवाव न देने पर तो वे चिढ ही जाते थे। कोई पूछता कि तुम कौन हो तो भगवान् कहते, "मै भिक्षु हूँ।" अधिक कुछ न कहने पर

---

१ आचाराग, १ ९ २२ १६-१७

२. वही, १ ९ ४०

३ वही, १ ९ ५ २१

४ वही, १ ९ २४ २९

वे भगवान् पर नाराज हो जाते, पर भगवान् तो ध्यान ही करते रहते ।[1]

भगवान् दुर्गम प्रदेश लाढ मे वज्र भूमि और शुभ्र–भूमि मे भी विचरे थे। वहाँ उनको एकदम बुरी से बुरी शय्या और आसन काम मे लाने पड़े थे। वहाँ के लोग भी उनको बहुत मारते खाने को रूखा भोजन देते तथा कुत्ते काटते थे। कुछ लोग उन कुत्तो को रोकते थे, तो कुछ लोग कुत्तो को उन पर छोड कर उन्हे कटवाते थे। कितनी ही बार कुत्तो ने भगवान् की मास-पेशियो को खीच डाला। इतने पर भी ऐसे दुर्गम लाढ़ प्रदेश मे -हिंसा का त्याग करके और शरीर की ममता छोडकर वे अनगार भगवान् सब सकटो को सहन करते और सग्राम मे आगे रहने वाले विजयी हाथी के समान इन सकटो पर जय प्राप्त करते थे। अनेक बार लाढ प्रदेश मे बहुत दूर चले जाने पर भी गाँव न आता था, कई बार गाँव के पास आते ही लोग भगवान् को बाहर निकाल देते और मार कर दूर कर देते थे, कई बार वे भगवान् के शरीर पर बैठकर उनका मास काट लेते थे, कई बार उन पर धूल फेकी जाती थी तथा कई बार उनको ऊपर से नीचे डाल दिया जाता था। कभी-कभी तो लोग उन्हे आसन पर से ढकेल दिया करते थे।[2]

दीक्षा लेने के कुछ अधिक दो वर्ष पूर्व से ही भगवान् ने ठंढ़ा पानी पीना छोड दिया था। वे अपने लिए तैयार किया हुआ भोजन कभी नही करते थे। इसका कारण यह था कि वे इसमे अपने लिए कर्मबन्ध समझते थे। पापमात्र का त्याग करने वाले भगवान् निर्दोष आहार-पानी प्राप्त करके उसका ही उपयोग करते थे। वे कभी भी दूसरो के पात्र मे भोजन नही करते थे और न दूसरो के वस्त्र ही काम मे लाते थे। मान-अपमान को त्याग कर, किसी की शरण न न चाहने वाले भगवान् भिक्षा के लिए फिरते थे।[3]

भगवान् आहार पानी के परिमाण को बराबर समझते थे इस कारण वे कभी रसो मे ललचाते न थे। चॉवल, बेर का चूरा, और

---

१ आचाराग, १ ९ ३०-३१ ३४-३५.

२ वही, १ ९ ४१-५३

३ वही, १ ९ १८, १९

खिचडी को रुखा खाकर ही वे अपना निर्वाह करते थे। भगवान् ने ८ महीने तक इन वस्तुओ पर निर्वाह किया। उन्होने आधे महीने तक पानी ग्रहण नही किया। इस प्रकार वे छह महीने तक विहार करते रहे। सदा आकाक्षारहित भगवान् किसी समय ठडा अन्न खाते तो किसी समय छह, आठ, दस या वारह भक्त के वाद भोजन करते थे।[1]

गॉव या नगर मे जाकर वे दूसरो के लिए तैयार किया हुआ आहार सावधानी से खोजते थे। आहार लेने जाते समय मार्ग मे भूखे-प्यासे कौए आदि पक्षियो को वैठा देखकर तथा ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चाण्डाल, कुत्ते, विल्ली आदि को घर के आगे देख कर, उनको आहार मिलने मे वाधा न हो या उनको अप्रीति न हो, ऐसा सोचकर वे वहाँ से धीरे-धीरे अन्यत्र चले जाते और दूसरे स्थान पर अहिसापूर्वक भिक्षा को खोजते थे। कई वार उन्होने भिगोया हुआ, सूखा तथा ठंडा आहार लिया। वहुत दिनो की खिचडी, तथा पुलाग (निस्सार खाद्य) भी वे कभी-कभी लेते थे। ऐसा भी न मिल पाता तो भगवान् शान्त भाव से रहते थे।[2]

भगवान् नीरोग होने पर भी भरपेट भोजन न करते थे और न औपधि ही लेते थे। शरीर का स्वरूप समझ कर वे उसकी शुद्धि के लिए सशोधन (जुलाव), वमन, विलेपन, स्नान और दत प्रक्षालन नही करते थे। इसी प्रकार शरीर के आराम के लिए वे अपने हाथ, पैर नही दववाते थे।[3]

कामसुखो से इस प्रकार विरत होकर वे विचरण करते थे। उन्होने कपायो की ज्वाला शात कर दी थी और उनका दर्शन विशद था। अपनी साधना मे वे इतने निमग्न थे कि उन्होने कभी अपनी आँख तक न मसली, और न शरीर को खुजाया ही। रति और अरति पर विजय प्राप्त करके उन्होने इस लोक के और देव-यक्ष आदि के अनेक भयकर संकटो को समभाव से सहन किया।[4]

---

१ आचाराग, १ ९ ५८—६०

२. वही, १ ९ ६२—६७.

३ वही, १ ९ ५४—५५

४ आचारांग, १ ९ ५६, ११, २०, ३२, ३३

निर्वाण

महावीर लगभग ३० वर्षो तक तीर्थकर अवस्था में भ्रमण कर जनता को सदुपदेश देते रहे और अत मे ७२ वर्ष की आयु मे, कार्तिक-कृष्णा अमावस्या को पापा (पावा) में निर्वाण प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त हो गए।[१] जिस रात्रि को महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया, उसी रात्रि को उनके प्रधान शिष्य गौतम इन्द्रभूति को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।[२] निर्वाण प्राप्ति की रात्रि के उष काल मे काशी और कोशल तथा मल्लकि और लिच्छवि वश के १८ राजाओ ने यह कहकर कि अब ससार से ज्ञान का प्रकाश सदा के लिए अस्त हो गया, अत हमे पार्थिव दीपको का प्रकाश करना चाहिए, दीप-माला प्रज्वलित की।[३]

महावीर ३० वर्ष तक गृहस्थ अवस्था मे, कुछ अधिक १२ वर्ष तक अर्द्ध विकसित अवस्था मे, कुछ कम ३० वर्ष तक केवली अवस्था मे, ४२ वर्ष तक श्रमण अवस्था में, इस प्रकार कुल ७२ वर्ष तक संसार मे रहे।[४] भगवान् महावीर का निर्वाणकाल ४६७ ईसा पूर्व है। भगवान् पार्श्व के निर्वाण के २५० वर्ष बाद महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया।[५]

उपदेश

बारह वर्ष के निरन्तर तपश्चरण के बाद महावीर को सम्पूर्ण वस्तुओ के सम्पूर्ण भावो तथा अवस्थाओ को एक साथ जानने वाला अव्याहत एव निरावरण केवलज्ञान तथा केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। इसके बाद उन्होने मानवजाति के कल्याण के लिए उपदेश देना

---

१. जैन सूत्राज् भाग १ (कल्पसूत्र) १२३, पृष्ठ २६५

२ वही १२७, पृ० २६६

३. वही १२८, पृ० ,,

४. वही १४७, पृ० २६७.

५ मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार महावीर का निर्वाणकाल ५२८ ई० पू० है। वे कहते हैं कि महावीर ने बुद्ध के परिनिर्वाण के १४ वर्ष बाद निर्वाण पाया—"वीर निर्वाण सवत् और काल-गणना", नागरी प्रचारिणी पत्रिका, पृ० ३१.

प्रारम्भ किया। महावीर ने सबसे प्रथम गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थो को भावनाओ के साथ पाँच महाव्रत का उपदेश दिया था। उनका कहना था कि साधु को जीवन पर्यन्त के लिए मन, वचन, काय से समस्त जीवो की हिंसा, असत्य-रूप वाणी, सब प्रकार की चोरी, सब प्रकार के मैथुन और सब प्रकार के परिग्रह तथा उनमें आसक्ति का त्याग करना चाहिए। उपर्युक्त प्रकार के पाप, साधु न स्वय करे, न दूसरो से करावे और न करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन ही करे।[1]

महावीर सुन्दर तथा सहज ग्राह्य दृष्टान्त देकर जनता को ससार से विराग का उपदेश दिया करते थे। एक बार उन्होंने पुडरीक (कमल) का दृष्टान्त देकर पथभ्रष्ट मानवो को सन्मार्ग पर आने का उपदेश दिया था। उन्होने कहा कि एक, जल और दलदल से परिपूर्ण बड़ी सुन्दर झील है। उसमे जगह-जगह पुडरीक उगे हुए है। उन सब के बीच झील के मध्य भाग मे एक बहुत बडा ;पुडरीक है जिस की सुगन्ध और सौन्दर्य अद्वितीय है।

पूर्व दिशा से एक पुरुष झील के पास आया और तट पर खडा होकर उस पुडरीक को देखकर बोला, "मै कुशल और उद्योगी पुरुष हूँ। मैं मार्ग-गमन-शक्ति का जानने वाला हूँ। मैं अभी इस पुँडरीक को उखाड डालूगा।" वह झील मे उतर कर आगे बढने लगा, किन्तु ज्यो-ज्यो वह आगे बढा त्यो-त्यो जल और दलदल मे फँसता गया। अत मे ऐसे गहरे पानी और कीचड मे फॅसा कि न वह पुडरीक तक पहुँचा और न लौट कर किनारे पर ही आया।

इसी प्रकार दक्षिण, पच्छिम तथा उत्तर दिशा से क्रमश तीन पुरुष आए और वे सब अपने को कुशल और परिश्रमी समझ कर पुडरीक उखाडने के लिए जल मे प्रविष्ट हुए किन्तु सब के सब दलदल मे फँसते गए। इसके बाद किसी अनियत दिशा से एक वीतराग और पार ससार सागर) करने की इच्छा वाला भिक्षु आया। वह झील के तट पर आकर खडा हुआ और उसने पुडरीक तथा दलदल मे फँसे हुए उन चारो ही पुरुषो को लक्ष्य करके कहा, "अफसोस, अपनी शक्ति और गतिविधि को न जानते हुए ये पुरुष पुडरीक को उखाडने चले परन्तु स्वय ही फँस गए। जो तरीका इन्होने पुडरीक

---

१ आचाराग, २ १५ १७९

उखाडने के काम मे लाया वह ठीक नही था । इस प्रकार कमल नही उखाडे जाते । इसका ठीक उपाय मै जानता हूँ ।" यह कहते हुए उसने वही से आवाज दी, "उड जा, पुडरीक उड़ जा ।" और पुडरीक उड गया ।

भगवान् ने इस दृष्टान्त का अर्थ समझाते हुए कहा कि, 'यह मनुष्य लोक एक बडी झील है । जीवो के शुभाशुभ कर्म इसमे जल है । काम भोग इसमे दलदल है । मनुष्य समाज इसमे पुडरीक समुदाय है । चक्रवर्ती इसमे महापुडरीक है । अन्य-तीर्थिक चार पुरुप है । धर्म भिक्षु है । धर्म-तीर्थ झील का किनारा है । धर्म-कथा भिक्षु की आवाज है, और निर्वाण वहाँ से उडना है ।"[1]

सूखी तथा गीली मिट्टी के दृष्टान्त द्वारा महावीर ने ससार से आसक्ति तथा अनासक्ति का कितना सुन्दर चित्रण किया है । "गीली और सूखी मिट्टी के दो लौदे है, उनको भीत से मारने पर जो लौदा गीला है वह भीत से चिपट जाता है और सूखा लौदा नही चिपटता। इसी प्रकार कामभोगो मे आसक्त दुष्टबुद्धि जीव तो पाप करके ससार से चिपट जाता है और जो विरक्त पुरुप है, वे सूखी मिट्टी के ढेले के समान ससार से नही चिपटते।"[2]

तत्कालीन हिसक यज्ञो एव जातिगत उच्च-नीच भावना के प्रति महावीर के मन मे अत्यधिक अरुचि थी, इस कारण उन्होने अपने उपदेशो द्वारा वास्तविक यज्ञ तथा सच्चे ब्राह्मण का अर्थ जनता को समझाया । उनका कहना था कि, "सत्य ज्ञान तथा ब्राह्मण के सत्य कर्म से अज्ञ मूढ पुरुष केवल "यज्ञ यज्ञ" शब्द चिल्लाया करते है किन्तु वे यज्ञ का वास्तविक अर्थ नही जानते ।"[3]

शुद्ध अग्नि की तरह पापरहित होने से पूज्य, कुटुम्व मे अनासक्त, सयमी, रागद्वेष आदि से दूर, सदाचारी, तपस्वी, दमितेन्द्रिय तपस्या द्वारा कृशगात्र, शान्तकषाय, अहिसक, क्रोध, लोभ, हास्यादि के वश होकर असत्य नही वोलने वाला, अल्पपरिग्रही, मैथुन का

---

१ सूत्र कृतांग, २ १ १

२. उत्तराध्ययन, २५ ४२-४३.

३ वही, २५, १८

मन, वचन, काय से त्याग करने वाला, कामभोगो मे अलिप्त, भिक्षाजीवी, और अकिंचन व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण कहलाने के योग्य है ।[१] माथा मुडा लेने से कोई साधु नही वन जाता, ओकार शब्द के उच्चारण से कोई ब्राह्मण नही हो जाता, घर छोडकर जगल मे रहने मात्र से मुनि तथा भगवा वस्त्र पहिन लेने से कोई तापस नही हो जाता ।[२]

महावीर ने वैदिक यज्ञ की तुलान जैनधर्म के सयम और तप से की है । वे कहते है कि पॉच इन्द्रियो को वश मे करने वाला, अपने जीवन की भी परवाह नही करने वाला, शरीर के ममत्व से रहित महापुरुष वाह्य शुद्धि की अपेक्षा न करते हुए, उत्तम एव महाविजयी भाव-यज्ञ करता है ।[३] उस भाव-यज्ञ मे धर्मरूपी ह्रद तथा ब्रह्मचर्य-रूपी तीर्थ है । मनुष्य आत्मा के विशुद्ध धर्मकुड में "यज्ञ स्नान" कर कर्मरज से रहित होता है ।[४] यज्ञ स्नान किए हुए व्यक्ति को, तप अग्नि है, जीवात्मा ही उस तपरूपी अग्नि का स्थान है, मन, वचन, काय का योग कडछी है, कर्म ईधन (समिधा) है, और सयमरूपी शाति-मत्र है । इस तरह प्रशस्त चरित्र रूपी यज्ञ द्वारा यजन को महर्षियो ने उत्तम माना है ।[५] महावीर ने अपने उपदेशो मे इस वात पर सव से अधिक वल दिया है कि मनुष्य को सासारिक काम-भोगो मे आसक्त नही होना चाहिए । दुवले वैल को, जैसे मार कूटकर चलाने पर वह अडियल हो जाता है और अत मे वजन ढोने के वदले थक कर पड जाता है, ऐसी ही दशा, विषय-रस सेवन किए हुए मनुष्य की है । ये विपय तो आज या कल छोडकर चले जायेगे, ऐसा सोचकर कामी मनुष्य को प्राप्त या अप्राप्त विपयो की वासना त्याग देना चाहिए ।[६] कामी मनुष्यो को अत मे वहुत पश्चात्ताप और विलाप करना पडता है । अत बुद्धिमान् पुरुप को पहिले ही सावधान होकर

---

१ उत्तराध्ययन २५ १९–२९

२ वही २५ ३१ ३२

३ वही १२ ४२

४ वही १२ ४५

५ वही १२ ४४

६ सूत्रकृताग, २ ३ ५ ६

अत मे न पछताना पडे—इसलिए आत्मा को भोगो से छुडाना चाहिए।[1]

महावीर ने अपने समय मे ज्ञानहीन साधुओ की वहुतायत देखकर मनुष्य का ध्यान इस वात पर आकृष्ट किया कि कोई भले ही नग्न अवस्था मे फिरे या मास के अत मे एक वार भोजन करे किन्तु वह यदि मायावी है तो उसको वार-वार गर्भवास प्राप्त होगा।[2] केवल स्नान से मुक्ति मानने वालो से महावीर ने कहा कि यदि स्नान करने मात्र से मोक्ष मिलता हो तो पानी मे रहने वाले अनेक जीव भी मुक्त हो जावे।[3] पानी यदि पाप-कर्मो को धो सकता, तो उससे पुण्य भी धुल जा सकते है।[4]

उन्होने मनुष्य का ध्यान आत्म-प्रशसा से हटाकर वास्तविक आत्मोन्नति की ओर आकृष्ट किया। "प्रसिद्ध कुल मे उत्पन्न होकर जो भिक्षु वने है और महा तपस्वी है, यदि उनका तप कीर्ति लाभ की इच्छा से किया गया है तो वह शुद्ध नही है। जिसे दूसरे न जानते हो वही तप है, ऐसा समझ कर साधु को कभी भी आत्म-प्रशसा मे लीन न होना चाहिए।[5] जो सर्वस्व का त्याग करके, खे-सूखे आहार पर रहने वाला होकर भी गर्व और स्तुति का इच्छुक होता है, उसका सन्यास ही उसकी आजीविका होती है। ज्ञान प्राप्त किये विना वह ससार मे वार-वार भटकता है।"[6]

सार्वजनिक सेवा

श्रमण भगवान् महावीर का ४३ से ७२ वर्ष तक का यह दीर्घ-जीवन सार्वजनिक सेवा मे व्यतीत हुआ। इस समय मे उनके द्वारा किए गए मुख्य कार्यो का विवरण निम्न प्रकार है :—

१ महावीर ने जाति का तनिक भी भेद रखे विना प्रत्येक व्यक्ति के लिए (शूद्रो के लिए भी) भिक्षु-पद और गुरु-पद का मार्ग

---

१ सूत्र कृताग, २ ३ ७

२ वही २ १ ६

३ वही ७ १४

४ वही ७ १६

५ वही ८ २४.

६ वही १३ १२.

खोल दिया था।[1] उनका कहना था कि श्रेष्ठता का आधार जन्म नही, बल्कि गुण है। वस्तुतः वर्ण-व्यवस्था जन्मगत नही, किन्तु कर्मगत है। कर्मो से ही ब्राह्मण होता है, कर्मो से ही क्षत्रिय होता है, कर्मो से ही वैश्य होता है तथा कर्मो से ही शूद्र होता है।[2]

२ उन्होने पुरुषों की तरह स्त्रियो के विकास के लिए भी पूर्ण स्वतन्त्रता दी और विद्या तथा आचार दोनो मे स्त्रियो की पूर्ण श्रेष्ठ योग्यता को स्वीकार किया। उनके लिए गुरुपद का भी आध्यात्मिक अधिकार उन्होने दिया।[3]

३ उन्होने लोकभाषा मे तत्त्वज्ञान और आचार का उपदेश करके केवल विद्वद्गम्य सस्कृत भाषा का मोह घटाया और योग्य अधिकारो के लिए ज्ञान प्राप्ति में भाषा का विघ्न दूर किया।[4]

४ उन्होने ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिए होने वाले यज्ञ आदि कर्म-काण्डो की अपेक्षा सयम तथा तपस्या के स्वावलबी तथा पुरुषार्थप्रधान मार्ग की महत्ता की स्थापना की और अहिसा धर्म मे जनसाधारण की प्रीति उत्पन्न की।[5]

५. उन्होने त्याग और तपस्या के नाम पर रूढ शिथिलाचार के स्थान पर सच्चे त्याग और सच्ची तपस्या की प्रतिष्ठा करके भोग के स्थान पर विराग के महत्त्व का वायुमडल चारो ओर उत्पन्न किया।

---

१. उत्तराध्ययन, १२ १ (चाण्डाल कुल मे उत्पन्न किन्तु उत्तम गुणी हरिकेशबल नामक एक जितेन्द्रिय भिक्षु हो गए है।)

२ वही २५ ३३

३ नायाधम्मकहाओ, २ १ पृ० २२२ (श्रमणोपासिका काली ने आर्यिका पुष्पचूला के निकट पार्श्व के श्रमणधर्म को स्वीकार किया।)

४ समवायाग सूत्र, ३४ (भगवान् अर्द्धमागधी भाषा मे धर्म का व्याख्यान करते है।)

५. उत्तराध्ययन, २५. "यज्ञीय"

तत्कालीन अन्य सम्प्रदाय

पार्श्व का चातुर्याम धर्म

जैसा कि हम पहिले कह चुके है, महावीर ने किसी नवीन मत की स्थापना नही की थी, वल्कि अपनी पितृपरम्परा से प्राप्त पार्श्व के चातुर्याम धर्म को ही देग-काल की परिस्थिति के अनुसार नवीन रूप प्रदान किया। पार्श्व के चातुर्याम धर्म मे अहिसा, सत्य, अचौर्य तथा अपरिग्रह—इन चार वातो की प्रधानता थी। यद्यपि पार्श्व के अपरिग्रह मे ब्रह्मचर्य की भी प्रतिष्ठा थी, क्योकि स्त्री का ग्रहण भी एक प्रकार का परिग्रह ही है, तथापि महावीर ने ब्रह्मचर्य पालन मे शिथिलता देखकर उसे स्वतत्ररूप से मानकर पाँच महाव्रतो की सज्ञा दी। यम की जगह महाव्रत शब्द का उपयोग भी इस वात की ओर सकेत करता है कि वे पार्श्व के पारम्परिक धर्म को नवीन रूप देकर एक अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न करना चाहते थे।[1] इसके अतिरिक्त पार्श्वधर्म मे साधु लोग विविध रग के वस्त्र पहिनते थे। जव कि महावीर ने उन्हे श्वेत वस्त्र अथवा निर्वस्त्र-रूप अल्प उपधि का उपदेश दिया था।[2]

बौद्ध सम्प्रदाय

इस वात से प्राय सभी विद्वान् सहमत है कि महात्मा बुद्ध भगवान् महावीर के समकालीन थे। बुद्ध ने जिस मत का प्रणयन किया था वह यद्यपि वहुत अगो मे जैन धर्म से मिलता है,[3] फिर भी वह जैन धर्म से पृथक्, एक स्वतत्र धर्म है। जैन सूत्रो मे वौद्ध धर्म के सम्वन्ध मे निम्न प्रकार का वर्णन मिलता है। उसमे वौद्धो के दो सम्प्रदाय माने गए है—एक वे, जो मानते है कि जगत का निर्माण पाँच स्कन्धो से होता है। वे पाँच स्कन्ध ये है—१ रूप, २ वेदना, ३. विज्ञान, ४. सज्ञा तथा ५ सस्कार। ससार में इनसे भिन्न

---

१ उत्तराध्ययन, २३. १२

२ वही २३ २९

३ डा० याकोवी ने महावीर तथा बुद्ध के धर्म की समानता और असमानता पर विस्तार मे विचार किया है। —जैन सूत्राज् (भाग १, प्रस्तावना, पृ० १९–२८

आत्मा नाम का कोई स्कन्ध नही है। पृथ्वी, धातु तथा रूप आदि को "रूप स्कन्ध" कहते है। सुख-दु.ख तथा असुख और अदु:ख के अनुभव को "वेदना स्कन्ध" कहते है। रूप विज्ञान, रस विज्ञान आदि विज्ञान को "विज्ञान स्कन्ध" कहते है। सज्ञा के कारण वस्तु-विशेष के वोधक शब्द को "सज्ञा स्कन्ध" कहते है।[1]

दूसरे प्रकार के बौद्ध वे है, जो निम्न चार धातुओ को जगत को धारण करने वाला मानते है। पृथ्वी धातु है, जल धातु है, तेज धातु है और वायु धातु है। ये चारो पदार्थ जगत को धारण और पोषण करते है, इसलिए धातु कहलाते है। ये चारो धातु जब एकाकार होकर शरीर रूप मे परिणत होते है तब इनकी जीव सज्ञा होती है। "चातुर्धातुकमिदं शरीर" अर्थात् यह शरीर चार धातुओ से बना है अत इन चार धातुओ से भिन्न आत्मा नही है।[2]

आजीविक सम्प्रदाय

जैनागम तथा बौद्ध ग्रन्थो से यह बात स्पष्ट है कि महावीर के समय मे आजीविक मत अधिक प्रभावशाली था।[3] आजीविक सम्प्रदाय के नेता "मक्खलिगोशाल" तत्कालीन प्रसिद्ध छह आचार्यो मे से एक गिने जाते थे, अन्य पॉच आचार्यो के नाम निम्न प्रकार है : १ पूरणकस्सप, २. अजितकेसकम्बली, ३ पकुधकच्चायन, ४ सजय-वेलट्ठिपुत्त तथा ५ नातपुत्त (ज्ञातृपुत्र महावीर)।[4]

भगवती सूत्र में आजीविक सम्प्रदाय के प्रधान गोशाल का निम्न परिचय मिलता है। मक्खलिपुत्र गोशाल, सरवण नामक सन्निवेश मे एक ब्राह्मण की गोशाला मे पैदा हुए थे। उनके पिता का नाम "मख" था, जो कि हाथ मे चित्र लेकर उसे दिखा-दिखाकर भिक्षा

---

१ सूत्र कृताग, १ १ १७ महासत्तिपट्ठानसुत्त (दीघनिकाय, २. ९) 'पॉचो उपादान स्कन्ध दु ख हैं।"

२ सूत्र कृताग, १ १ १८.

३ आजीविक सम्प्रदाय के "मक्खली" की महात्मा बुद्ध ने सबसे अधिक हानिप्रद साधुओ के मध्य गणना की है। (अगुत्तरनिकाय १ ३३) "आजीविक मत" के लिए, देखिये "श्रमण भगवान् महावीर" का पचम अध्याय "आजीविक मत—दिग्दर्शन", पृ० २५९

४ भगवती टी०, १ २ पृ० ८७

माँगा करता था। गोशाला मे पैदा होने के कारण उसने अपने पुत्र का नाम गोशाल रखा। पुत्र जब बडा हुआ तो उसने अपने पिता के व्यवसाय को सीखकर भिक्षा माँगना प्रारम्भ कर दिया। एक समय वह राजगृह मे आया और नालदा में ततुशाला में ठहरा। महावीर भी उसी समय वहाँ उपस्थित थे। गोशाल ने महावीर से उसे अपना शिष्य बना लेने की प्रार्थना की, जिसे महावीर ने स्वीकार किया। गोशाल ६ वर्ष तक महावीर के साथ रहे, किन्तु बाद मे उनका महावीर से मतभेद हो गया और वे उनके सघ से अलग हो गए। अलग होने के बाद गोशाल ने तपस्या द्वारा इन्द्रजाल विद्या का अभ्यास किया और अपने को "जिन" कहकर आजीविक सम्प्रदाय के नेता बन गए। कुम्भकार सद्दालपुत्त तथा उनकी पत्नी हालाहला, आजीविक सम्प्रदाय की थीं। सावत्थी तथा पोलासपुर सभवत इस सम्प्रदाय के केन्द्र थे।[1]

आजीविक सम्प्रदाय के मत का जो विवरण जैनागम तथा बौद्ध-साहित्य मे अनेक जगहों पर मिलता है वह लगभग एक-सा ही है। उवासगदशाओ मे महावीर तथा आजीविकोपासक सद्दालपुत्त के वार्तालाप का विवरण है, जिससे उनके सिद्धान्त का पता लगता है। सूत्रकृताग मे इस वाद को नियतिवाद कहा गया है। "जीव के सुख-दु.ख आदि स्वय किए हुए नही है, वे तो दैवनियत है।"[2] किसी व्यक्ति अथवा वस्तु के जीवन मे उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम कुछ नही कर सकते, क्योकि ससार के सपूर्ण पदार्थ अपने-अपने स्वभाव मे नियत (स्थित) है।"[3] बौद्ध ग्रन्थो मे आजीविको के मत का निम्न प्रकार वर्णन है। "इस ससार मे प्राणियो के क्लेश का न कोई हेतु है और न कोई प्रत्यय (कारण) है। मनुष्य के पराक्रम पर कुछ भी निर्भर नही है क्योकि इस ससार मे आत्मकार, परकार, बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम नाम की कोई वस्तु नही है। समस्त प्राणी नियतिवश होकर सुख-दु ख का अनुभव करते है।"[4]

---

१ भगवती सूत्र, १५

२. सूत्र कृताग, १ २

३ उवासगदसाओ, ७.

४ दीघनिकाय, सामञ्जफलसुत्त.

आजीविक साधुओं का आचार निम्न प्रकार था—वे नग्न रहते थे तथा अपने हाथो पर भोजन करते थे। वे भोजन के लिए किसी का निमत्रण स्वीकार नही करते थे। उनके स्थान पर लाए हुए अथवा उनके लिए तैयार किए हुए भोजन को भी वे स्वीकार नही करते थे। जिन वर्तनो मे भोजन पकाया जाता था, उन वर्तनो से अथवा अन्य वर्तनो से वे भोजन ग्रहण नही करते थे। वच्चे को साथ मे लिए हुए स्त्री से भी वे आहार ग्रहण नही करते थे। यदि कुत्ता पास मे खडा हो अथवा मक्खियाँ भिनभिना रही हो तो वे भोजन नही करते थे। वे मांस, मछली तथा मद्य नही लेते थे। कुछ लोग केवल एक ही घर जाकर केवल दो ग्रास भोजन लेते थे, अन्य लोग सात घरो मे जाकर सात ग्रास ले लेते थे। कुछ लोग दिन मे एक वार भोजन लेते थे, ता कुछ लोग दो दिन मे एक वार। कुछ लोग सात दिन मे एक वार और कुछ लोग १५ दिन मे एक वार।

'आजीविक' शव्द की उत्पत्ति "आजीव" शव्द से हुई है जिसका अर्थ है जीवन अथवा व्यवसाय का एक नवीन प्रकार। मालूम पडता है कि आजीविको ने एक विशिष्ट जीवन के तरीके को अपनाया था। इसलिए भी उन्होने अपने सम्प्रदाय का नाम 'आजीविक' रख लिया हो।[1] यह सम्प्रदाय गोशाल से भी पहले वर्तमान था। गोशाल इस सम्प्रदाय के तीसरे नेता माने गए है। भगवती सूत्र मे लिखा है कि आजीविक सम्प्रदाय गोशाल से १७० वर्ष प्राचीन है।[2]

उच्छेदवाद

अजित केसकम्वली उच्छेदवाद के प्रमुख व्याख्याता माने जाते है। उनका कहना था कि "दान, यज्ञ तथा होम यह सव कुछ नही है, भले-वुरे कर्मो का फल नही मिलता, न इहलोक है न परलोक, चार भूतो से मिलकर मनुष्य वना है। जव वह मरता है तो उसमे का पृथ्वी धातु पृथ्वी मे, आपोधातु पानी मे, तेजो धातु तेज मे तथा वायु धातु वायु मे मिल जाता है और इन्द्रियाँ सव आकाश मे मिल जाती है। मरे हुए मनुष्य को चार आदमी अर्थी पर सुलाकर उसका गुणगान करते हुए ले जाते है। वहाँ उसकी अस्थि सफेद हो जाती है

---

१ उवासगदसाओ, पृ० २३८—(डा० पी० एल० वैद्य)

२ भगवती सूत्र, १५

और आहुति जल जाती है। दान का पागलपन मूर्खो ने उत्पन्न किया है। जो आस्तिकवाद कहते हैं वे झूठ भाषण करते है, व्यर्थ की वड-वड़ करते है। अक्लमद और मूर्ख दोनो ही का मृत्यु के वाद उच्छेद हो जाता है। मृत्यु के वाद कुछ भी अवशेष नही रहता।" केस-कवली के इस मत को उच्छेदवाद कहते हैं।[1]

अन्योन्यवाद

आचार्य पकुध-कात्यायन इस वाद के प्रमुख व्याख्याता थे। उनका कहना था कि "सातो पदार्थ न किसी ने किए, न करवाए। वे वंध्य, कूटस्थ तथा खभे के समान अचल है। वे हिलते नही, वद-लते नही, आपस में कष्टदायक नही होते। और एक-दूसरे को सुख दु ख देने मे असमर्थ है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, सुख, दु ख तथा जीवन ये ही सात पदार्थ है। इनमे मारने वाला, मार खाने वाला, सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला, जनाने वाला कोई नही। जो तेज शस्त्रो से दूसरे के सिर काटता है, वह खून नही करता। उसका शस्त्र इन सात पदार्थों के अवकाश (रिक्त स्थान) में घुसता है।" इस मत को अन्योन्यवाद कहते है।[2]

विक्षेपवाद

आचार्य सजय वेलट्ठिपुत्त के वाद को विक्षेपवाद कहते है। उनका कहना है कि "परलोक है या नही, यह मैं नही समझता। परलोक है—यह भी नही, परलोक नही है—यह भी नही। अच्छे या वुरे कर्मो का फल मिलता है, यह भी मै नही मानता, नही मिलता—यह भी मैं नही मानता। वह रहता भी है नही भी रहता, तथागत मृत्यु के वाद रहता है या नही रहता, यह मै नही समझता। वह रहता है यह भी नही, वह नही रहता यह भी नही।" इस वाद को विक्षेपवाद कहते है।[3]

उच्छेदवाद, अन्योन्यवाद तथा विक्षेपवाद तथा उनके व्याख्या-ताओं का विवरण वौद्ध-सूत्रो मे अनेक जगह पाया जाता है।[4]

---

१ भारतीय सस्कृति और अहिसा, २६ पृ० ४६

२ वही २७ पृ० ४६, ४७

३ वही २९ पृ० ४७

४. भारतीय संस्कृति और अहिसा, २३ पृ० ४५.

चार प्रकार के अन्य वाद

सूत्रकृताग में चार प्रकार के वादो का वर्णन मिलता है जो कि महावीर के समय में वर्तमान थे। १ किरियम् (क्रियावाद), २ अकिरियम् (अक्रियावाद), ३ अन्नाणम् (अज्ञानवाद), ४ विणीयम् (विनयवाद)।[1]

क्रियावाद

क्रिया आत्मा की सूचक है, अत. जो वादी आत्मा की स्थिति को स्वीकार करते है वे क्रियावादी है। जो यह मानता है कि जीव नरक मे दु:ख का अनुभव करते है, जो पाप और उससे विरक्ति को मानते है तथा दु ख और उसके सम्पूर्ण नाश का भी जिन्हे ज्ञान है वे क्रियावाद के व्याख्याता माने जाते है। क्रियावाद के १८० भेद है।[2] जीव, अजीव, आसव, वध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप—ये नव पदार्थ है। ये नव ही पदार्थ, स्वत -परत', नित्य-अनित्य तथा काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, तथा स्वभाव के भेद से (९×२×२×५) के भेद से १८० हो जाते हे। क्रियावाद की यह परिभाषा जैनो के लिए भी लागू होती है। केवल अतर इतना है कि जैन सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र तीनो के एकत्व से मुक्ति मानते है, जव कि क्रियावादी केवल सम्यक्चारित्र (क्रिया) से ही मुक्ति मानते है।[3]

अक्रियावाद

अक्रियावादी आत्मा की स्थिति को स्वीकार नही करते। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु क्षणस्थायी है। जव प्रत्येक वस्तु एक क्षण के वाद नष्ट हो जाती है तो क्रिया कैसे हो सकती है ? यह सिद्धान्त वौद्धो के क्षणिकवाद सिद्धान्त के वहुत निकट है। इस मत के अनु-

---

१ सूत्र कृताग, १ १२

२ "क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ तथा विनयवादी के ३२—इस प्रकार सव मिलकर ३६३ पाखडियो के व्यूह है।"—समवायांग, १३७। नदी सूत्र, ४६ पृ० १२२

३ सूत्र कृताग (टीका), १ १२ पृ० २०८-अ

सार सूर्य का उदय या अस्त नही होता, चन्द्रमा घटता या बढता नही, नदियाँ बहती नही और हवा चलती नही ।[1]

बौद्ध ग्रन्थो मे आचार्य पूरण-कश्यप के अक्रियावाद का वर्णन मिलता है। सभवत जैन सूत्रो मे मिलने वाला यह अक्रियावाद वही अक्रियावाद हो। उनका कहना था कि "किसी ने कुछ किया या करवाया, काटा या कटवाया, तकलीफ दी या दिलवाई, शोक किया या करवाया, कष्ट सहा या दिया, डरा या दूसरो को डराया, प्राणी की हत्या की, चोरी की, डकैती की, घर लूट लिया, बटमारी की, परस्त्री-गमन किया, असत्य वचन कहा, फिर भी उसको पाप नही लगता। तीक्ष्ण धार के चक्र से भी अगर कोई इस ससार के सब प्राणियो को मार कर ढेर लगा दे तो भी उसे पाप न लगेगा। गगा नदी के उत्तर किनारे पर जाकर भी कोई दान दे या दिलवाए, यज्ञ करे या करवाए, तो कुछ भी पुण्य नही होने का। दान, धर्म, सयम, सत्य भाषण—इन सबो से पुण्य प्राप्ति नही होती।"[2]

अक्रियावाद के चौरासी भेद है। उपर्युक्त जीवादि नव पदार्थो मे से पुण्य-पाप इन दो पदार्थो को छोड़कर बाकी सात पदार्थ, स्वत तथा परत एव काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव तथा यदृच्छा के भेद से (७ × २ × ६) ८४ हो जाते है।[3]

स्थानाग सूत्र मे अक्रियावादी के सात भेद बताए गए है—१ एकावाई (एकवादी), २ अणेगावाई (अनेकवादी), ३ मियवाई (मितवादी), ४ निम्मियवाई (निर्मितवादी), ५ समुच्छेयवाई (समुच्छेदवादी), ६ नियवाई (नित्यवादी), ७ न सन्त परलोकवाई (न शान्ति परलोकवादी)।

एकवादी—एक ही आत्मा प्रत्येक प्राणियो मे व्याप्त है। जैसे एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब अनेक जलाशयो मे अनेक प्रकार से दिखता है, उसी प्रकार यह एक आत्मा भी नाना रूप मे प्रतिभासित होता है।

---

१ सूत्र कृताग, १ १२ ४–८

२ भारतीय सस्कृति और अहिंसा, २४ पृ० ४५-४६.

३. सूत्र कृताग टीका, १ १२ पृ० २०९

अनेकवादी—इस ससार में सब जगह आत्मा ही आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त संसार मे और कुछ है ही नही। पृथ्वी, तेज, जलादि सब मे आत्मा व्याप्त है। इस प्रकार आत्मा की अनेकता मानने वाले अनेकवादी है।

मितवादी—जीवो की अनेकता स्वीकार करते हुए भी उनकी परिमितता को मानने वाले अथवा आत्मा को अगुष्टपर्वमात्र या श्यामाक तदुलमात्र परिमित मानने वाले अथवा पृथ्वी को सप्तद्वीप परिमित मानने वाले मितवादी है।

निर्मितवादी—इस ससार को ईश्वर, ब्रह्मादि द्वारा निर्मित मानने वाले निर्मितवादी है।

समुच्छेदवादी—वस्तु का प्रतिक्षण निरन्वय समुच्छेद (नाश) मानने वाले समुच्छेदवादी है।

नित्यवादी वस्तु को सर्वथा नित्य मानने वाले नित्यवादी है।

न शान्ति परलोकवादी—इस लोक मे न शान्ति (मोक्ष) है और न परलोक ही है, इस बात को मानने वाले न शान्ति परलोकवादी है।[1]

बुद्ध ग्रन्थो मे पकुधकात्यायन अक्रियावादी माना गया है।[2]

अज्ञानवाद

अज्ञानवाद निर्वाण प्राप्ति के लिए ज्ञान की आवश्यकता नही मानता। अज्ञानवादी कहते है कि परलोक, स्वर्ग और नरक तथा अच्छे-बुरे कर्मो के फल आदि के विषय मे हम कुछ नही जान सकते। स्वर्ग आदि का अस्तित्व है—यह भी नही कहा जा सकता अथवा नही है—यह भी नही कहा जा सकता। इसके ६७ भेद है। जीवादि ९ पदार्थ, सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य तथा सदसदवक्तव्य के भेद से (९×७) ६३ तथा इनमे सत्, असत्, सदसत्, तथा अवक्तव्य के जोडने से कुल ६७ हो जाते है।[3]

---

१ स्थानाग, ६०७ टीका, पृ० ४०३-४०४

२ ला—"हिस्टारिक्ल ग्लीनिंग्स", पृ० ३३

३ सूत्रकृताग टीका, १ १२, पृ० २०९

विनयवाद

विनयवादियो को वैनयिक तथा अविरुद्ध भी कहा जाता है। ये लोग चरित्र के महत्त्व को स्वीकार नही करते। उनका कहना है कि केवल विनय (श्रद्धा) से ही मुक्ति या निर्वाण प्राप्त हो सकता है।[1] विनयवादी देव, राजा, साधु, हाथी, घोडा, गाय, भैस, बकरी, स्यार, कौआ, सारस, घड़ियाल तथा अन्य प्राणियो को भी समान विनयपूर्वक देखते है। मन, वचन, काय तथा दान के द्वारा देवता, मालिक, साधु, मनुष्य, बडे पुरुष, छोटे व्यक्ति, माता और पिता का विनय करने के कारण यह वाद (८ × ४) ३२ भागो मे विभक्त है।[2]

सप्त निह्नव

श्रमण भगवान् महावीर के तीर्थ मे ७ पवयण निण्हग (प्रवचन-निह्नव) कहे गए है। प्रवचननिह्नव का अर्थ है—वे व्यक्ति जो महावीर के सिद्धान्तो से सहमत न होकर उनके प्रवचन का विरोध करते थे। उनके नाम निम्न प्रकार है—१ जमालि (जमाली), २ तीसगुत्त (तिष्यगुप्त), ३ आसाढ (आषाढ), ४ असमित्त (अश्वमित्र), ५ गगे (गग), ६ छलुए (षडुलुक), ७ गोट्ठामाहिले (गोष्ठामाहिल)।[3]

जमालि—जमालि भगवान् महावीर के भानजे तथा उन्ही के दामाद (सुदर्शना के पति) थे। महावीर ने ही उन्हे दीक्षित किया था। अनुचित आहार-विहार के कारण उन्हे रोग उत्पन्न हो गया और वेदना से पीडित होकर एक साथी श्रमण से उन्होने सस्तारक (शय्या) बिछाने को कहा। श्रमण शय्या बिछा ही रहा था कि जमालि ने पूछा, क्या शय्या बिछ गई ? श्रमण ने कहा कि, शय्या बिछ गई। इस पर जमालि शय्या के निकट आए। किन्तु उन्होने देखा और सोचा कि शय्या बिछाई जा रही है अत श्रमण का यह कहना ठीक नही कि शय्या बिछ गई है।

---

१ सूत्र कृताग टी० १.२ २.

२. वही, १.१२, पृ० २०९

३ स्थानांग, ५८७.

जमालि का मतभेद क्रियाविषयक नही, तर्कविषयक था। उनकी मान्यता थी कि कोई भी कार्य किसी एक ही समय मे पूर्ण नही हो सकता। कोई भी कार्यविषयक क्रिया अनेक समय तक चलकर जव उपराम पाती है, तव कार्यसिद्धि होती है। इस प्रकार एक कार्य अनेक समय की क्रिया मे निष्पन्न होता है। अत. कोई भी कार्य क्रियाकाल मे "क्रिया" नही कहा जा सकता। किन्तु क्रियाकलाप के अत मे जव कार्य पूरा हो जाए तव उसे "क्रिया" कहना चाहिए।

इसके विपरीत महावीर का "चलमाणे चलिए", "करेमाणे कडे", अर्थात् चलने लगा चला, किया जाने लगा किया, यह सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का आधार ऋजुसूत्रनय[1] नामक निश्चय नय है। यह नय केवल वर्तमानग्राही है। अत इसके अनुसार किसी भी क्रिया का काल समय मात्र है। महावीर का सिद्धान्त है कि कोई भी क्रिया अपने वर्तमान समय मे कार्य-साधक होकर दूसरे समय मे नष्ट हो जाती है। इस दशा मे प्रथम समय की क्रिया प्रथम समय मे ही कुछ कार्य करेगी तथा दूसरे समय की दूसरे समय में। प्रथम समय की क्रिया दूसरे समय मे नही रहती, तथा दूसरे समय की तीसरे समय मे। इस दशा मे प्रति समयभावी क्रियाएँ प्रति समयभावी पर्यायो का ही कारण वन सकती है, उत्तरकालभावी कार्य का नही। और जव क्रियाकाल निरश समय मात्र है, तव भगवान् महावीर का सिद्धान्त वास्तविक सिद्ध होता है।[2] जमालि ने इसे वहुसमयात्मक मानकर आग्रहवश अपना मतभेद खडा किया और वे तथा उनके अनुयायी "वहुरतधर्माचार्य" कहलाए।[3]

तिष्यगुप्त—तिष्यगुप्त चतुर्दश पूर्वधारी वसुनायक आचार्य का शिष्य था। उसका मत था कि—"असख्यात प्रदेशो वाला जीव केवल एक प्रदेश के कम रह जाने मात्र से जीव नही कहा जा सकता, अत जिस अतिम प्रदेश के कम हो जाने से वह जीव नही कहा जा सकता वही प्रदेश तत्त्वत जीव है।" गुरु ने उसे समझाया कि जो अतिम प्रदेश जीवसज्ञा को प्राप्त करता है, वह गुणो मे एकादि प्रदेशो के समान ही है, अत. जिस प्रकार एकादि प्रदेश अजीव है उसी

---

१ इस शब्द की व्याख्या "जैनतत्त्वज्ञान" प्रकरण मे देखिए।

२ स्थानागसूत्र, टीका अभयदेव, ५८७ पृ० ३८९-३९०

३ "श्रमण भगवान् महावीर", चतुर्थ परिच्छेद पृ० २५६

प्रकार अतिम प्रदेश भी अजीव माना जायगा। इस कारण तुम्हारे मत मे जीव का अभाव हो हो जाएगा। तिष्यगुप्त को गुरु की यह बात समझ में नही आई और वह दुराग्रह के कारण सघ से वहिष्कृत कर दिया गया। ये 'जीवप्रदेशिक धर्माचार्य' कहे जाते थे।[१]

आषाढ़—आषाढ़ एक साधु थे। हृदय-शूल के कारण वे मृत्यु को प्राप्त हुए तथा अपने ही मृत शरीर मे प्रविष्ट होकर वे अपने शिष्यो को पढाते रहे। कार्य पूर्ति के बाद एक दिन शिष्यों से बोले कि "हे शिष्यो, मैं साधु नही, देव हूँ, अत मुझे क्षमा करना कि अब तक मैने तुम लोगो से अपनी स्तुति, वन्दना कराई।" शिष्य अपने आचार्य को असयत (सयमहीन) देव जानकर बड़े आश्चर्यचकित हुए और तब से लेकर वे अवक्तव्य-मतवादी हो गए। उनका कहना था कि "यह नही कहा जा सकता कि अमुक व्यक्ति साधु है अथवा देव, इसी तरह देवता के सम्बन्ध में भी कहा नही जा सकता कि वह देव है अथवा अदेव।" ये "अवक्तव्य-मत-धर्माचार्य" कहे जाते थे।

अश्वमित्र—इनका मत था कि "प्राणी की उत्पत्ति के बाद उसका सर्वथा नाश हो जाता है, अत सुकृत और दुष्कृत रूप कर्म का वेदन नही हो सकता।" ये "सामुच्छेदिक धर्माचार्य" कहे जाते थे।[२]

गंग—ये एक समय उल्लुका नदी पार कर रहे थे, ऊपर सूर्य की उष्णता से सिर मे गर्मी लगी तथा नीचे जल की शीतलता से पैर मे ठड। अत. उन्होने सोचा कि यह कहना गलत है कि एक समय मे एक ही क्रिया का वेदन (अनुभवन) होता है। मुझे एक ही समय मे दोनो क्रियाओ का अनुभव हो रहा है। ये "द्वैक्रिय-धर्माचार्य" कहे जाते थे।[३]

षडुलुक—षडुलुक मानते थे कि ससार मे केवल जीवराशि तथा अजीवराशि ये दो ही राशियाँ नही है।[४] किन्तु "नोजीवराशि" नाम की एक तीसरी राशि भी है। नोजीवराशि का उदाहरण पूछे

---

१ स्थानाग, टी०, २८७, पृ० ३९०

२ वही, ,, पृ० ३९१

३. वही, ,, पृ० ३९२अ.

४. महावीर का कहना था कि राशि दो है, जीवराशि तथा अजीवराशि। (समवायाग, २, स्थानाग, ५७)

जाने पर वे कहते थे कि यह राशि दृष्टान्तसिद्ध है। जैसे एक वश-खड के तीन हिस्से होते है—आदि, अत तथा मध्य, इसी प्रकार ससार की सभी वस्तुएँ तीन राशि वाली है। ये "त्रैराशिक धर्माचार्य" के नाम से प्रसिद्ध थे।[1]

गोष्ठामाहिल

गोष्ठामाहिल का मत था कि जिस प्रकार शरीर से कचुकादि (कुरता) का स्पर्शमात्र होता है उसी प्रकार आत्मा तथा कर्म, दोनो का परस्पर केवल स्पर्श होता है, बधन नही। ये "अवद्धिक धर्माचार्य" कहे जाते थे।[2]

कुछ अन्य सम्प्रदाय

१ **अत्तुक्कोसिय**—इस सम्प्रदाय के साधु वडे स्वाभिमानी होते थे।

२ **भूइकम्मिय**—ये लोग भस्म द्वारा दूसरो के ज्वर आदि दूर किया करते थे।

३ **भुज्जो भुज्जो कोउयकारक**—ये लोग सौभाग्य प्राप्ति के लिए मंगल स्नान आदि का प्रचार करते थे। इन्हे "आभियोगिय" भी कहा जाता था।

४. **चण्डिद्देवग**—ये लोग अपने पास एक छोटी सी तलवार (सिक्कक) धार्मिक सपत्ति के रूप मे रखते थे।

५. **दगसोयरिय**—ये सुइवाई (शुचिवादी) भी कहलाते थे। यदि स्नान के वाद इन्हें कोई छू लेता तो ये चौसठ वार स्नान करते थे। मथुरा के नारायण कोट्ठ मे एक "दगसोयरिय" साधु रहता था। गोवर ग्रहण करके तीन दिन के उपवास की समाप्ति का छल उसने किया था। वह स्त्री शब्द का प्रयोग नही करता था, और चुप रहता था। लोग उसके आचरण से इतने प्रभावित थे कि वे उसे वस्त्र तथा भोजन-पान दिया करते थे। मलयगिरि के अनुसार ये साधु साख्य-मत के मानने वाले थे।

६ **धम्मचिंतक**—ये लोग याज्ञवल्क द्वारा निवद्ध धर्म सहिता के चितन मे व्यस्त होकर निरतर धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करते रहते थे।

---

१. सूत्रकृताग टी०, पृ० ३८२अ

२. सूत्रकृताग, टी० १. १२ पृ० २०९.

७ गीयरइ—ये लोग प्रेमानन्द मे विभोर होकर सगीत मे तन्मय रहते थे।

८ गोअम—ये लोग एक सुन्दर जवान बैल को रगो से चित्र-विचित्र करके उसे कौडियो से सजाकर उसके द्वारा लोगो का मनोरजन करते हुए आजीविका कमाते थे। इनका भोजन चावल मात्र था।

९ कम्मार-भिक्खु—ये लोग अपने आराध्यदेव की प्रतिमा लेकर भ्रमण किया करते थे।

१० कुच्चिय—ये लोग लम्वी दाढी तथा मूछे रखते थे।

११ परपरिवाइय—ये लोग अन्य साधुओ की निन्दा किया करते थे।

१२. पिण्डोलग—ये लोग वहुत मैले रहते थे। इनके शरीर मे जूँ तक रेगने लगती थी। इनके देह से वहुत दुर्गन्ध आती थी। एक पिण्डोलग साधु ने "वेभार" नामक पर्वत पर एक चट्टान के नीचे दव कर अपने को समाप्त कर दिया था।

१३ ससरक्ख—ये लोग इन्द्रजाल विद्या मे निपुण होते थे, और वरसात के लिए धूलि का सग्रह कर लिया करते थे। ये नग्न रहते थे तथा हाथ पर ही भोजन करते थे।

१४. वणीमग—ये लोग भोजन के अति लोभी होते थे और अपने को शाक्य आदि का भक्त वताकर भिक्षावृत्ति किया करते थे। अपनी अवस्था वहुत ही करुण वनाकर तथा अनेक प्रकार की चाटुतापूर्ण वाते करके, ये लोगो के हृदय को द्रवीभूत किया करते थे।

१५ वारिभद्रक—ये लोग पानी तथा काई पर जीवन निर्भर रखते थे। ये हमेशा स्नान तथा पगधावन मे ही व्यस्त रहते थे।

१६ वारिखल—ये लोग अपने पात्र को वारह वार मिट्टी से रगडते थे।[1]

सघ तथा शिष्य-परम्परा

यो तो जैन-धर्म और जैन-सघ महावीर से भी प्राचीन है, क्योकि तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने महावीर से भी पहिले उनकी स्थापना की थी।

---

१ ला०. इन०. ए०. इ०, पृ० २१५.

किन्तु महावीर के समय तक लोक-परिस्थिति इतनी वदल गई थी कि उस प्राचीन जैन-सघ का पुनरुद्धार आवश्यक था। महावीर के "वीरसघ" की चतुर्विध व्यवस्था ने उस आवश्यकता को पूर्ण किया। भगवान् की शरण मे अनेक भव्य प्राणी आए थे। कोई श्रमण हुआ, किसी ने उपासक के व्रत धारण किए। पुरुप ही नही, स्त्रियो को भी सघ मे अपने भाग्य-निर्माण का अवसर प्राप्त हुआ। अनेक रमणियो ने महाव्रत धारण किए और वे आर्यिका वनी। जिनकी गृहस्थी से ममता वनी रही, वे अणुव्रतो का पालन करती हुई अपने विकास मे तत्पर रही।

इस प्रकार महावीर के भक्त दो प्रकार के थे—गृहत्यागी और गृहवासी। गृहवासी भक्त उपासक तथा उपासिकाएँ थी, जो व्रती और अव्रती (मात्र सम्यग् दृष्टि) दोनो तरह के थे परन्तु गृह-त्यागी भक्त जो अधिकतर भगवान् के साथ विहार किया करते थे, श्रमण तथा आर्यिकाएँ थी। अत वीर-सघ चतुर्विध रूप था, जिसके अग थे १ श्रमण, २ आर्यिका, ३ उपासक, ४ उपासिका।[१]

कल्पसूत्र मे "वीर-सघ" के चारो अगो का उल्लेख मिलता है। उस सघ मे १४ हजार श्रमण थे, जिनमे सवसे प्रधान श्रमण इन्द्रभूति थे। ३६ हजार भिक्षुणी अर्थात् आर्यिकाएँ उस सघ मे थी, जिनमे सव से प्रधान आर्यिका चदना थी। १ लाख ५९ हजार उपासक उस सघ के अग थे, जिनमे सवसे प्रधान उपासक शखशतक थे। ३ लाख १८ हजार उपासिकाएँ उस सघ मे थी, जिनमे सवसे प्रधान उपासिका सुलसा थी।

इसके अतिरिक्त उनके सघ मे १४ पूर्वगत ज्ञान के धारी ३०० साधु, अवधिज्ञान के धारी १३०० साधु, केवलज्ञान के धारी ७०० साधु, ७०० ऋद्धिधारी, ५०० मन पर्यय-ज्ञानधारी, ४०० वादी—शास्त्रार्थी तथा ८०० एकभवी (एक भव के वाद मुक्ति पाने वाले) साधु थे।[२]

उनके उपदेश को सुनकर वीरागक, वीरयश, सजय, एणेयक, सेय, शिव, उदयन[३] और शख—इन ८ समकालीन राजाओ ने प्रव्रज्या

---

१ स्थानाग ३६३.

२ जैन-सूत्राज् भाग १ (कल्पसूत्र), "ला० ऑफ महावीर", पृ० २६७

३ भगवती सूत्र १२ २.

अगीकार की थी। अभयकुमार,[१] मेघकुमार[२] आदि अनेक राजकुमारो ने भी घर छोडकर व्रतो को अगीकार किया था। स्कधक प्रमुख अनेक तापस भी तप का रहस्य जानकर भगवान् के शिष्य बन गए थे। अनेक स्त्रियाँ भी ससार की असारता को जानकर उनके श्रमणी-सघ मे सम्मिलित हुई थी, जिनमे अनेक तो राजपुत्रियाँ भी थी। उनके गृहस्थ अनुयायियो में मगधराज श्रेणिक,[३] कुणिक,[४] वैशाली-पति चेटक,[५] अवन्तिपति चण्डप्रद्योत,[६] आदि प्रमुख थे। आनन्द[७] आदि वैश्य श्रमणोपासको के अतिरिक्त शकडाल पुत्र[८] जैसे कुम्भकार भी उपासक सघ मे सम्मिलित थे। अर्जुनमाली जैसे दुष्ट से दुष्ट हत्यारे भी उनके पास वैर त्याग कर, शांति रस का पान कर तथा क्षमा को धारण कर दीक्षित हुए थे। शूद्रो और अतिशूद्रो[९] को भी उनके सघ मे स्थान था।

उनका सघ राढादेश, मगध, विदेह, काशी, कोशल, सूरसेन, वत्स, अवन्ती, आदि देशो मे फैला हुआ था। उनके विहार के मुख्य क्षेत्र मगध, विदेह, काशी, कोशल, राढादेश, और वत्स थे।[१०]

गण तथा गणधर

महावीर ने अपनी श्रमण-सस्था को व्यवस्थासौकर्य की दृष्टि से ९ गणो मे विभक्त कर दिया था, और इनके नियमन के लिए ११ प्रधान शिष्यो को नियत किया था, जो "गणधर' नाम से प्रसिद्ध थे। गणधरो के जीवन आदि का सक्षिप्त वृत्तान्त हमे कल्पसूत्र, आवश्यक

---

१ आवश्यक चूर्णि, पृ० ११५.
२ नायाधम्मकहाओ, १.
३ उत्तराध्ययन, २०
४ औपपातिक सूत्र, १२
५ आवश्यक चूर्णि, २, पृ० १६४.
६ वही, पृ० ४०१
७ उवासगदसाओ, १.
८ वही, ७
९ उत्तराध्ययन, १२.
१०. भगवान् महावीर, पृ० ८.

निर्युक्ति आदि सूत्रो मे प्राप्त होता है। उनका जीवन वृत्तान्त निम्न प्रकार है—

इन्द्रभूति गौतम महावीर के सवसे प्रधान शिष्य थे। ये मगध देशान्तरगत गोव्वरगाम (गोवर ग्राम) के निवासी गौतम-गोत्रीय ब्राह्मण वसुभूति के पुत्र थे। इन्द्रभूति वैदिक धर्म के प्रखर विद्वान् और अध्यापक थे। एक समय वे पावा-मध्यमा निवासी सोमिलार्य के निमत्रण पर, अपने ५०० शिष्यो के साथ उनके यज्ञोत्सव में सम्मिलित होने के लिए गए। उधर ऋजुवालिका के तट से विहार कर महावीर भी पावा-मध्यमा मे पधारे। इन्द्रभूति वादी वनकर महावीर को पराजित करने के लिए उनकी धर्मसभा मे गए, पर उन्होने इन्द्रभूति को उनके सदिग्ध वेद पदो का वास्तविक अर्थ समझाकर उनके समस्त शिष्यो के साथ अपना शिष्य वना लिया। दीक्षा के समय इन्द्रभूति की अवस्था ५० वर्ष की थी। ये महान् तपस्वी, विनीत तथा गुरु-भक्त श्रमण थे। जिस रात्रि मे महावीर का निर्वाण हुआ उसी रात्रि के अत मे इन्द्रभूति को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ था।[1] इसके वाद वे १२ वर्ष तक जीवित रहकर महावीर के उपदेशो का प्रचार करते रहे। अत मे अपनी आयु समाप्त होती देखकर, इन्द्रभूति ने अपना गण आर्य सुधर्मा को सम्हलाया और मासिक अनशन के वाद ९२ वर्ष की अवस्था मे निर्वाण प्राप्त किया।

अग्निभूति तथा वायुभूति, इन्द्रभूति के छोटे भाई थे। ये दोनो भी इन्द्रभूति के समान सोमिलार्य ब्राह्मण के यज्ञोत्सव मे सम्मिलित होने के लिए अपने ५०० शिष्यो के साथ महावीर के निकट आए थे और अपने सदिग्ध वेद पदो का तात्त्विक अर्थ समझकर उनके शिष्य वन गए थे। महावीर ने इन्हे विद्वान् एव अत्यन्त योग्य समझकर क्रमश द्वितीय तथा तृतीय गणधर वनाया।

चौथे तथा पॉचवे गणधर आर्यव्यक्त तथा सुधर्मा थे। ये कोल्लाग सन्निवेश निवासी तथा क्रमश भारद्वाज गोत्रीय तथा अग्नि-वेश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। ये दोनो अध्यापक थे और इनके शिष्यो की सख्या भी ५००-५०० थी। पावा-मध्यमा में महावीर के मुख से

---

१ जैन सूत्राज् भाग १ (कल्प सूत्र, १२७, पृ० २६६).

अपनी गूढ शकाओ का समाधान पाकर ये दोनो उनके धर्म मे दीक्षित हो गए थे ।

छठे गणधर का नाम मडिक है । मडिक मौर्यसन्निवेश के रहने वाले वशिष्ठ गोत्रीय विद्वान् ब्राह्मण थे । इनके ३५० शिष्य थे । सातवे गणधर मौर्यपुत्र, काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे । इनका निवास-स्थान भी मौर्यसन्निवेश था । ये भी ३५० छात्रो के अध्यापक थे । महावीर के अष्टम गणधर का नाम अकम्पित था । ये मिथिला निवासी गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे । इनके ३०० शिष्य थे । नवे, दशवे तथा ग्यारहवे गणधरो के नाम अचलभ्राता, मेतार्य तथा प्रभास है । इनमे अचलभ्राता हारीत गोत्रीय, तथा अन्य दोनो कौण्डिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे । इन तीनो विद्वान् अध्यापको के प्रत्येक के ३०० शिष्य थे । ये सभी विद्वान् सोमिलार्य के निमत्रण पर उनके यज्ञ मे सम्मिलित होने के लिए गए थे, जहाँ पर उनकी महावीर से भेट हुई और उनके उपदेश से प्रभावित होकर वे उनके शिष्य हो गए तथा उनसे प्रव्रज्या धारण की ।

कल्प-सूत्र मे उपर्युक्त सभी गणधरो के नाम निम्न प्रकार है— १ इदभूइ (इन्द्रभूति), २ अग्गिभूइ (अग्निभूति), ३ वाउभूइ (वायुभूति), ४ अज्जवियत्त (आर्यव्यक्त), ५ अज्जसुधम्म (आर्य-सुधर्मा), ६ मण्डिय (मडिक), ७ मोरियपुत्त (मौर्यपुत्र), ८ अकम्पिय (अकपित), ९. अयलभाया (अचलभ्राता), १० मेइज्ज (मेतार्य), तथा ११. पभास (प्रभास) ।[1]

शिष्य-परम्परा

महावीर अपने जीवनकाल मे चतुर्विध सघ के प्रधान थे । उनके निर्वाण के वाद स्थविर आर्य सुधर्मा सघ नायक हुए और वे २० वर्षो तक सघ का अधिपतित्व करते रहे । सुधर्मा के वाद आर्य जम्वू सघ के नायक वने । वे सवसे अतिम केवली थे । जम्बू के वाद क्रम से प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र और सभूतिविजय ने सघ का नेतृत्व किया । इसके वाद भद्रवाहु सघ के नेता हुए, इनके समय मे भारत-वर्ष मे वहुत वडा अकाल पडा । भद्रवाहु के वाद स्थूलभद्र ने सघ का

---

१ जैनसूत्राज् भाग १ (कल्पसूत्र), "लिस्ट आफ स्थविराज्", पृ० २८६-२८७

संचालन अपने हाथ मे लिया। वे नवे नद के प्रधान मत्री शकटाल के पुत्र थे, ऐसा माना जाता है। स्थूलभद्र बहुत समय तक जैन सघ के प्रधान रहे। जम्बू के बाद छह आचार्य श्रुतकेवली कहे गए है।[1]

स्थूलभद्र के बाद आर्य महागिरि संघपति हुए। उन्होने नग्नवेश को धारण कर प्राचीन जिनकल्प परम्परा का उद्धार किया। स्थूलभद्र के बाद आर्य सुहस्ति ने जिन सघ का नेतृत्व किया। ऐसा कहा जाता है कि इन्होने राजा अशोक के पौत्र एव उत्तराधिकारी राजा "सम्पई" (सम्प्रति) को जैनधर्म में परिवर्तित किया था। राजा सम्प्रति जैनधर्म के अत्यन्त भक्त थे और उन्होने अनार्य देशो मे जैनधर्म के प्रचार मे पर्याप्त सहयोग दिया था।

आर्य सुहस्ति के बाद आर्य सुस्थित, सुप्रतिबुद्ध तथा इन्द्रदत्त क्रमश जैन-सघ के प्रधान बने। इनके बाद सुप्रसिद्ध आचार्य कालकाचार्य ने सघ का शासन किया। इन्होने अपने समय मे सीथियन राजाओ की सहायता से राजा गर्दभिल्ल को परास्त किया था।[2] ये राजा शातवाहन के समकालीन माने जाते है।

इसके बाद प्रभावशाली आचार्यो मे आर्य वज्र का नाम प्रधान है। वे सबसे अतिम दशपूर्वधारी आचार्य माने गए है। ऐसा माना जाता है कि तत्कालीन पाटिलपुत्र के राजा ने उनका बडे महोत्सव के साथ सम्मान किया था। उनके समय मे दो बार देश मे लम्बे समय का अकाल पडा। पहली बार उत्तरापथ मे, दूसरी बार दक्षिणापथ मे। अपनी आयु के अतिम दिनो मे आर्य वज्र रैवतक पर्वत पर गए और अन्न-जल का त्याग कर निर्वाण प्राप्त किया।[3]

आर्य वज्र के बाद आर्य रक्षित ने सघ का नेतृत्व ग्रहण किया। वे नवपूर्व के ज्ञाता थे। बाद के आचार्यो मे उमास्वाति, कुन्दकुन्द, सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, हरिभद्र, अकलक, विद्यानद तथा हेमचन्द्र के नाम प्रधान है। सभी आचार्य जैनधर्म के पूर्ण मर्मज्ञ थे और

---

१ निशीथ चूर्णि, ५, पृ० ४३७.

२ निशीथ चूर्णि, १० पृ० ५७१

३ आवश्यक चूर्णि, पृ० ३९०-३९६, ४०४

उन्होने जैनधर्म को स्थायी करने के लिए अनेक ग्रन्थो की रचना की। हेमचन्द्र कलिकाल सर्वज्ञ माने गए है। वे अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनका समय ११२१ ई० है। उन्ही के समय मे राजा कुमारपाल ने जैनधर्म अगीकार किया और उसे गुजरात में राजधर्म का पद प्राप्त कराया। तव से जैनधर्म निरतर ह्रास पर है।[1]

१ ला० इन० ए० इडिया, पृ० ३०.

तृतीय अध्याय

जैन-तत्त्वज्ञान

तत्त्वज्ञान

विश्व के वाह्य और आतरिक स्वरूप के सबध मे तथा उसके सामान्य एव व्यापक नियमो के संवध में जो तात्त्विक दृष्टि से विचार किए जाते है, उनका नाम तत्त्वज्ञान है। इस प्रकार से विचार करना मनुष्यत्व का विशिष्ट स्वरूप है, अतएव प्रत्येक देश में निवास करने वाली प्रत्येक प्रकार की मानव-प्रजा मे ये विचार अल्प या अधिक अश में उद्भूत होते है।

मनुष्य जाति जव प्रकृति की गोद मे आई और उसने सवसे पहिले वाह्य विश्व की ओर आँखे खोली, तव उसके समक्ष अद्भुत और चमत्कारी वस्तुएँ तथा घटनाएँ उपस्थित हुई। एक ओर सूर्य, चन्द्र और अगणित तारामडल तथा दूसरी ओर समुद्र, पर्वत, विशाल नदीप्रवाह, मेघगर्जनाएँ और विद्युतचमत्कारो ने उसका ध्यान आर्कषित किया। मनुष्य का मानस इन सव स्थूल पदार्थो के सूक्ष्म चिन्तन मे प्रवृत्त हुआ और उसके हृदय में इस सवध मे अनेक प्रश्न उद्भूत हुए। जिस प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क में वाह्य विश्व के गूढ तथा अति सूक्ष्म स्वरूप के विषय मे और उनके सामान्य नियमो के विपय में विविध प्रश्न उत्पन्न हुए, उसी प्रकार आतरिक विश्व के गूढ और अति सूक्ष्म स्वरूप के विषय मे भी उसके मन मे विविध प्रश्न उठे।[1] इन प्रश्नो की उत्पत्ति ही तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का प्रथम सोपान है।

पूर्वी तथा पश्चिमो तत्त्वज्ञान की प्रकृति की तुलना

पूर्वी हो या पश्चिमी, सभी तत्त्वज्ञान केवल जगत्, जीव और ईश्वर के स्वरूप चिन्तन में ही पूर्ण नही होते, परन्तु वे अपने प्रदेश

---

१. अनेक मनुष्यो को यह ज्ञान नही है कि वे कहाँ से आये है और कहाँ जाने वाले हैं ? उनकी आत्मा जन्मजन्मान्तर को प्राप्त करती है या नही ? —आचाराग १ १ १—३

मे चारित्र का प्रश्न भी हाथ मे लेते है। अल्प या अधिक अग मे प्रत्येक तत्त्वज्ञान अपने मे जीवन-शोधन की विविध मीमासा का समावेश करता है, फिर भी पूर्वी तथा पश्चिमी तत्त्वज्ञान के विकास मे हम थोडी भिन्नता भी देखते है।

ग्रीक तत्त्व-चिन्तन का प्रारभ केवल विश्व के स्वरूप सवधी प्रश्नो से होता है और आगे जाकर क्रिश्चियेनिटी के साथ इसका सवध होने पर इसमे जीवन-शोधन का भी प्रश्न समाविष्ट होता है। परन्तु आर्य-तत्त्वज्ञान के इतिहास मे हम एक विशेपता देखते है, और वह यह कि मानो इस तत्त्वज्ञान का प्रारभ ही जीवन-शोधन के प्रश्न से हुआ हो, क्योकि आर्य-तत्त्वज्ञान की वैदिक, वौद्ध और जैन—इन तीन मुख्य शाखाओ मे समान रीति से विश्वचिन्तन के साथ ही जीवन-शोधन का चिन्तन सकलित है। आर्यावर्त का कोई भी दर्शन ऐसा नही कि जो केवल विश्व-चिन्तन करके ही सतोष धारण करता हो। हम देखते है कि प्रत्येक मुख्य या शाखारूप आर्य दर्शन जगत्, जीव और ईश्वर सवधी अपने विशिष्ट विचार दिखला करके अत मे जीवन-शोधन के प्रश्न को भी लेता है और जीवन-शोधन की प्रक्रिया दिखला कर के विश्रान्ति लेता है।[1] इसलिए हम प्रत्येक आर्य दर्शन के मूल ग्रन्थ मे प्रारभ मे मोक्ष का उद्देश्य और अत मे उसका ही उपसहार देखते है।[2]

जैन-तत्त्वज्ञान

(अ) **पदार्थ-निरूपण**—जैनागम मे सद्भाव-पदार्थ ९ माने गए है—१ जीव, २. अजीव. ३. आस्रव, ४ वध, ५ सवर, ६ निर्जरा, ७ मोक्ष, ८ पुण्य तथा ९ पाप।[3]

---

१ जैन-तत्त्वज्ञान, पृ० ६.

२ वेदान्तसार, प्रारभ "अखड सच्चिदानदमवाड्मानसगोचरम्,
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये।"
समाप्ति "विमुक्तश्च विमुच्यते, इत्यादि श्रुते"
साख्यकारिका—प्रारभ "दु खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ",
समाप्ति 'ऐकान्तिकमात्यन्तमुभय कैवल्यमाप्नोति'
तर्कभापा—प्रारभ "तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगम"

३ स्थानांग, २, ७ १०, १३, १४, १६, ६६५ समवायाग, १

पदार्थ-व्यवस्था की दृष्टि से यह विश्व द्रव्यमय है, किन्तु मुमुक्षु पुरुष के लिए, जिनको तत्त्वज्ञान की आवश्यकता मुक्ति के लिए है, वे पदार्थ ९ माने गए है। जिस प्रकार रोगी को रोग-मुक्ति के लिए रोग, रोग का कारण, रोग-मुक्ति और रोग-मुक्ति का उपाय—इन चार बातो का जानना चिकित्सा-शास्त्र मे आवश्यक बताया गया है, उसी प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के लिए ससार, ससार के कारण, मोक्ष और मोक्ष का उपाय—इस मूलभूत चतुर्व्यूह का जानना परमावश्यक है।

जीव तथा अजीव ये दो पदार्थ मिलकर ही ससार कहे जाते है।[1] चेतना लक्षण जीव है और इसके विपरीत अजीव है। पुण्य, पाप तथा आस्रव, बध-ये चार पदार्थ ससार के कारण है। मन, वचन तथा काय की शुभ प्रवृत्ति पुण्य और अशुभ प्रवृत्ति पाप कहलाती है। पाप की तरह पुण्य भी ससार का कारण है क्योकि प्रवृत्ति मात्र, चाहे शुभ-रूप हो चाहे अशुभ-रूप, कर्मागमन मे कारण होती है। मुक्ति के लिए तो प्रवृत्ति-निरोध ही आवश्यक है। पुण्य तथा पाप के द्वारा कर्मरूप पुद्गल परमाणुओ का आत्मा के समीप आगमन होता है, वही आस्रव कहलाता है। आस्रव कर्मागमन का द्वार है। जीव और कर्म का परस्पर मे सश्लिष्ट हो जाना बध है। जीव का समस्त कर्म-बन्धनो से मुक्त हो जाना मोक्ष है। सवर तथा निर्जरा, ये दो पदार्थ मोक्ष के कारण है। आस्रव के रोकने को सवर कहते है, सवर नवीन कर्मो के आगमन का द्वार बद कर देता है। बधे हुए कर्मो को तप के द्वारा नष्ट कर देना निर्जरा है।[2]

१. **जीव**—जैसा कि हम पहिले कह चुके है, इस ससार मे दो पदार्थ ही पूर्ण रूप से व्याप्त है, जीव तथा अजीव।[3] इन दोनो पदार्थो से भिन्न ससार नाम की कोई वस्तु है ही नही। नव पदार्थो मे ये दो

---

१ समवायाग, १०३

२ बौद्ध-दर्शन मे जो दु ख, समुदय, निरोध और मार्ग—चार आर्यसत्य हैं, (अभिधर्मकोष, ६, २) और साख्य तथा योगदर्शन मे हेय, हेय-हेतु, हान, और हानोपाय चतुर्व्यूह है जिसे न्यायदर्शन मे "अर्थपद" कहा गया है। इनके स्थान मे आस्रव से लेकर मोक्ष तक के पाँच तत्त्व जैन-दर्शन मे प्रसिद्ध हैं। —जैनदर्शन, पृ० २१४

३ स्थानाग, ५७

ही मूल पदार्थ है, क्योकि इन दोनो को लेकर ही अन्य पदार्थों की कल्पना हुई है।

जीव का लक्षण चैतन्य है। जिसमे चेतना गुण—जानने, देखने, अनुभव करने की शक्ति पाई जाती है, वही जीव है। साख्य भी चेतना को पुरुष का स्वरूप मानता है।[१] ज्ञान और दर्शन—ये जीव के दो विशिष्ट गुण है।[२] प्रत्येक सचेतन प्राणी अपने समक्ष उपस्थित वस्तु का प्रथम दर्शन करता है, और उसके पश्चात् ज्ञान। दर्शन, ज्ञान का पूर्व रूप है। इस प्रकार ज्ञान तथा दर्शनरूप चैतन्य से युक्त प्राणी ही जीव सज्ञा को प्राप्त करता है।

जीव के भेद—ससार तथा मुक्ति की अपेक्षा जीव के दो भेद किए गए है, सिद्ध तथा असिद्ध।[3] सिद्ध वे जीव है जो कर्मो का पूर्ण विनाश करके ससार को छोडकर मुक्तिगामी हो चुके है और असिद्ध वे है जो अभी कर्मबधन के कारण ससार मे पडे हुए है। इन्हे क्रमश असमार-समापन्नक तथा ससारसमापन्नक कहा गया है।[४] सिद्ध जीवो मे तो कोई भेद होता नही है, क्योकि सभी समान गुण-धर्म वाले होते है।

गति—ससारी जीव जिन-जिन अवस्थाओ मे निरन्तर गमन (भ्रमण) करता है वे गति कहलाती है। गति चार है—१ नरकगति, २ तिर्यचगति, ३ मनुष्यगति, तथा ४. देवगति।[५] गति की दृष्टि से ससारी जीव के ४ भेद किए गए है—१ नारकी, २ तिर्यच, ३ मनुष्य तथा ४ देव।[६]

पृथ्वी के नीचे सात नरक है,[७] उनमे जो जीव निवास करते है, वे नारकी कहलाते है। स्वर्गो मे जो निवास करते है वे देव है।[८] जो

---

१ साख्यकारिका,

२ स्थानाग, १०४

३ वही, १०१

४ वही, ५७

५ वही, २६७

६ वही, ३६५, २९४

७ स्थानाग, ५४६,

८ वही, २५८,

नरक और स्वर्ग के वीच मध्यलोक मे निवास करते है तथा जिन्होने मनुष्य-योनि में जन्म पाया है वे मनुष्य है। देव, नारकी तथा मनुष्य को छोड़ जितने ससारी जीव है वे सव तिर्यच कहलाते है।

इन्द्रिय—प्राणी को जो अर्थ ग्रहण (ज्ञान) मे सहायक होती हैं वे इन्द्रियाँ कही जाती है। इन्द्रियाँ ५ हैं—१ स्पर्शन, २ रसना, ३ घ्राण, ४. चक्षु, तथा ५ श्रोत्र।

स्पर्शन इन्द्रिय वस्तु का स्पर्श करके पदार्थ को जानती है। समस्त शरीर मे व्याप्त त्वक् (चर्म) ही स्पर्शन इन्द्रिय है। जो वस्तु का स्वाद लेकर पदार्थ का ज्ञान करती है वह रसनेन्द्रिय है। घ्राणेन्द्रिय वस्तु की गध को ग्रहण करती है। चक्षु इन्द्रिय का कार्य वस्तुरूप को देखना है तथा श्रोत्रेन्द्रिय का कार्य वस्तु के शब्द को सुनना है।

इन्द्रिय की अपेक्षा ससारी जीव पाच प्रकार के होते है—१ एकेन्द्रिय, २ द्वीन्द्रिय, ३ त्रीन्द्रिय, ४ चतुरिन्द्रिय, तथा ५ पचेन्द्रिय। इन्द्रियो के गणन मे इनका क्रम अपना विशेष महत्त्व रखता है। एकेन्द्रिय जीव वे है, जिनके केवल एक इन्द्रिय, अर्थात् प्रथम (स्पर्शन) इन्द्रिय ही है। द्वीन्द्रिय जीव वे है जिनके दो इन्द्रियाँ अर्थात् प्रथम तथा द्वितीय (स्पर्शन एवं रसना) इन्द्रियाँ है। त्रीन्द्रिय जीव वे है जिनके प्रथम, द्वितीय एव तृतीय (स्पर्शन, रसना तथा घ्राण) इन्द्रियाँ है। चतुरिन्द्रिय जीव वे हैं जिनके प्रथम, द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ (स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा चक्षु) इन्द्रियाँ है, और पचेन्द्रिय जीव वे है जिनके उपर्युक्त पाँचो ही इन्द्रियाँ है।[1]

इन्द्रियो को दृष्टि मे रखकर ससारी जीव के अन्य प्रकार से भी भेद किए गए है। ससारी जीव दो प्रकार के हैं— त्रस तथा स्थावर। जिन जीवो के मात्र स्पर्शन इन्द्रिय होती है, वे स्थावर जीव कहे जाते है। पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक तथा वनस्पतिकायिक, इस प्रकार पाँच तरह के स्थावर है। दो-इन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के जीव त्रस कहे जाते है। जैनधर्म के अनुसार मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के अतिरिक्त पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति मे भी जीव है। मिट्टी मे कीडे आदि जीव तो है ही किन्तु मिट्टी-

---

१ स्थानाग, ४५८

ककड आदि स्वय भी पृथिवीकायिक जीवो के शरीर का पिण्ड है। इसी तरह जल मे यत्रो के द्वारा दिखाई देने वाले अनेक जीवो के अतिरिक्त जल स्वय जलकायिक जीवो के शरीर का पिण्ड है, यही बात अग्निकाय आदि के विपय मे भी जानना चाहिए।[1]

लट आदि जीवो के स्पर्शन और रसना, ये दो इन्द्रियाँ होती है। चीटी वगैरह के स्पर्शन, रसना और घ्राण, ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भौरे आदि के स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती है। इन इन्द्रियो के द्वारा वे जीव अपने-अपने योग्य स्पर्श, रस, गध, रूप और शब्द का ज्ञान करते है। मनुष्य प्रकृति का सर्वोच्च प्राणी है, उसके तथा सर्प, नेवला, पशु-पक्षी आदि के पाँचो ही इन्द्रियाँ होती हैं।

त्रस तथा स्थावर के पॉच उपभेदो को मिलाकर, छह जीव-निकाय (जीवसमुदाय) माने गए है। वे निम्न प्रकार हैं—१ पृथिवीकाय, २ अप्काय, ३. वायुकाय, ४ वनस्पतिकाय, तथा ५. त्रसकाय।[2] इन सभी प्रकार के जीवो का वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

जीवो के भेदो का इससे भी सूक्ष्म विवेचन जैनसूत्रो मे है। समवायाग[3] मे चौदह भूतग्राम (जीवो के समूह) कहे गए है। ये भेद जीवो के पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक, सूक्ष्म तथा बादर (स्थूल) एव सज्ञी तथा असज्ञी रूप को ध्यान मे रखकर किए गए हैं। पर्याप्तक जीव उन्हे कहते हैं जो जन्म से पूर्व शरीरादि छह पर्याप्तियो को पूर्ण कर लेते है। जो इन पर्याप्तियो को पूर्ण किए विना मृत्यु को प्राप्त हो जाते है वे अपर्याप्तक कहलाते है। एकेन्द्रिय जीवो मे सूक्ष्म तथा बादर भेद होते है। शेप जीवों के केवल स्थूल होने के कारण उनमे सूक्ष्म भेद नही पाया जाता। पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के है—असज्ञी तथा सज्ञी। असंज्ञी जीवो के मन नही होता और सज्ञी जीवो के मन होता है। मन का सद्भाव केवल पचेन्द्रिय प्राणियो मे ही है, अत सज्ञी-असज्ञी का भेद भी केवल उन्ही मे है। वे चौदह भूतग्राम निम्न प्रकार है—

---

१ आचाराग, १, १, (शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन)

२ समवायाग, ६ तथा स्थानाग ४८०

३. वही, १४

१ सूक्ष्म अपर्याप्तक एकेन्द्रिय (सुहुमा अपज्जत्तया एगिंदिया)
२ सूक्ष्म पर्याप्तक एकेन्द्रिय (सुहुमा पज्जत्तया एगिंदिया)
३ वादर अपर्याप्तक एकेन्द्रिय (वादरा अपज्जत्तया एगिंदिया)
४ वादर पर्याप्तक एकेन्द्रिय (वादरा पज्जत्तया एगिंदिया)
५. अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय (अपज्जत्तया वेइंदिया)
६ पर्याप्तक द्वीन्द्रिय (पज्जत्तया वेइंदिया)
७ अपर्याप्तक त्रीन्द्रिय (अपज्जत्तया तेंदिया)
८ पर्याप्तक त्रीन्द्रिय (पज्जत्तया तेंदिया)
९ अपर्याप्तक चतुरिन्द्रिय (अपज्जत्तया चउरिंदिया)
१० पर्याप्तक चतुरिन्द्रिय (पज्जत्तया चउरिंदिया)
११ असज्ञी अपर्याप्तक पचेन्द्रिय (असन्नि अपज्जत्तया पचिंदिया)
१२ असज्ञी पर्याप्तक पचेन्द्रिय (असन्नि पज्जत्तया पचिंदिया)
१३ सज्ञी अपर्याप्तक पचेन्द्रिय (सन्नि अपज्जत्तया पचिंदिया)
१४. सज्ञी पर्याप्तक पचेन्द्रिय (सन्नि पज्जत्तया पचिंदिया)

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन-दर्शन जीववहुत्ववादी है। वह प्रत्येक जीव की स्वतत्र सत्ता स्वीकार करता है। स्थानाग मे कहा गया है कि प्रत्येक शरीर के हिसाव से एक जीव है।[1] जीवो की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ को देखकर साख्य ने भी 'पुरुष' तत्त्व की अनेकता को स्वीकार किया है।[2]

शरीर—जीव के क्रिया करने के साधन को शरीर कहते है। ससारी जीवो के पाँच प्रकार के शरीर होते है—१ औदारिक, २ वैक्रिय, ३. आहारक, ४ तैजस, ५ कार्माण।

जो शरीर उदार (स्थूल) हो, जो जलाया जा सके, जिसका छेदन-भेदन हो सके वह औदारिक शरीर कहलाता है। जो शरीर कभी छोटा, कभी वडा, कभी पतला, कभी मोटा, कभी एक, कभी अनेक इत्यादि विविध प्रकार की विक्रिया कर सके वह वैक्रिय शरीर है। जो शरीर केवल किसी विशेष ऋद्धिधारी (चतुर्दशपूर्वी) मुनियो के द्वारा रचा जा सके, वह आहारक शरीर कहलाता है। जो शरीर तेजोमय होने के कारण ग्रहण किए हुए आहार आदि के परिपाक

---

१ स्थानाग, १७, तथा समवायाग, १
२ साख्यकारिका, १८ (पुरुषवहुत्व सिद्धम्)

का हेतु और दीप्ति का निमित्त हो वह तैजस शरीर है। क्षण-प्रतिक्षण ग्रहण किया जाने वाला कर्म का समूह ही कार्माण शरीर कहलाता है।

तैजस तथा कार्माण शरीर प्रत्येक ससारी जीव के होते है। औदारिक शरीर केवल देव तथा नारकियो के होता है। आहारक शरीर का निर्माण कोई विशेष ऋद्धिधारी मुनि ही कर सकते है। जव कभी चतुर्दशपूर्वपाठी मुनि को किसी सूक्ष्म विपय में सदेह हो जाता है और जव सर्वज्ञ का सन्निधान नही होता, तव वे अपना सदेह-निवारण करने के लिए औदारिक शरीर से क्षेत्रातर मे जाना असभव समझ कर अपनी विशिष्ट ऋद्धि का प्रयोग करते हुए जो हस्तप्रमाण छोटा शरीर निर्माण करते है, वह आहारक शरीर कहलाता है।[1]

जन्म—समूर्च्छन, गर्भ तथा उपपात के भेद से जन्म तीन प्रकार का है। जरायुज, अण्डज तथा पोतज प्राणियो के गर्भ जन्म होता है। जरायु अर्थात् गर्भवेष्टन के साथ जो प्राणी उत्पन्न होते है वे जरायुज कहलाते है, जैसे मनुष्य, गाय आदि। अण्डे से पैदा होने वाले जीव अण्डज कहलाते है, जैसे साप, मोर, चिडिया आदि। जो किसी प्रकार के आवरण से वेष्टित न होकर ही पैदा होते है वे जीव पोतज कहलाते है, जैसे हाथी, शशक, नेवला, चूहा आदि।

स्वर्ग तथा नरक मे देव तथा नारकियो के जन्म के लिए नियत स्थान-विशेष उपपात कहा जाता है। देव तथा नारकियो के उपपात जन्म होता है क्योकि वे उपपात-क्षेत्र मे स्थित वैक्रिय-पुद्गलो को शरीर के लिए ग्रहण करते है। इन दो जन्मो से अतिरिक्त जन्म वाले समस्त प्राणियो का जन्म समूर्च्छन जन्म कहलाता है।[2]

भाव—आत्मा के सभी पर्याय किसी एक ही अवस्था वाले नही पाए जाते। कुछ पर्याय किसी एक अवस्था मे है तो दूसरे कुछ पर्याय किसी दूसरी अवस्था मे। पर्यायो की वे भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ भाव कहलाती है। आत्मा के पर्याय अधिक से अधिक पाँच भाव वाले हो सकते हे। वे पाँच भाव निम्न प्रकार है—१ औपशमिक, २ क्षायिक, ३ क्षायोपशमिक, ४ औदयिक, ५ पारिणामिक।

औपशमिक भाव वह है जो कर्म के उपशम से पैदा होता है। उपशम एक प्रकार की आत्मशुद्धि है, जो कर्म का उदय विलकुल रुक जाने

---

१ समवायाग, १५२

२ स्थानाग, ८५, ५४३

पर वैसे ही होती है, जैसे मल नीचे बैठ जाने पर जल मे स्वच्छता होती है। क्षायिक भाव वह है जो कर्म के क्षय से पैदा होता है। क्षय आत्मा की वह परम विशुद्धि है जो कर्म का सम्बन्ध बिलकुल छूट जाने पर वैसे ही प्रकट होती है, जैसे सर्वथा मल निकाल देने पर जल मे पूर्ण स्वच्छता प्रकट हो जाती है। क्षायोपशमिक भाव कर्म के क्षय तथा उपशम दोनो से पैदा होता है। क्षयोपशम भी एक प्रकार की आत्मिक शुद्धि है, जो कर्म के एक अंश का क्षय होने पर प्रकट होती है। यह विशुद्धि वैसी ही मिश्रित है जैसे धोने से मादक शक्ति के कुछ क्षीण हो जाने और कुछ रह जाने पर कोदो की शुद्धि। औदयिक भाव वह है जो कर्म के उदय से उत्पन्न होता है। उदय एक प्रकार की आत्मिक मलिनता है जो कर्म के विपाकानुभाव से वैसे ही होती है, जैसे मल के मिल जाने पर जल मे मालिन्य हो जाता है। पारिणामिक-भाव द्रव्य का वह परिणाम है जो केवल द्रव्य के अस्तित्व से आप ही आप हुआ करता है, अर्थात् किसी भी द्रव्य का स्वाभाविक स्वरूप-परिणमन ही पारिणामिक भाव कहलाता है। ये ही पाँच भाव आत्मा के स्वरूप हैं, अर्थात् संसारी या मुक्त कोई भी आत्मा हो, उसके सभी पर्याय उक्त पाँचो भावो मे से किसी न किसी भाव वाले अवश्य होगे।[1]

लेश्या—क्रोध, मान, माया तथा लोभ-रूप कषाय के सद्भाव मे मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति को प्रेरित करने वाले आत्म-परिणाम लेश्या कहलाते है। लेश्या औदयिक भाव है, जो कि कर्म के उदय होने पर ही होती है। आत्मा के भाव असंख्य हो सकते है, इस दृष्टि से लेश्याएँ भी असंख्य हैं किन्तु व्यवहार के लिए उनको मुख्य रूप से छह भागो मे विभक्त किया गया है। वे छह भाग निम्न प्रकार हैं—१ कृष्ण लेश्या, २ नील लेश्या, ३. कापोत लेश्या ४ तेजो लेश्या, ५. पद्म लेश्या तथा ६ शुक्ल लेश्या।

कषाय की तीव्रता के कारण अतिमलिन आत्म-परिणाम कृष्ण-लेश्या है। कषाय की कुछ अल्पता हो जाने से मलिन आत्म-परिणाम नील लेश्या है। कापोत लेश्या मे परिणामो की मलिनता नील लेश्या की अपेक्षा और भी अल्प होती है। इसी प्रकार तेजस्, पद्म और

---

१ स्थानांग, ५३७

शुक्ल लेश्या में मलिनता की मात्रा अपेक्षाकृत अल्प से अल्पतर होती चली गई है।[1]

वेद—वेद लिंग को कहते हैं। ये तीन हैं—१ स्त्री वेद, २ पुरुष-वेद, ३ नपुंसक वेद।

ये तीनो वेद द्रव्य और भाव-रूप से दो-दो प्रकार के है। द्रव्य वेद का मतलब ऊपर के चिह्न से है और भाव-वेद का मतलब अभिलाषा विशेष से है। जिस चिह्न से पुरुष की पहिचान होती है वह द्रव्य पुरुष-वेद है और स्त्री के संसर्गसुख की अभिलाषा का भाव पुरुष-वेद है। स्त्री की पहिचान का साधन द्रव्य स्त्री-वेद, और पुरुष के संसर्ग-सुख की अभिलाषा का भाव—स्त्री-वेद है। जिसमे कुछ स्त्री के चिह्न और कुछ पुरुष के चिह्न हो वह द्रव्य नपुंसक-वेद और स्त्री-पुरुष दोनो के संसर्गसुख की अभिलाषा का भाव नपुंसक वेद है। नारकी-जीव तथा समूर्च्छन जन्म वाले जीव नपुंसक-वेद वाले होते है। शेष समस्त संसारी प्राणी तीनो वेद वाले होते है।[2]

ज्ञान[3]—ज्ञान के दो भेद है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। जो ज्ञान इन्द्रियो तथा मन की सहायता के विना केवल आत्मा से उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते है। इसके विपरीत इन्द्रिय तथा मन की सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद है—अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान। अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, इन्द्रिय तथा मन की सहायता के विना कुछ निश्चित अवधि तक के पदार्थो का ज्ञान अवधिज्ञान है। इसके दो भेद है—भवप्रत्ययावधि तथा क्षायोप-शमिकावधि।

जो अवधिज्ञान जन्म से प्राणियो को प्राप्त होता है उसे भव-प्रत्ययावधिज्ञान कहते है। यह ज्ञान देव तथा नारकियो के होता है। जो अवधिज्ञान तप आदि अनुष्ठान के द्वारा अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होता है उसे क्षायोपशमिकावधिज्ञान कहते

---

१ समवायांग, ६, स्थानांग, ५०४

२ समवायांग, १५६

३ "ज्ञान पाँच प्रकार का है—आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, तथा केवलज्ञान।" —स्थानांग, ४६३.

है। यह ज्ञान पचेन्द्रिय-तिर्यच तथा मनुष्यो के होता है। मन पर्यय-ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न, प्राणियो के मनोभावो को जानने वाला ज्ञान मन पर्ययज्ञान कहलाता है। इसके भी दो भेद है—ऋजुमति मन पर्यय तथा विपुलमति मन पर्यय। मनोभावो का सामान्य ज्ञान ऋजुमतिमन पर्यय तथा विशिष्टज्ञान विपुलमतिमन पर्यय कहलाता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति-मन पर्ययज्ञान विशुद्ध-तर है तथा वह मनोभावो के अधिक सूक्ष्म विशेषो को अधिक स्पष्ट रूप से जानता है। केवलज्ञानावरण कर्म के क्षय से वस्तु की भूत, भविष्यत् एव वर्तमान की समस्त पर्यायो को एक साथ जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान कहलाता है।[1] यह ज्ञान 'अरिहत' तथा 'सिद्ध' अवस्था मे उत्पन्न होता है।

परोक्षज्ञान दो प्रकार का है—आभिनिवोधिक तथा श्रुतज्ञान।

मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, इन्द्रिय तथा मन की सहायता द्वारा उत्पन्न ज्ञान आभिनिवोधिकज्ञान कहलाता है। श्रुत-ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से, इन्द्रिय तथा मन की सहायता पूर्वक मतिज्ञान के वाद उत्पन्न होने वाला विचारात्मकज्ञान श्रुतज्ञान कह-लाता है। श्रुतज्ञान के दो भेद है—अगवाह्य तथा अगप्रविष्ट। आचाराग आदि १२ अगशास्त्र अगप्रविष्ट श्रुतज्ञान है तथा इनसे अतिरिक्त उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि अनेक आगम ग्रन्थ अग-वाह्य श्रुतज्ञान है।[2]

नय—वस्तु को जानने के साधन दो है—प्रमाण तथा नय। प्रमाण वस्तु के पूर्ण रूप को ग्रहण करता है, और नय प्रमाण द्वारा गृहीत वस्तु के एक अश को जानता है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, प्रमाण समग्रभाव से ग्रहण करता है, उसमे अग-विभाजन की ओर उसका लक्ष्य नही होता। जैसे "यह घडा है" इस ज्ञान मे प्रमाण घडे को अखड भाव से उसके रूप, रस, गध, स्पर्श आदि अनन्त गुण-धर्मो का विभाग न करके पूर्णरूप मे जानता है, जव कि कोई भी नय उसका विभाजन करके "रूपवान् घट.", "रसवान् घट" आदि रूप मे उसे अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार जानता है।[3]

---

१ कल्पसूत्र, ५, १२७, पृ० २६६

२ स्थानाग (सूत्रवृत्ति—अभयदेव), ७१ पृ० ४५–४७ (व)

३. जैनदर्शन, पृ० ४७५

प्रमाण के आभिनिवोधिक आदि पॉच भेदो का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। नय के सात भेद हैं—१ नैगम, २ सग्रह, ३ व्यवहार, ४ ऋजुसूत्र, ५ गव्द, ६ समभिरूढ़ तथा ७ एवभूत।

नैगम नय— सकल्पमात्र को ग्रहण करने वाला नैगम नय होता है। जैसे कोई पुरुष दरवाजा वनाने के लिए लकड़ी काटने जगल जा रहा है। पूछने पर वह कहता है कि "मैं दरवाजा लेने जा रहा हूँ।" यहाँ दरवाजा वनाने के सकल्प मे ही "दरवाजा" व्यवहार किया गया है।

सग्रह नय—अनेक पर्यायो को एक द्रव्य के रूप से या अनेक द्रव्यो को सादृश्यमूलक एकत्वरूप से अभेदग्राही सग्रह नय होता है। जैसे—"सपूर्ण जगत सद्‌रूप है", क्योकि सत्तारहित कोई वस्तु है ही नही।

व्यवहार नय—सग्रह नय के द्वारा गृहीत अर्थ मे विधिपूर्वक, अविसवादी और वस्तुस्थितिमूलक भेद करने वाला व्यवहार नय है। यह नय लोक-प्रसिद्ध व्यवहार का अविरोधी है। जैसे—"सद्‌रूप वस्तु भी जड-चेतन रूप से दो प्रकार की है। चेतन तत्त्व भी ससारी तथा मुक्तरूप से दो प्रकार का है।" इत्यादि रूप से भेद करना।

ऋजुसूत्र नय—अतीत चूँकि विनष्ट है और अनागत अनुत्पन्न है, अत वर्तमान क्षणवर्ती अर्थपर्याय को ही विषय करने वाला ऋजुसूत्र नय कहलाता है। इस नय की दृष्टि मे पलाल का दाह नही हो सकता, क्योकि अग्नि का सुलगाना, धोकना, जलाना आदि असख्य समय की क्रियाएँ वर्तमान क्षण मे नही हो सकती।

शव्द नय—काल, कारक, लिग तथा सख्या के भेद से गव्द-भेद होने पर उनके भिन्न-भिन्न अर्थो को ग्रहण करने वाला गव्द नय है। जैसे भिन्न कारक तथा भिन्न वचनो मे कहा गया "देवदत्त" एक ही नही, किन्तु अनेक है।

समभिरूढ़ नय—एक-कालवाचक, एक-लिंगक तथा एक-संख्याक भी गव्द अनेक पर्यायवाची होते हैं। यह नय उन प्रत्येक पर्यायवाची गव्दो का अर्थभेद मानता है। जैसे—इन्द्र, गक्र तथा पुरन्दर—इन तीन गव्दो मे प्रवृत्ति निमित्त की भिन्नता होने से भिन्नार्थ वाचकता है।

एवंभूत नय—यह नय, पदार्थ जिस समय जिस क्रिया में परिणत हो उस समय उसी क्रिया से निष्पन्न शब्द की प्रवृत्ति स्वीकार करता है। जैसे कोई मनुष्य पूजा करते समय ही "पुजारी" कहा जा सकता है, अन्य समय नही।[1]

२. अजीव—जिस पदार्थ मे ज्ञान-दर्शनरूप चैतन्य नही पाया जाए उसे अजीव कहते है। यह जीव का विरोधी भावात्मक पदार्थ है। इसके पॉच भेद है—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल।

पुद्गल—जिस पदार्थ मे स्पर्श, रस, गध, रूप तथा शब्द पाया जाए उसे पुद्गल कहते है।

स्पर्श के ८ भेद है—१ कर्कश, २ मृदु, ३ गुरु, ४ लघु, ५ शीत, ६ उष्ण, ७ स्निग्ध तथा ८ रूक्ष।

रस के पॉच भेद है—१. तिक्त, २ कटु, ३ कषाय, ४. अम्ल, तथा ५ मधुर।

गध के दो भेद है—सुगध तथा दुर्गन्ध।

रूप के चौदह भेद है—१ सुरूप, २ दूरूप, ३ दीर्घ, ४ ह्रस्व, ५ वृत्त ६ त्र्यस्र, ७ चतुरस्र, ८ पृथुल, ९ परिमण्डल, १० कृष्ण, ११ नील, १२ लोहित, १३ हारिद्र, तथा १४ शुक्ल।

शब्द के दो भेद है—शुभ तथा अशुभ।[2]

इन्द्रियो के द्वारा हम जो कुछ देखते है, सूघते है, छूते है, चखते है, और सुनते है, वह सब पुद्गल द्रव्य की पर्याय है। पुद्गल के दो भेद है--अणु तथा स्कन्ध। पुद्गल का सबसे छोटा हिस्सा अणु है तथा एक अणु मे एक से लेकर अधिक अणुओ के मिलने से स्कन्ध बनता है।[3]

धर्म तथा अधर्म—धर्म तथा अधर्म से पुण्य तथा पाप का अभिप्राय नही है। किन्तु ये दोनो भी जीव तथा पुद्गल की तरह स्वतत्र पदार्थ है। जो, जीव तथा पुद्गलो के चलने एव ठहरने मे सहायक होते है वे क्रमश धर्म तथा अधर्म द्रव्य कहे जाते है। यद्यपि चलने

---

१ स्थानाग, ५५२, (अभयदेव—वृत्ति, ३७०-३७१)

२ स्थानाग, ४७

३ वही, ४४२

और ठहरने की शक्ति तो जीव और पुद्गल में है ही, किन्तु बाह्य सहायता के बिना शक्ति की व्यक्ति नहीं हो सकती, अतः इन दो पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया गया।[1]

आकाश—जो सभी द्रव्यों को अवकाश देता है उसे आकाश कहते है। यह पदार्थ अमूर्तिक तथा सर्वव्यापी है। उसके दो भेद है—लोकाकाश तथा अलोकाकाश। जहा जीव तथा अजीव पदार्थ पाये जाते है उसे लोकाकाश कहते है। जहां ये दोनों पदार्थ नहीं पाये जाते उसे अलोकाकाश कहते है। जैनधर्म के अनुसार लोकाकाश सान्त तथा अलोकाकाश अनन्त है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन समस्त लोक को सात मानते है।[2]

काल—जो वस्तु मात्र के परिवर्तन कराने में सहायक है उसे काल द्रव्य कहते है। यद्यपि परिणमन की शक्ति सभी पदार्थों में है किन्तु बाह्य निमित्त के बिना उस शक्ति की व्यक्ति नहीं हो सकती, अतः काल द्रव्य का पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया गया।

काल द्रव्य के दो भेद है—निश्चय काल तथा व्यवहार काल। लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर पृथक् पृथक् कालाणु (काल के अणु) स्थित है, इन कालाणुओं को निश्चयकाल कहते है। आपसी व्यवहार के निमित्त स्थिर किए गए समय, आवली, उच्छ्वास आदि व्यवहार काल है। भगवतीसूत्र[3] (व्याख्या प्रज्ञप्तिसूत्र) में व्यवहार-काल के विषय में निम्न प्रकार विस्तृत विवरण मिलता है।

आकाश के एक प्रदेश में स्थित पुद्गल परमाणु मंदगति से जितनी देर में उस प्रदेश से लगे हुए पास के दूसरे प्रदेश पर पहुँचता है उसे "समय" कहते है।[4] असख्यात समयो का समुदाय एक "आवलिका" कहलाती है। असख्यात आवलिकाओ का एक "उच्छ्वास" और उतनी ही आवलिकाओ का एक "निःश्वास" होता है। सशक्त और

---

१ "प्रोफेसर घासीराम ने धर्म द्रव्य की तुलना आधुनिक विज्ञान के "ईथर" नामक तत्त्व से तथा अधर्म द्रव्य की तुलना "सर आइजक न्यूटन" के "आकर्षण सिद्धान्त" से की है।" कासमोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू, पृ० ४४.

२ कासमोलोजी ओल्ड एण्ड न्यू, पृ० ५७.

३ व्याख्याप्रज्ञप्ति (अभयदेववृत्ति) ६, ७, २४६ पृ० ५००—५०२

४ जैन-धर्म पृ० ९७

नीरोग मनुष्य के एक 'श्वासोच्छ्वास'' को "प्राण" कहते है। इस प्रकार के सात प्राणो का एक "स्तोक" सात स्तोको का एक "लव" और ७७ लवो का एक "मुहूर्त" होता है। इस प्रकार एक मुहूर्त में ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते है। ३० मुहूर्तो का एक "अहोरात्र" (रात दिन), १५ अहोरात्र का एक "पक्ष", दो पक्ष का एक "मास", दो मास को एक "ऋतु", तीन ऋतुओ का एक "अयन", दो अयन का एक "सवत्सर" (वर्ष) तथा पाच सवत्सर का एक "युग" होता है।

औपमिककाल दो प्रकार का है—पल्योपम और सागरोपम।

पल्योपम—एक योजन (चार कोस) प्रमाण लवा, चौडा, और गहरा एक पल्य (गड्ढा) ठूस-ठूस कर वालाग्रो (जिसका दूसरा खड न हो सके ऐसे वाल) से भरा जाए। उस पल्य मे से सौ-सौ वर्ष के अन्तर से एक-एक वालाग्र निकाला जाए और इस प्रकार जितने काल मे वह पल्य खाली हो जाए उतने काल को एक पल्योपम कहते है।

सागरोपम—दस कोटाकोटि (एक करोड × एक करोड़)पल्योपमो का एक सागरोपम होता है।

व्यवहारकाल के अन्य छह भेद किए गए है—१ सुपमसुपमा, २ सुपमा, ३ सुपमदुःपमा, ४. दुःपमसुपमा, ५ दुःपमा, ६ दुःपम-दुःपमा।

चार कोटाकोटि सागरोपम का सुपमसुपमा काल है। तीन कोटाकोटि सागरोपम का सुपमा काल है। दो कोटाकोटि सागरोपम का सुपमदुःपमा काल है। व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का दुःपमसुपमा काल है। इक्कीस हजार वर्ष का दुःपमा काल है। इक्कीस हजार वर्ष का ही दुःपमदुःपमा काल है। इन ह्रासोन्मुख छह कालो के समुदाय को अवसर्पिणी कहते है। इसी प्रकार दुःपमदुःपमा से लेकर सुपमसुपमा तक का विकासोन्मुख काल उत्सर्पिणी कहलाता है। इस प्रकार दस कोटाकोटि सागरोपम अवसर्पिणी तथा दस कोटाकोटि सागरोपम उत्सर्पिणी काल[1] है।

२. **आस्रव**—जीव को एक तालाव की उपमा दी गई है तथा कर्म को जल की। जीव रूपी तालाव मे कर्मरूपी जल का आगमन आस्रव

---

१ श्रमण भगवान् महावीर, पृ० ८५-८६.

है। आस्रव के द्वार पाँच कहे गये है—१ मिथ्यात्व, २ अविरति, ३ प्रमाद, ४ कपाय, और ५ योग[1]।

मन मे पदार्थो की यथार्थता के प्रति श्रद्धा न होना मिथ्यादर्शन है।[2] हिसादि पापो के त्यागरूप व्रत का अभाव अविरति है। धर्म के प्रति अश्रद्धा के कारण धर्माचरण मे आलस्य प्रमाद है।[3] क्रोध, मान, माया तथा लोभ, आत्मा को दुःख देने के कारण कपाय कहे गये है।[4] मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति योग है।[5] आत्मा प्रतिक्षण मिथ्यादर्शनादि के द्वारा कर्म का आकर्पण करता रहता है। प्रश्न व्याकरणाग मे आस्रव के कारणभूत हिसा, असत्य, चोरी, मैथुन तथा परिग्रह रूप पाचो पापो को आस्रव कहा गया है।[6]

४ बंध—कपाय सहित होने के कारण जीव के द्वारा कर्मरूप पुद्गल-परमाणुओ का ग्रहण किया जाना बध है। बध शब्द का अर्थ है-बधन, अर्थात् आत्मा तथा कर्म का परस्पर बध जाना—एक क्षेत्र मे स्थित हो जाना। यह बध चार प्रकार का है—१ प्रकृतिबध, २ स्थितिबध, ३ अनुभावबध, ४ प्रदेशबध।

कर्म पुद्गलो मे ज्ञानादि को आवरण करने का जो स्वभाव बनता है वही स्वभाव-निर्माण प्रकृतिबध है। स्वभाव बनने के साथ ही साथ उस स्वभाव से किसी निश्चित समय तक च्युत न होने की मर्यादा भी पुद्गलो मे निर्मित होती है, यह काल-मर्यादा का निर्माण ही स्थितिबध है। स्वभावनिर्माण के साथ ही उसमे तीव्रता, मन्दता आदि रूप मे फलानुभव कराने वाली विशेपताएँ बधती है। ऐसी विशेषता ही अनुभावबध है। ग्रहण किए जाने पर भिन्न-भिन्न स्वभाव में परिणत होनेवाली कर्मपुद्गलराशि स्वभावानुसार किन्ही निश्चित परिमाणो मे बँट जाती है, यह परिमाणविभाग ही प्रदेशबध कहलाता है।

---

१ स्थानाग, ४१८, (अभयदेव वृत्ति, पृ० ३००-३०१ ब)
२ वही, ७०
३ वही, १६६
४ वही ४८
५ वही, १२४
६ प्रश्नव्याकरणाग, १, २, पृ० ५ अ

कर्म की प्रकृतियाँ आठ है[1]—१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७ गोत्र, तथा ८ अन्तराय।

जो कर्म आत्मा के ज्ञानगुण का आवरण करता है वह ज्ञानावरणकर्म कहलाता है। इसके पॉच भेद है—१ आभिनिवोधिक-ज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३ अवधिज्ञानावरण ४ मन पर्यय-ज्ञानावरण, ५ केवलज्ञानावरण। ये पाचो ज्ञानावरण क्रमश आभिनिवोधिक, श्रुत, अवधि, मन पर्यय तथा केवलज्ञान का आवरण (आच्छादन) करते है।[2]

जिसके द्वारा दर्शन (सामान्यबोध) का आवरण हो, वह दर्शनावरण है। दर्शनावरण कर्म के नव भेद है—१ निद्रा, २ प्रचला, ३ निद्रानिद्रा, ४ प्रचलाप्रचला, ५ स्त्यानगृद्धि, ६ चक्षुदर्शनावरण, ७ अचक्षुदर्शनावरण, ८ अवधिदर्शनावरण, तथा ९ केवलदर्शनावरण।

जिस कर्म के उदय से सुखपूर्वक जाग सके ऐसी निद्रा आवे, वह निद्रा है। जिस कर्म के उदय से बैठे-बैठे या खडे-खडे ही निद्रा आ जावे, वह प्रचला है। जिस कर्म के उदय से निद्रा से जागना अत्यन्त दुष्कर हो, वह निद्रानिद्रा है। जिस कर्म के उदय से चलते-चलते ही नीद आ जाए वह प्रचलाप्रचला है। जिस कर्म के उदय से जागृत अवस्था मे सोचे हुए काम को निद्रावस्था मे करने की सामर्थ्य प्रकट हो जाए, वह स्त्यानगृद्धि है। जो कर्म चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि-दर्शन, तथा केवलदर्शन का आवरण करे, वे कर्म क्रमश चक्षुदर्शनावरण, अक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण तथा केवलदर्शनावरण कहलाते है।[3]

जिससे सुख या दुख का अनुभव हो वह वेदनीय कर्म है। वेदनीय के दो भेद है—सातावेदनीय तथा असातावेदनीय। जिस कर्म के उदय

---

१ स्थानाग ५९६, (अभयदेवसूत्रवृत्ति, पृ० ३९४, ३९५)

२ वही, ४६४

३ स्थानाग, ६६८, समवायाग ९

"आत्मगुण चैतन्य, अवस्था विशेप मे निराकार रह कर दर्शन, और साकार होकर ज्ञान कहलाता है। दर्शन की व्याख्या पदार्थों के सामान्यावलोकन तक जा पहुँची।" जैनदर्शन, पृ० २६५

से प्राणी को सुख का अनुभव हो, वह सातावेदनीय है। जिस कर्म के उदय से प्राणी को दुःख का अनुभव हो वह असातावेदनीय है।[1]

जिस कर्म के उदय से आत्मा मोह (मूढता राग-द्वेष) को प्राप्त हो वह मोहनीय कर्म है। मोहनीय के दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय। जिस कर्म के उदय से पदार्थों का यथार्थ श्रद्धानरूप दर्शन न हो वह दर्शनमोहनीय है। जिस कर्म के उदय से सामायिकादि चारित्र मे रुचि उत्पन्न न हो वह चारित्रमोहनीय है।[2]

जिस कर्म के उदय से भव-धारण हो, वह आयु है। आयु के चार भेद है—१ नरकायु, २ तिर्यंचायु, ३ मनुष्यायु, ४ देवायु। जिस कर्म के उदय से प्राणी को नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति का जीवन व्यतीत करना पडे, वह क्रमश नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु तथा देवायु है।[3]

जिससे विशिष्ट गति जाति आदि की प्राप्ति हो वह नाम है। नामकर्म के दो भेद है—१ शुभनामकर्म, २ अशुभनामकर्म। जिस प्रकार निपुण चित्रकार सुन्दर तथा असुन्दर एव प्रिय तथा अप्रिय रूपो का निर्माण करता है, इसी प्रकार नामकर्म भी जीव के शोभन तथा अशोभन एव इष्ट तथा अनिष्टरूप अनेक आकृतियो का निर्माण करता है। जिस कर्म के उदय से प्राणी का सुन्दर तथा इष्ट रूप उत्पन्न हो वह शुभ नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से अशुभ एव अप्रिय रूप उत्पन्न हो, वह अशुभ नामकर्म है।[4]

"दर्शन के चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन। चक्षु इन्द्रिय से होने वाला सामान्यावलोकन चक्षुदर्शन है। चक्षु को छोड अन्य इन्द्रियो से होने वाला सामान्यावलोकन अचक्षुदर्शन है। इसी प्रकार अवधिज्ञान तथा केवलज्ञान से पूर्व होने वाला सामान्यावलोकन क्रमश अवधिदर्शन तथा केवलदर्शन है।"

—स्थानाग, ३६५

१ स्थानाग, १०५

२ वही, १०५

३ वही, २९४

४ स्थानाग, १०५ (अभयदेवसूत्रवृत्ति, पृ० ९७, नोट न० १)

जिससे ऊँचपन या नीचपन मिले वह गोत्रकर्म है। गोत्र के दो भेद हैं—उच्चगोत्र तथा नीचगोत्र। प्रतिष्ठा-प्राप्त कुल मे जन्म दिलाने वाला कर्म उच्चगोत्र है। शक्ति रहने पर भी प्रतिष्ठा न मिल सके ऐसे कुल मे जन्म दिलाने वाला कर्म नीचगोत्र है।[1]

जिस कर्म के उदय से लेने तथा देने आदि मे विघ्न हो वह अन्तरायकर्म है। अन्तराय के दो भेद है—प्रत्युत्पन्नविनाशि तथा पिधत्तागामिपथ। जिस कर्म के उदय से वर्तमान में, वस्तु के लाभादि मे विघ्न पडे वह प्रत्युत्पन्नविनाश अन्तराय है। जिस कर्म के उदय मे भविष्य में प्राप्त करने योग्य वस्तु के लाभादि मे विघ्न पडे वह पिधत्तागामिपथ अन्तराय है।[2]

५. संवर—जीवरूपी तालाव मे कर्मरूपी जल का आना आस्रव कहलाता है, ठीक इसके विपरीत कर्मरूपी जल के आने को रोक देना सवर है। आस्रव सवर का विरोधी है, इस कारण जो मिथ्यादर्शनादि आस्रव के द्वार कहे गए है उनके विरोधी सम्यग्दर्शनादि सवर के द्वार है। सवर के पाँच द्वार है—१ सम्यक्त्व, २ विरति, ३ अप्रमाद, ४ अकपाय, ५ अयोग। ये पाँचो क्रमश आस्रव के प्रकरण मे कहे गए मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कपाय, तथा योग के अभाव से होते है।[3] प्रश्नव्याकरणाग मे अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह सवर के द्वार कहे गए हे।[4]

६. निर्जरा—आत्मा के साथ वधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मो का एकदेश से नष्ट होना निर्जरा है। समवायाग मे निर्जरा-स्थान (निर्जरा के कारण) पाँच वताए गए है—१ प्राणातिपात (हिसा) से विरमण, २ मृषावाद (असत्य) से विरमण, ३ अदत्तादान (चोरी) से विरमण, ४ मैथुन (अब्रह्मचर्य) से विरमण, ५ परिग्रह से विरमण। प्राणातिपात आदि का जव सपूर्णरूप से त्याग होता है तव ये महाव्रत कहलाते है। जव इनका स्थूलरूप से त्याग होता है तव ये अणु-

---

१ स्थानाग १०५, (अभयदेव वृत्ति, पृ० ९२, नोट न० १)

२ वही, १०५

३ वही, ४१८ (अभयदेवसूत्रवृत्ति, पृ० ३००)

४ प्रश्नव्याकरणाग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, (सवरद्वार)।

व्रत कहलाते है। किन्तु जब इनका त्याग साधारणरूप से होता है तब ये निर्जरा-स्थान कहे जाते है।[1]

७. **मोक्ष**—आत्मा के साथ बधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मो का सपूर्णरूप से अभाव हो जाना मोक्ष है। समवायाग मे मुक्त आत्मा (सिद्ध) के ३१ गुण कहे गए है। ज्ञानावरणादि पाँच कर्मो के अभाव से पॉच गुण, दर्शनावणादि ९ कर्मो के अभाव से ९ गुण, सातावेदनीय तथा असातावेदनीय के अभाव से दो गुण, दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के अभाव से दो गुण, नरक, तिर्यच, मनुष्य तथा देव-आयु के अभाव से चार गुण, शुभनाम तथा अशुभनाम कर्म के अभाव से दो गुण, उच्चगोत्र तथा नीचगोत्र के अभाव से दो गुण तथा दानान्तराय आदि पॉच अन्तरायो के अभाव से पॉच गुण, इस प्रकार आठो कर्मो के अभाव हो जाने से मुक्त जीवो के ३१ गुण प्रकट हो जाते है।[2]

८-९ **पुण्य तथा पाप**—अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रहरूप शुभकर्म पुण्य है तथा हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन तथा परिग्रहरूप अशुभकर्म पाप है। वास्तव मे यदि शुभ एव अशुभ कर्मो की गणना की जावे तो पुण्य तथा पाप के अनेक भेद हो जाएँगे किन्तु अहिसादि समस्त शुभकर्मो का प्रतिनिधित्व करते है। इसी तरह हिसादि समस्त पाप कर्मो का प्रतिनिधित्व करते है।[3]

(ब) लोक का स्वरूप

यह समस्त ससार तीन भागो मे विभक्त है।[4] ऊर्ध्वलोक, तिर्यग्-लोक तथा अधोलोक। अधोलोक मेरुपर्वत के समतल के नीचे नौ सौ योजन की गहराई के बाद गिना जाता है। समतल के नीचे तथा ऊपर के नौ सौ, नौ सौ योजन अर्थात् कुल अठारह सौ योजन का तिर्यग्लोक है। तिर्यग्लोक के ऊपर सपूर्ण प्रदेश ऊर्ध्वलोक है।[5]

---

१ समवायाग, ५ (अभयदेवसूत्रवृत्ति, पृ० १०)

२ वही, ३१

३ समवायाग, १ तथा स्थानाग, ५९। तुलना, "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेनेति।" बृहदारण्यकोपनिषद्, ५६०

४ स्थानाग, १५३

५ वही, १५३ (अभयदेवसूत्रवृत्ति, पृ० १२१ ब)

यह लोक नीचे की ओर विस्तृत, मध्य मे सक्षिप्त और ऊपर के भाग मे विशाल है। आकार में वह अधोभाग में पलग जैसा, मध्य भाग मे वज्र जैसा और ऊपर भाग मे मृदग जैसा है। यह लोक शाश्वत, परीत्त (असख्येयप्रदेशात्मक) तथा परिवृत (अलोकाकाश से व्याप्त) है।[1]

भगवती सूत्र मे लोकस्थिति का स्वरूप बहुत स्पष्टरूप से समझाया गया है,[2]—"त्रस स्थावरादि प्राणियो का आधार पृथिवी है, पृथिवी का आधार उदधि है, उदधि का आधार वायु है और वायु का आधार आकाश है। जैसे कोई पुरुष मशक को हवा से पूर्ण भर कर उसका मुह बद करदे, फिर उसको बीच में से मजबूत बाध कर मुह पर की गाठ खोल हवा निकाल कर उसमे पानी भर दे और फिर मुह पर कसकर गाँठ बाँध दे, फिर बाद मे बीच की गाँठ खोल दे तो वह पानी नीचे की हवा पर ठहरेगा। इसी तरह आकाश के ऊपर हवा और हवा के ऊपर पृथिवी आदि रहते है।"

ऊर्ध्वलोक—मध्यलोक के ऊपर कुछ कम ७ रज्जुप्रमाण विस्तार वाला ऊर्ध्वलोक है।[3] यह देवताओ का निवास स्थान है। देवता ४ प्रकार के कहे गए है—१. भवनवासी, २ व्यन्तर, ३ ज्योतिष्क, ४ वैमानिक।

भवनवासी देव भवनो मे निवास करते है। इनके भवन नगरसदृश होते है। वे बाहर से गोल और भीतर से समचतुष्कोण और नीचे पुष्पकर्णिका जैसे होते है।

भवनवासियो के १० भेद है—१ असुरकुमार, २ नागकुमार, ३ विद्युत्कुमार, ४ सुपर्णकुमार, ५ अग्निकुमार, ६ वातकुमार, ७ स्तनितकुमार, ८ उदधिकुमार, ९ द्वीपकुमार, १० दिक्कुमार।[4]

सभी भवनवासी देव कुमार कहलाते है, क्योकि वे कुमार की तरह देखने में मनोहर तथा सुकुमार होते है और मृदु एव मधुरगतिवाले तथा क्रीड़ाशील होते है।

---

१ भगवती, ५ ९
२ वही, १ ६
३ स्थानांग, १५३ (अभयदेवसूत्रवृत्ति, पृ० १२१ अ)
४ वही, २५८
५ वही, ७३६

व्यन्तरदेव अपनी इच्छा से या दूसरो की प्रेरणा से तीनो लोको मे भिन्न-भिन्न स्थानो पर जाया करते है। वे विविध प्रकार के पर्वत तथा गुफाओ के अतरो मे वसने के कारण व्यन्तर कहलाते है।

इनके ८ भेद है—१ पिशाच, २ भूत, ३ यक्ष, ४ राक्षस, ५ किन्नर, ६ किपुरुप, ७ महोरग, ८ गन्धर्व।[1]

ज्योतिष्क जाति के देव प्रकाशमान विमानो मे निवास करने के कारण ज्योतिष्क कहलाते है। इनके पॉच भेद है—१ चन्द्र, २ सूर्य, ३ ग्रह, ४ नक्षत्र, ५ तारा।[2]

वैमानिकदेव यद्यपि विमानो मे निवास करते है फिर भी उनका यह नाम पारिभापिक मात्र है, क्योकि अन्य देव भी विमानो मे रहते है। इन देवो के विमान एक दूसरे के ऊपर स्थित है। वैमानिको के दो भेद है—कल्पोपपन्न तथा कल्पातीत। जो कल्प मे रहते है वे कल्पोपपन्न कहलाते है। कल्प के १२ भेद है—१ सौधर्म, २ ऐशान, ३ सानत्कुमार, ४ माहेन्द्र, ५ ब्रह्मलोक, ६ लान्तक, ७ महाशुक्र, ८ सहस्रार, ९ आनत, १०. प्राणत, ११. आरण, १२ अच्युत।

कल्पो के ऊपर अनुक्रम से ९ विमान है, जो पुरुषाकृति लोक के ग्रीवास्थानीय भाग मे होने के कारण ग्रैवेयक कहलाते है। इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयत, अपराजित, तथा सर्वार्थसिद्धि, ये पॉच विमान क्रम से ऊपर-ऊपर है, जो सवसे उत्तर (प्रधान) होने के कारण अनुत्तरौपपातिक कहलाते है।[3]

तिर्यग्लोक—ऊर्ध्वलोक के नीचे तथा अधोलोक के ऊपर १८ सौ योजन प्रमाण तिर्यग्लोक है।[4] इसमे मनुष्य तथा तिर्यचो का निवास है। लोक के मध्य मे होने के कारण इसे मध्य-लोक भी कहते है।

मध्यलोक में असख्यात द्वीप और समुद्र है। वे क्रम से द्वीप के वाद समुद्र तथा समुद्र के वाद द्वीप इस तरह अवस्थित है। जम्बूद्वीप थाली जैसा गोल है और अन्य सव द्वीप तथा समुद्रो की आकृति वलय

---

१ स्थानांग, ६५४

२ वही, ४०१

३ समवायाग, १४९

४ स्थानाग, १५३ (अभयदेवसूत्रवृत्ति, पृ० १२१ व)

[चूड़ी] के समान है। जम्बूद्वीप लवणसमुद्र से वेष्टित है, लवणसमुद्र धातकीखण्ड-द्वीप से वेष्टित है, धातकीखण्ड-द्वीप कालोदधिसमुद्र से, कालोदधिसमुद्र पुष्करवरद्वीप से और पुष्करवरद्वीप पुष्करोदधि से वेष्टित है। यही क्रम स्वयंभूरमणसमुद्र-पर्यन्त है[1]।

जम्बूद्वीप—जम्बूद्वीप सबसे पहला द्वीप है और समस्त द्वीप-समुद्रो के बीच मे स्थित है। इसका विस्तार एक लाख योजन प्रमाण है।[2] इसके बीच मे मेरुपर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन है।

जम्बूद्वीप मे सात क्षेत्र हैं, जो वर्ष कहलाते है। इनमे पहला भरत-क्षेत्र है जो दक्षिण की ओर है। भरत से उत्तर की ओर हैमवत, हैमवत के उत्तर मे हरि, हरि के उत्तर मे विदेह, विदेह के उत्तर मे रम्यक, रम्यक के उत्तर मे हैरण्यवत और हैरण्यवत के उत्तर मे ऐरावत क्षेत्र है।

सातों क्षेत्रों को एक दूसरे से अलग करने वाले उनके मध्य छह पर्वत है, जो वर्षधर कहलाते है। ये सभी पर्वत पूर्व-पश्चिम लम्बे है। भरत और हैमवत के बीच हिमवान् पर्वत है। हैमवत और हरि का विभाजक महाहिमवान् है। हरि और विदेह को जुदा करने वाला निषध पर्वत है। विदेह और रम्यक को भिन्न करने वाला नील पर्वत है। रम्यक और हैरण्यवत को विभक्त करने वाला रुक्मी पर्वत है। हैरण्यवत और ऐरावत का विभाग करने वाला शिखरी पर्वत है।[3]

जम्बूद्वीप मे सात महानदियाँ है जो कि पूर्वाभिमुख होकर लवण-समुद्र मे गिरती है। उनके नाम इस प्रकार है—(१) गंगा, (२) रोहिता, (३) हरी, (४) सीता, (५) नरकान्ता, (६) सुवर्णकूला और (७) रक्ता। इसी प्रकार अन्य सात नदियाँ भी पश्चिमाभिमुख होकर लवणसमुद्र मे गिरती है। उनके नाम इस प्रकार है—(१) सिधु, (२) रोहितास्या, (३) हरिकान्ता (४) सीतोदा, (५) नारीकान्ता (६) रुप्यकूला तथा (७) रक्तवती।[4]

जम्बूद्वीप की अपेक्षा धातकीखडद्वीप मे मेरु, वर्ष, वर्षधर तथा नदियो की सख्या दूनी है। मेरु आदि की जो सख्या धातकीखड-

---

१. स्थानांग, १९३.

२. समवायांग, १.

३. स्थानांग, ८६-९२, ५५५

४. वही, ५५५

द्वीप की है वही संख्या पुष्करार्ध-द्वीप की भी है, क्योंकि पुष्करवर द्वीप के अर्द्धभाग मे मानुषोत्तर पर्वत के पहले ही मनुष्य तथा तिर्यंचो का निवास है।[1]

अधोलोक—तिर्यग्लोक के नीचे कुछ अधिक सात रज्जुप्रमाण विस्तार वाला अधोलोक है। इनमे नारकी जीवो का निवास है। जो जीव अशुभ कर्मो द्वारा पापोपार्जन करके नरकगति को प्राप्त करते है, वे नारकी कहलाते है। नारकी जीव इन पृथ्वियो मे आ कर अपने पूर्वोपार्जित कर्मानुसार महादु खो को भोगते हैं।

अधोलोक के सात विभाग हैं (१)—रत्नप्रभा, (२ शर्कराप्रभा, (३) वालुकाप्रभा, (४) पकप्रभा, (५) धूमप्रभा (६) तम, तथा (७) तमस्तमः।

इन सातो पृथ्वियो के नाम उस उस पृथ्वी मे रहने वाली प्रभा एवं अंधकार की तरतमता के अनुसार हैं। जैसे रत्नप्रभा पृथ्वी मे रत्न की प्रभा के समान प्रकाश है तथा तमस्तम.पृथ्वी मे घोर अन्धकार है।[2]

जैनधर्म और ईश्वर

जैनधर्म की यह विशेषता है कि उसमे प्राकृतिक तथा आधिदैविक देवो अथवा नित्यमुक्त ईश्वर को ही पूज्य का स्थान नही है; उसमे तो एक सामान्य मनुष्य भी अपना चरम विकास करके जनसाधारण के लिए ही नही, किन्तु देवो के लिए भी पूज्य बन जाता है।[3] इसी कारण इन्द्रादि देवो का स्थान जैनधर्म मे पूजक का है, पूज्य का नही। स्थानाग मे कहा गया है कि अरिहतो की उत्पत्ति के समय, उनके प्रव्रज्या धारण करने के समय तथा उन्हे केवलज्ञान उत्पन्न होने के समय इन्द्रादि देव अपने आसन से उठते है, आसन से चलते है, सिहनाद (हर्प ध्वनि) करते है, चेलोत्क्षेप (हर्ष मे उन्मत्त होकर वस्त्रादि फेकना) करते है तथा महोत्सव मनाने के लिए स्वर्गलोक से उतर कर मनुष्य-लोक मे आते है।[4]

---

१. स्थानांग, ५५५ तथा ९३
२. वही, ५४६
३. "देवा वि तं नमसति जस्स धम्मे सया मणो।" दशवैकालिक
४. स्थानाग, १३४

जैनधर्म में महावीर ईश्वर के अवतार नही है, किन्तु वे केवल मानव ही है, जिन्होने अपने सत्प्रयत्नो द्वारा समस्त कर्मो से मुक्ति पा कर परमात्म-पद को प्राप्त किया है। उन्हे नित्यवद्ध तथा नित्य-मुक्त ईश्वर कभी नही कहा गया, क्योकि नित्य-ईश्वर को इस सस्कृति मे कोई स्थान नहीं है। नित्यमुक्त ईश्वर को न मानने मे एक वाधा उपस्थित हो सकती है कि "इस समस्त सृष्टि का निर्माण एव व्यवस्था कौन करेगा ?"

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर सूत्रकृतांग मे बहुत विस्तार के साथ दिया गया है। कोई कहते है कि किसी देवता के द्वारा यह लोक वनाया गया है, और दूसरे लोग कहते है कि ब्रह्मा ने यह लोक वनाया है।[1] ईश्वर-कारणवादी कहते है कि जीव, अजीव, सुख तथा दु ख से युक्त यह लोक ईश्वरकृत है और साख्यवादी कहते है कि यह लोक प्रधानादिकृत है।[2] कोई अन्यतीर्थी कहते है कि विष्णु ने इस लोक को वनाया है। किसी का कहना है कि यमराज ने माया द्वारा इसका निर्माण किया है।[3] कोई ब्राह्मण-श्रमण ऐसा भी कहते है कि यह जगत् अण्डे से उत्पन्न हुआ है।[4] पूर्वोक्तवादी अपनी इच्छा से जगत को किया हुआ वतलाते है, किन्तु वे वस्तुस्वरूप को नही जानते, क्योकि यह जगत् कभी भी अनित्य नहीं है।[5]

उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध है कि जगत् अनादि एव अनन्त है, अत इस जगत को वनाने के लिए किसी सृष्टिकर्तारूप ईश्वरादि के मानने की आवश्यकता नही है।

जैनसंस्कृति के अनुसार जो भी प्राणी त्याग और तपस्या के मार्ग पर चल कर अपने आत्मविकास की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, वह

---

१. सूत्रकृताग, १, १, ३, ५

२. वही, १. १ ३. ६.

"प्रकृति से महान् (वुद्धितत्त्व) उत्पन्न होता है, महान् से अहकार, अहंकार से सोलह पदार्थो का गण, उस गण मे से पॉच तन्मात्राओ द्वारा पाँच महाभूत उत्पन्न होते है, इस प्रकार यह सृष्टि-रचना का क्रम है।"

—साख्यकारिका, २२

३. सूत्रकृताग १. १. ३ ७

४. वही, १. १. ३ ८

५ वही १. १. ३. ९

पूर्ण बन जाता है। उसे हम अलौकिक ऐश्वर्य का भोग करने के कारण 'ईश्वर' आत्मा के परमोत्कृष्ट पद प्राप्त कर लेने के कारण 'परमात्मा' आदि नामो से पुकारते हे।

परमात्मपद को प्राप्त ईश्वर दो प्रकार के माने गए है—सदेह-मुक्त तथा विदेहमुक्त।

परमात्मपद पा लेने के बाद आत्मा जब तक संसार मे निवास करती है, तब तक वह सदेहमुक्त परमात्मा है। उसे 'अरिहत' 'जीवन्-मुक्त' आदि के नामो से संबोधित किया जाता है।[1] वही आत्मा शरीर छोड़ देने के बाद पूर्ण परमात्मपद को प्राप्त कर सिद्ध संज्ञा को ग्रहण करती है।[2] महावीर ने बारह वर्ष की निरन्तर कठिन तपश्चर्या के बाद अरिहत पद को पाया और लगभग तीस वर्ष के अरिहत पद के बाद शरीर का त्याग कर सिद्धपद को प्राप्त किया।[3]

●

१. स्थानाग, २२९

२. वही, २६८.

३ कल्पसूत्र, १. ५ १२७ (जैनसूत्राज भाग १, पृ० २६६)

चतुर्थ अध्याय

मानव-व्यक्तित्व का विकास

विराट् विश्व

जब हम इस ससार मे अपनी आखे खोल कर देखते है तो चारो ओर एक असीमित विश्व के दर्शन होते हैं। प्रत्येक दिशा तथा विदिशा मे लाखो-करोडो और अनन्त योजन तक नदी, समुद्र, मैदान और जंगल है, जिनमे अनन्त जीव अपने क्षुद्र जीवन की मोह-माया में उलझे रहते है। यह विराट् ससार जीवो से ठसाठस भरा हुआ है। भूमण्डल पर अगणित कीडे मकोडे, समुद्रो में अनन्त मच्छ-कच्छ, मगर और घडियाल, तथा आकाश मे रंग-विरगे असख्यात पक्षीगण अपनी-अपनी लीलाओ में मग्न है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में असख्यात जीवो का एक विराट् संसार सोया पड़ा है।

भगवान् महावीर ने गौतम द्वारा लोक की विशालता के बारे मे पूछे जाने पर विश्व की विराटता का कैसा सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—"गौतम, असख्यात कोटि-कोटि योजन पूर्वदिशा मे, असख्यात कोटि-कोटि योजन पश्चिम दिशा मे, इसी प्रकार असख्यात कोटि-कोटि योजन दक्षिण, उत्तर, उर्ध्व एवं अधो दिशा मे लोक का विस्तार है।[1]

गौतम प्रश्न करते है—"भन्ते! यह लोक कितना वड़ा है?" भगवान् समाधान करते है—"गौतम, लोक की विशालता को समझने के लिए कल्पना करो कि एक लाख योजन के ऊँचे मेरुपर्वत के शिखर पर छह महान् शक्तिशाली ऋद्धिसम्पन्न देवता वैठे हुए है और नीचे

---

१ भगवती, १२, ७, ४५७

भूतल पर चार दिशा-कुमारिकाएँ हाथो मे वलिपिड लिये चारो दिशाओ मे खडी है, जिनकी पीठ मेरु की ओर है एव मुख दिशाओ की ओर। उक्त चारो दिशा-कुमारिकाएँ अपने-अपने वलि-पिंडो को अपनी अपनी दिशाओ मे एक साथ फैंकती है और उधर उन मेरुशिखरस्थ छह देवताओ मे से एक देवता तत्काल दौड़ लगा कर चारो ही वलिपिडो को भूमि पर गिरने से पहले ही पकड़ लेता है। इस प्रकार शीघ्र गति वाले वे छहो देवता है।

एक समय वे छहो देवता लोक का अन्त मालूम करने के लिए क्रमश छहो दिशाओं मे चल पड़े। अपनी पूरी गति से एक पल का भी विश्राम लिये बिना वे दिन-रात चलते रहे। जिस क्षण देवता मेरु-शिखर से उड़े, कल्पना करो, उसी क्षण किसी गृहस्थ के यहाँ एक हजार वर्ष की आयु वाला पुत्र उत्पन्न हुआ। कुछ वर्ष पश्चात् माता-पिता परलोकवासी हुए है। पुत्र बड़ा हुआ और उसका विवाह हो गया। वृद्धावस्था मे उसके भी पुत्र हुआ और बूढ़ा हजार वर्ष की आयु पूरी करके चल वसा। इसके वाद उसका पुत्र, फिर उसका पुत्र, फिर उसका भी पुत्र, इस प्रकार एक के वाद एक, एक हजार वर्ष की आयु वाली सात पीढ़ियाँ गुजर जाएँ, इतना ही नही, उनके नाम, गोत्र भी विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो जाएँ, तब तक वे देवता चलते रहे, फिर भी लोक का अंत नही प्राप्त कर सकते। इतना महान् और विराट् है यह संसार।[1]"

पानी की एक नन्ही-सी बूँद असख्यात जलकाय जीवो का विश्राम-स्थल है। पृथ्वी का एक छोटा-सा रजकण असख्यात पृथ्वीकायिक जीवो का पिण्ड है। अग्नि और वायु के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कण भो इसी प्रकार असंख्य जीवराशि से समाविष्ट है। वनस्पति-काय के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या है।

जैन-साहित्य मे विश्व की विराटता के लिए चौदह राजु की भी एक मान्यता है। एक व्याख्याकार राजु का परिमाण बताते हुए कहते है कि कोटि मन लोहे का गोला यदि ऊँचे आकाश से छोडा जाए और वह दिन-रात अविराम गति से नीचे गिरता-गिरता छह मास मे

---

१. भगवती सूत्र, ११, २० ४२१.

जितना लम्बा मार्ग तय करे, वह एक राजु की विशालता का परिमाण है।[1]

सूक्ष्म पाँच स्थावरो से यह असंख्यात योजनात्मक विराट् संसार ठसाठस भरा हुआ है। कही अणुमात्र भी ऐसा स्थान नही है, जहाँ कोई सूक्ष्म जीव न हो। सम्पूर्ण लोकाकाश सूक्ष्म जीवो से परिव्याप्त है।[2]

विश्व में मानव का स्थान

अनन्तानन्त विश्व में मनुष्य एक नन्हे-से क्षेत्र मे अवरुद्ध-सा खडा है। जहाँ अन्य जाति के जीव असंख्य तथा अनन्त संख्या मे है, वहाँ यह मनुष्य-जाति, अल्प एवं सीमित है। विश्व की अनन्तानन्त जीवराशि के सामने मनुष्य की गणना मे आ जाने वाली अल्प सख्या उसी प्रकार है, जिस प्रकार महासमुद्र के समक्ष एक नन्ही-सी बूँद। चौदह राजु लोक मे मनुष्य को केवल सबसे क्षुद्र एवं सीमित ढाई द्वीप ही रहने को मिला है।

मानव-जीवन की प्राप्ति

संसार में अनन्तकाल से परिभ्रमण करती हुई आत्मा जब क्रमिक विकास का मार्ग अपनाती है, तब वह अनन्त पुण्यकर्म के उदय से निगोद (प्राणी की सबसे अल्पविकसित अवस्था) से निकल कर प्रत्येक-वनस्पति, पृथ्वी, जल आदि योनियो मे जन्म लेती है। यहाँ भी जब अनन्त शुभकर्म का उदय होता है, तब द्वीन्द्रिय केंचुआ आदि के रूप मे जन्म होता है। इसी प्रकार तीन इन्द्रिय चींटी आदि, चतुरिन्द्रिय मक्खी, मच्छर आदि, पंचेन्द्रिय नारक, तिर्यंच आदि की विभिन्न योनियो को पार करता हुआ क्रमश ऊपर उठकर जीव अनन्त पुण्यबल के प्रभाव से मनुष्य-जन्म ग्रहण करता है।[3] भगवान् महावीर कहते है कि जब अशुभ कर्मो का भार दूर होता है, आत्मा शुद्ध, पवित्र और निर्मल बनती है, तब कही यह जीव मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है।[4]

---

१. श्रमण सूत्र, पृ० ३.
२ उत्तराध्ययन, ३६, 'सुहमा सव्वलोगम्मि'
३ वही, १०, ५, २०
४ वही, ३, ७,

विश्व मे मनुष्य ही सबसे थोडी संख्या मे है, अत मनुष्य-जीवन को पा लेना ही दुर्लभ है। "संसारी जीवो को मनुष्य का जन्म चिरकाल तक इधर-उधर अन्य योनियों मे भटकने के बाद बडी कठिनाई से प्राप्त होता है। वह सहज नही है, दुष्कर्म का फल बड़ा ही भंयकर होता है। अतएव हे गौतम क्षणभर के लिए भी प्रमाद मत कर।[१] जो प्राणी छल-कपट से दूर रहता है, प्रकृति से ही सरल होता है, अहकार मे शून्य होकर विनयशील होता है, सब छोटे-बड़ो का यथोचित सम्मान करता है, दूसरो की किसी भी प्रकार की उन्नति को देख कर डाह नही करता, प्रत्युत जिसके हृदय मे हर्ष और आनन्द की स्वाभाविक अनुभूति होती है, रग-रग मे दया का संचार है, जो किसी भी प्राणी को देखकर द्रवित हो जाता है एवं उसकी सहायता के लिए तन-मन-धन सब लुटाने को तैयार हो जाता है, वह मृत्यु के पश्चात् मनुष्य-जन्म पाने का अधिकारी होता है।[२]

मानव-जीवन की महत्ता

जैन-संस्कृति मे मानव-जन्म को बहुत ही दुर्लभ एवं महान् माना गया है। जैन-धर्म के अनुसार देव होना उतना दुर्लभ नही, जितना कि मनुष्य होना दुर्लभ है। जैनागम मे जहाँ कही भी आप किसी को संबोधित होते हुए देखेगे वहाँ 'देवानुप्रिय' शब्द का प्रयोग पायेगे।[३] भगवान् महावीर भी मनुष्य को देवानुप्रिय शब्द से संबोधित करते थे। देवानुप्रिय शब्द का अर्थ है, देवताओ को भी प्रिय। दुर्भाग्य से मानव-जाति ने इस ओर ध्यान नही दिया और वह अपनी श्रेष्ठता को भूल कर अवमानता के दल-दल मे फँसी हुई है। मनुष्य तू देवता से भी ऊँचा है, देवता भी तुझ से प्रेम करते है, वे भी मनुष्य बनने के लिए व्याकुल है। कितनी विराट् प्रेरणा है—मनुष्य की सुप्त आत्मा को जगाने के लिए। मनुष्य-जीवन की इस महत्ता का मूल कारण यह है कि वह अपनी बुद्धि का व्यवस्थित उपयोग कर सत्कार्यो द्वारा उस अविनाश सुख को प्राप्त कर सकता है, जिसकी प्राप्ति के लिए देवता लोग भी व्याकुल रहते है।

---

१. उत्तराध्ययन, १०, ४

२. औपपातिकसूत्र

३. विवागसूयम्, १, १, पृ० ६.

जैनसूत्रों मे मनुष्य जीवन के माहात्म्य का वहुत वर्णन मिलता है।[1] सूत्रकृताग मे लिखा है कि इस मनुष्यलोक में धर्म का सेवन करके जीव ससार-सागर से पार हो जाते है।[2] मनुष्य को छोड कर अन्य गति वाले जीव सिद्धि को प्राप्त नही होते, क्योंकि उनमे ऐसी योग्यता नही है।[3] यह मनुष्यभव प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।[4] जो इस मनुष्य-शरीर से भ्रष्ट हो जाता है, उसे वोधि प्राप्त करना दुर्लभ है।[5] यह मनुष्यभव अत्यन्त दुष्प्राप्य है तथा जीवो को बड़े लम्बे काल के बाद कभी मिलता है, क्योंकि कर्मो के फल गाढ (घोर) होते है।[6] अनेक विघ्नो से परिपूर्ण और क्षण-क्षण घटती हुई आयु वाले इस जीवन मे पूर्व सचित कर्मो को शीघ्र दूर कर देना चाहिए।[7] कुश के अग्र-भाग पर स्थित ओस की बूँद की तरह यह मनुष्यजीवन क्षणभंगुर है।[8]

विकास की परिभाषा

मनुष्य ही क्या, ससार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है तथा दु.ख से भागता है।[9] वास्तव मे प्राणी का अनन्त एव अविनाशी सुख का प्राप्त कर लेना ही उसके जीवन का सर्वोच्च विकास है।

जैनागम मे सुख के दो भेद किए है—(१) आतरिक तथा (२) वाह्य। प्रथम आत्मनिष्ठ है तो द्वितीय वस्तुनिष्ठ, प्रथम आध्यात्मिक है तो द्वितीय भौतिक, प्रथम अजर-अमर है, तो द्वितीय क्षणिक। एक दु ख की कालिमा से सर्वथा रहित है, तो दूसरा सुख की तरह प्रतीत होने वाला किन्तु, दुखो से परिपूर्ण।

---

१. तुलना, "गुह्य ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, न हि मानुपात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्"
—महाभारत।

२. सूत्र कृ०, १, १५, १५।

३ वही, १, १५, १६।

४ वही, १, १५, १७।

५ वही, १, १५, १८।

६. उत्तरा०, १०, ४।

७ वही, १०, ३।

८. वही, १०, २।

९. आचाराग १, २, ८०।

वाह्य सुख मे इस प्रकार के भौतिक तथा पौद्गलिक सुखो का समावेश हो जाता है। यह सुख वस्तुनिष्ठ है अत वस्तु है तो सुख है, अन्यथा दु ख। सच्चा सुख आत्मा से ही पैदा होता है, अत' वह हमेशा स्थिर रहता है। जव आत्मा वाहर भटकता है तो दुःख का शिकार वनता है। और जव लौट कर अपने अन्दर मे ही आता है तो वैराग्यरस का आस्वाद करता है और सुख-शान्ति उसे अपने मे ही मिल जाती है।'[1] प्रवुद्ध-ज्ञानेन्द्रिय मनुष्य को जव उपर्युक्त रूप से सच्चे आत्म-सुख का वोध हो जाता है तो उसके सभी व्यापार आत्मोन्मुख हो जाते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, वुद्धि, मन, शरीर आदि के कार्यो की दिशा वदल जाती है। उसमे प्राणिमात्र के प्रति समानता की भावना पैदा होने लगती है।[2] वह आत्मसुख की झलक पा जाता है और उसे मालूम हो जाता है कि मानवजीवन का ध्येय न धन है, न रूप है, न वल है और न सासारिक सुख ही है; किन्तु मनुष्य जीवन मे मनुष्यता का पूर्ण विकास कर अनन्त सुख प्राप्त करना ही उसका अन्तिम लक्ष्य है।

यो ही कही से घूमता, फिरता, भटकता आत्मा शुभकर्मो के प्रभाव मे मानव-शरीर मे आया, कुछ दिन रहा, खाया-पिया, लडा-झगडा, रोया और एक दिन मर कर काल-प्रवाह मे आगे के लिए वढ गया, भला यह भी कोई जीवन है? जीवन का उद्देश्य मरण नही, मरण पर विजय प्राप्त करना है। इस विराट् ससार मे कोई जाति, कुल, वर्ण और स्थान ऐसा नही है जहाँ इस जीव ने अनन्त वार जन्म-मरण न किया हो। भगवतीसूत्र मे हमारे जन्म-मरण की दु'ख-भरी कहानी का स्पष्टीकरण करने वाली एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तरी है।[3] गौतम पूछते है कि—“भन्ते, असंख्यात कोड़ा-कोडी योजन परिणाम

---

१ “मनुष्यो को वडी-वडी कामनाएँ होती है जिनके कारण वे सच्चे सुख से दूर रहते हैं।” —आचाराग, १, ५, १४१।

२. “प्रत्येक श्रमण-ब्राह्मण को वुला कर पूछो कि भाई, तुम्हे सुख दु ख-रूप है या दु ख दु'ख-रूप ? यदि वे सत्य वोलेगे तो यही कहेगे कि हम को दु ख ही दु खरूप है। फिर उनसे कहना चाहिए कि तुमको जैसे दु ख दुःख-रूप है, वैसे ही सव जीवो को भी दु.ख महाभय का कारण और अशाति-कारक है।” —वही, १, ४, १३३, १३४।

३. भगवती सूत्र, १२, ७, ४५७।

इन विस्तृत लोक मे क्या कही कोई ऐसा भी स्थान है, जहाँ कि इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो ?" महावीर ने उत्तर दिया—"गौतम, अधिक तो क्या, एक परमाणु (पुद्गल) जितना भी ऐसा स्थान नही है, जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो।"

मनुष्य के हाथ-पैर पा लेने से ही कोई मनुष्य नही वन जाता। मनुष्य वनता है मनुष्य की आत्मा पाने से और वह आत्मा मिलती है धर्म के आचरण से। भोग, निरा भोग मनुष्य को राक्षस बनाता है, एकमात्र त्याग की भावना ही मनुष्य को मनुष्य वनाने की क्षमता रखती है।[1]

मोक्ष की प्राप्ति के चार दुर्लभ कारण बताते हुए भी भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन मे मनुष्यत्व को ही सवसे पहले गिनाया है। उन्होने बतलाया कि मनुष्यत्व, शास्त्र-श्रवण, श्रद्धा तथा सदाचार के पालन मे प्रयत्नशीलता, ये चार साधन जीव को प्राप्त होने अत्यन्त कठिन है।"[2]

मनुष्यता ही मनुष्य की सबसे बडी सम्पत्ति है। मनुष्य का व्यक्तिगत भोग-विलास की मनोवृत्ति से अलग रहना, त्याग-मार्ग अपनाना, धर्म और सदाचार के रंग मे अपने को रंगना, जन्म-मरण के वधनो को तोड कर अजर-अमर पद पाने का प्रयत्न करना ही मनुष्यता की ओर अग्रसर होना है। मनुष्य-जीवन का ध्येय पूर्ण प्रकाश पाना है। वह प्रकाश, जिससे वढकर कोई दूसरा प्रकाश नही, वह ध्येय, जिससे बढकर कोई दूसरा ध्येय नही।

व्यक्तित्व का विकास तथा उसके साधन

जैसा कि हम पहिले भी कह चुके है, प्राणी का मनुष्य-जीवन पा जाना ही उसकी विकासोन्मुखता का दर्शक है। केवल मनुष्य जीवन का पा जाना ही व्यवित के विकास के लिए पर्याप्त नही है, किन्तु विकास

---

१. "धर्म को ज्ञानी पुरुषो के पास से समझ कर, स्वीकार कर परिग्रह का संग्रह न करे तथा प्राप्त भोग पदार्थो मे वैराग्य धारण कर लोक के प्रवाह के अनुसार चलना छोड दे।"

—आचाराग, १, ४, १२७।

२. उत्तराध्ययन, ३, १।

के लिए कुछ अन्य बातो की भी आवश्यकता होती है। स्थानाग-सूत्र मे लिखा है कि मानव-व्यक्तित्व के विकास के यह छह स्थान सभी जीवो को सुलभ नही है—(१) मनुष्यभव, (२) आर्यक्षेत्र मे जन्म, (३) सत्कुल मे उत्पत्ति, (४) केवलिप्रज्ञप्त धर्म के सुनने का अवसर, (५) धर्म मे श्रद्धा, तथा (६) श्रद्धा से गृहीत धर्म का शरीर से आचरण।

उपर्युक्त विवरण से प्रतीत होता है कि मनुष्य को अपना पूर्ण विकास करने के लिए जहाँ एक ओर मनुष्य-जीवन तथा आर्यक्षेत्र एवं सुकुल मे जन्मरूप भौतिक साधनो की आवश्यकता है, वहाँ दूसरी ओर जिनोपदिष्ट धर्म का श्रवण कर श्रद्धापूर्वक उसके आचरणरूप आध्यात्मिक साधनो की भी आवश्यकता है।[1] इसी बात को उत्तराध्ययन मे भी दुहराया गया कि—"प्राणिमात्र को इन चार अगो की प्राप्ति होना इस संसार में दुर्लभ है—(१) मनुष्यत्व, (२) श्रुति, (३) श्रद्धा, (४) और संयम-पालन मे शक्ति लगाना।"[2]

मानव-जीवन प्रारम्भ से ही अच्छा या बुरा नही होता, वह तो कच्ची गीली मिट्टी के समान है, जिसे चाहे जिस रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है। चाहे उसके द्वारा अपना और दूसरो का कल्याण कर लो, चाहे उसे व्यर्थ ही पडा रहने दो।[3] जन्म के समय मनुष्य को जीवन के अतिरिक्त अनेक वस्तुएँ प्राप्त होती है। मनुष्य का शरीर सबसे प्रथम वस्तु है जो कि उसे जीवन मे महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करती है। शरीर के साथ उसे परिपूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी प्राप्त होती है। बुद्धि, मन और आयु भी उसे प्राप्त होती है और इन सबसे ऊपर उसके साथ वे पुरातन संस्कार भी रहते है; जिनकी सहायता से वह मानव-जीवन प्राप्त करता है। जैनागम की भाषा मे हम उन्हे कर्म कहते है। मन, वाणी तथा शरीर द्वारा क्षण-प्रतिक्षण आत्मा के

---

१. स्थानाग, ४८५।

२ उत्तराध्ययन, ३, १।

३. "हे पुरुष, तू ही तेरा मित्र है, बाहर क्यो मित्र खोजता है ? अपने को ही वश मे रख तो तू सब दु:खो से मुक्त हो जावेगा।"

—आचाराग, १, ३, ११७, ११८।

साथ सम्बद्ध होने से ये कर्म ही आत्मा के उत्थान एवं पतन के लिए पूर्णरूप से उत्तरदायी है।[1]

वुद्धि की अर्द्ध-विकसित अवस्था पार करने के वाद मनुष्य जब संसार का वास्तविक दर्शन और ज्ञान प्राप्त करता है, वह अवस्था मनुष्य के जीवन मे वहुत महत्त्वपूर्ण मानी गई है। यहाँ से उसके जीवन के विकास अथवा पतन का प्रारम्भ होता है। इस अवस्था मे यदि मनुष्य अपनी नाना प्रवृत्तियो और वाह्य उत्तेजनाओ के प्रवाह मे अपने को निर्वन्ध छोड़ दे तो वह जीवन की परस्पर विरोधी क्षुद्र और निरर्थक वातों मे अपने को फँसा देगा और वह जीवन के मूल स्रोत को स्पर्श भी न कर सकेगा। यही कारण है कि मानव-गति को सुगति तथा दुर्गति दोनों रूप माना गया है।[2]

आत्मज्ञान—मनुष्य के विकास की सवसे प्रथम श्रेणी यह है कि वह अपनी वर्तमान स्थिति पर गहन विचार करे कि उसे मनुष्यजीवन मे जो जो वस्तुएँ प्राप्त हुई है, उनकी वास्तविकता क्या है ? शरीर क्या है, और आत्मा क्या है ; मैं कौन हू, मै कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा ; यह आत्मा जन्म-जन्मान्तर मे संक्रमण करने वाला है अथवा नही ? आदि प्रश्नो पर उसे पूर्णरूप से विचार करना चाहिए। संभव है, उसे इन प्रश्नो का उत्तर स्वयं न मिल सके तो उसका कर्तव्य है कि वह किसी विशिष्ट ज्ञानी का समागम प्राप्त कर संसार की वास्तविकता को जानने की चेष्टा करे।[3]

धीरे-धीरे उसे ज्ञात होता है कि इस संसार मे दो द्रव्य प्रधान है, आत्मा तथा अनात्मा। सांसारिक व्यक्ति का आत्मा अनात्मा के वन्धन मे पड़ कर जन्म-जन्मान्तरो मे निरन्तर संक्रमण करता रहता है। आत्मा का स्वभाव अमूर्त तथा ज्ञानदर्शनरूप है जव कि अनात्मा का स्वभाव विल्कुल इसने विपरीत है।[4]

---

१. "कर्म से वँवा हुआ यह जीव ससार मे परिभ्रमण करता रहता है।"
—उत्तराध्ययन, ३३, १।

२. स्थानाग, १२१।

३. आचाराग, १, १, १-५।

४. वही, १, १, ११।

कर्मसमारम्भ का ज्ञान—आत्मज्ञान के साथ ही मनुष्य को कर्मसमारम्भ का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, क्योकि कर्मसमारम्भ ही जीवन को अनेक योनियो मे भ्रमण कराता हुआ सासारिक दु खो को सहन करने के लिए बाध्य करता है।

संसार का प्रत्येक प्राणी अपने जीवन की रक्षा के लिए लोक मे मान-सम्मान, पूजा-प्रतिष्ठा आदि पाने के लिए, जन्मान्तर मे उच्च जाति के प्राप्त्यर्थ, शत्रु आदि के मारणार्थ तथा दु खो से मुक्ति के लिए एवं अपने दु खो को नष्ट करने के लिए जो अनेक प्रकार के हिंसादि क्रियाओ से परिपूर्ण कर्म करता है, वे ही कर्मसमारम्भ कहलाते है। यही कर्मसमारम्भ कर्मबंधन का कारण होने से संसार-परिभ्रमण का कारण है।

यह कर्मसमारम्भ तीन प्रकार से होता है—या तो ये हिंसादि-परिपूर्ण कार्य स्वयं किये जाते है अथवा दूसरो से कराए जाते है अथवा किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किये जाने पर अनुमोदना किए जाते है। आत्मज्ञान से परिपूर्ण विकासोन्मुख व्यक्ति के लिए तीनो प्रकार से ही कर्मसमारम्भ न करने का संकल्प करना चाहिए।[1]

हिंसादि का ज्ञान—एक साधारण व्यक्ति को जब आत्मज्ञान होता है तो उसे संसार की समस्त आत्माओ के प्रति पूर्ण सद्भावना पैदा होती है और वह यह जानने की चेष्टा करता है कि इस पृथ्वी-तल पर कहाँ-कहाँ आत्मा का निवास है। अन्त मे उसे ज्ञात होता है कि संसार मे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन सभी मे आत्मा का निवास है। इन पाँच प्रकार के जीवो के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का जीव भी है, जो चलता-फिरता है और जिसमे जीवन का ज्ञान स्पष्टरूप से दिखाई देता है। छोटे से छोटे कीड़े से लगा कर मनुष्य तक के जीव इसी द्वितीय श्रेणी मे आते है। आत्मज्ञान के साथ इन छह प्रकार के जीवो का ज्ञान भी आवश्यक है। कर्मसमारम्भ को अनन्त संसार का कारण समझने वाला प्राणी इन छह काय के जीवो की सुरक्षा मे निरन्तर तत्पर रहता हुआ अपनी आत्मा के विकास के प्रति उन्मुख रहता है। वह निष्प्रयोजन किसी प्राणी का नाश तो करता ही नही है, सप्रयोजन भी प्रमादरहित हो कर कम-से-कम प्राणि-हिसा हो, ऐसा संयत जीवन विताने का प्रयत्न करता है।[2]

---

१ आचारांग, १, १, ११-१३

२. वही, १, १, १५-६१ (प्रथम अध्याय 'शस्त्रपरिज्ञा')।

इन्द्रिय-विषयो के प्रति विराग—शव्दादि इन्द्रिय-विपयो के प्रति अनुरक्त व्यक्ति दु खी हो कर प्रमादी हो जाता है। प्रमाद के कारण ज्ञान का ह्रास और मोह (अज्ञान) की वृद्धि होती है। वह सोचने लगता है कि यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है, वह मेरी स्त्री, पुत्र, वधू, मित्र, नाते-रिश्तेदार है। यह मेरी अनेक प्रकार की धन-सम्पत्ति है, भोजन-वस्त्र आदि है, इस प्रकार का मोह भी उसे होता है। यह मोही-प्राणी रात-दिन दु खी होता हुआ इप्ट-पदार्थो के संयोग की अभिलापा करता है और पुन· धनादिक मे लुब्ध हो कर अनेक प्रकार के हिसात्मक कार्यो मे प्रवृत्त होने लगता है। अत ज्ञानी पुरुप का कर्त्तव्य है कि वह इन्द्रियो के विपयो से दूर रहने का निरन्तर अभ्यास करे।[1]

उपासक तथा श्रमण, जीवन

जैन-धर्म मे आचरण को चारित्र कहते है। चारित्र का अर्थ है संयम, वासनाओ तथा भोग-विलासो का त्याग, इन्द्रियो का निग्रह, अशुभ प्रवृत्ति की निवृत्ति और शुभ प्रवृत्ति की स्वीकृति।

चारित्र के प्रधानरूप से दो भेद माने गए है, अगार-चारित्र, तथा अनगार-चारित्र।[2] जीवन की पूर्ण त्यागवृत्ति अनगारचारित्र है तथा अपूर्णरूप से त्यागवृत्ति अगारचरित्र है। पूर्ण त्याग महाव्रत होता है। महाव्रत का अर्थ है, हिसा, असत्य, चौर्य, मैथुन और परिग्रह का सर्वथा प्रत्याख्यान। यह साधुओ के लिए होता है। हिसादि का एकदेश से प्रत्याख्यान अणुव्रत कहलाता है, यह उपासक (गृहस्थ) के लिए है।[3]

उपासक—हृदय मे आत्मतत्त्व के प्रति दृढ विश्वास ले कर, आत्मा तथा अनात्मा के भेद को समझ कर साधना के पथ पर चलने के लिए प्रयत्नशील मनुष्य जव हिसादि पापो से अपनी परिस्थिति के अनुसार विरक्त होने का संकल्प करता है तो उसे साधकजीवन की सबसे पहली उपासक-अवस्था प्राप्त होती है। वह घर मे ही रह कर निरन्तर अहिंसा-तत्त्व की साधना मे संलग्न रहता है। गार्हस्थिक कार्यवश यदि वह

---

१ आचाराग, १, १, ६२।

२ "चरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते, तजहा, अगारचरित्तधम्मे चेव अणगार-चरित्तधम्मे चेव" स्थानाग ७२।

३. स्थानांग, ३८९।

अहिंसादि धर्म का पूर्ण पालन करने में असमर्थ रहता है तो भी वह मन से कभी भी किसी प्रकार की हिंसादि की भावना नही करता।[1]

जैनागमों मे उपासक के बारह व्रतो का वर्णन किया गया है। उनमे पाँच अणुव्रत होते है। अणु का अर्थ छोटा होता है, और व्रत का अर्थ प्रतिज्ञा है। साधुओ के महाव्रतो की अपेक्षा गृहस्थों के हिंसा आदि के त्याग की प्रक्रिया मर्यादित होती है, अत. वह अणुव्रत है। सात शिक्षाव्रत भी उन व्रतो के अंग है। शिक्षा का अर्थ शिक्षण, अभ्यास है। जिनके द्वारा धर्म की शिक्षा ली जाए, धर्म का अभ्यास किया जाए, वे प्रतिदिन अभ्यास करने योग्य नियम शिक्षाव्रत कहे जाते है।[2]

उपासक-अवस्था में मनुष्य के हृदय मे धर्म के प्रति श्रद्धा निरन्तर दृढ से दृढतर होती रहती है। साधु-समागम तथा आगम-अभ्यास द्वारा वह अपने तात्त्विक ज्ञान को निरन्तर बढ़ाता रहता है, अन्त मे एक दिन वह इस स्थिति पर पहुँच जाता है, जहाँ वह यह अनुभव करने लगता है कि गार्हस्थिक जीवन एक बन्धन है और वह उसे तोडने को उत्सुक हो जाता है।[3] साधक की वास्तविक साधना का प्रारम्भ यही से है।

श्रमण—इन्द्रियो के विषयो के प्रति विरक्त, छह काय के जीवो की रक्षा मे सावधान, श्रद्धा एवं ज्ञान से परिपूर्ण व्यक्ति एक दिन इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जब तक घर मे निवास है, तब तक निश्चय ही संयम का पूर्ण पालन नही हो सकता, क्योंकि गृह-निवास असंयम का प्रतीक है।[4] अत आत्मा के विकास मे तत्पर व्यक्ति सुअवसर प्राप्त कर गृह-त्याग करके अनगार-अवस्था को प्राप्त करता है।

१　'हिंसा' चार प्रकार की है—(१) सकल्पी (इच्छापूर्वक), (२) आरम्भी (गृहकार्य के निमित्त), (३) उद्योगी (आजीविका के निमित्त) (४) विरोधी (देश तथा आत्मरक्षा के निमित्त)। गृहस्थ इनमे से केवल सकल्पी हिंसा का त्यागी होता है।　　—जैनधर्म, पृ० १८१।

२.　उवासगदसाओ, १, ४, पृ० ४.

३.　"प्रमादी (असयमी) पुरुष घर मे निवास करते है।"

—आचाराग, १,१,४४

४.　वही, १, ११, ४४।

विकास की चरम अवस्था

प्रव्रज्या-ग्रहण के बाद साधु की विषय-विरागता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। भौतिक इन्द्रियो के प्रयोग द्वारा वह वस्तुओ को जान तो लेता है, किन्तु किसी भी वस्तु के प्रति उसे प्राप्त करने की अभिलाषा नही करता।[1] सम्पूर्ण प्रकार से विषय-विरक्त साधु के जीवन का केवल एक ही महान् उद्देश्य रह जाता है, वह है निरन्तर आत्म-विकास। और इस उद्देश्य के सामने उसके जीवन की समस्त क्रियाएँ गौण हो जाती है। चलना, फिरना, खाना, पीना, उठना, बैठना सभी कार्य आत्म-विकास की दिशा मे होते है। अन्त मे पूर्णमुक्त वह जीव केवल आत्म-तत्त्व को प्राप्त कर लेता है; जिसे जैनागम की भाषा में निर्वाण—प्राप्ति कहते है।[2]

व्यक्तित्व-विकास की विभिन्न अवस्थाएँ (अ)

जैनधर्म मे पाँच प्रकार की अवस्था वाले व्यक्ति सर्वोत्कृष्ट एवं लोकपूज्य माने गए है।[3] उनके नाम इस प्रकार है—

(१) अरिहंत, (२) सिद्ध, (३) आयरिय (आचार्य), (४) उवज्झाय (उपाध्याय), (५) साहू (साधु)

अरिहंत तथा सिद्ध, ये साधना की पूर्ण अवस्थाएँ है। सिद्ध विदेह-मुक्त तथा अरिहंत सदेह-मुक्त परमात्मा है। अन्य अवस्थाएँ साधना के पथ पर चलने वाले साधक की है। ये सभी अवस्थाएँ एक अपवाद को छोड़ कर अपनी योग्यता से क्रम से रखी गई है। वह अपवाद है, सिद्ध के पहिले अरिहंत का आना। इसका कारण संभवत यह जान पड़ता है कि, चूंकि संसारी; व्यक्तियो का प्रत्यक्ष सम्बन्ध (उपदेश आदि के कारण) अरिहंत से होता है, अत उनका स्मरण सिद्ध से पूर्व किया गया है। यद्यपि सिद्धावस्था अरिहंत की अपेक्षा उत्कृष्ट है।[4]

---

१ वही, १, २, ७५

२ समवायाग, १.

३ 'णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं', भगवती, १, १, १, २, कल्पसूत्र, १, १, १।

४ श्रमणसूत्र पृ० १२, १३।

अरिहंत आदि किसी व्यक्ति विशेष के नाम नहीं है; प्रत्युत आध्यात्मिक गुणो के विकास से प्राप्त होने वाले पाच महान् आध्यात्मिक मंगलमय पद है। यही कारण है कि ये पाचो महान् आत्माएँ पंच-परमेष्ठी के नाम से संबोधित की जाती है।[1] परमेष्ठी शब्द का अर्थ है—जो परमपद (सर्वोच्च अवस्था) मे रहते है। संसार के अन्य साधारण वासनामग्न आत्माओ की अपेक्षा आध्यात्मिक विकास के उच्च स्वरूप को प्राप्त अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ही 'पंचपरमेष्ठी' है।

अरिहंत—'अरिहंत' शब्द का अर्थ है, अरि (कर्मशत्रु) का हनन (नाश) करने वाला। इसका फलितार्थ यह हुआ कि जो महान् आत्मा आध्यात्मिक साधना के बल पर मन के विकारो से लडते है, वासनाओं से संघर्ष करते है, राग-द्वेष से टक्कर लेते है और अंत मे इनको पूर्ण रूप से सदा के लिए नष्ट कर डालते हैं, वे अरिहंत कहलाते है। अरिहंत अवस्था को प्राप्त व्यक्ति "अरहा" (अर्हत्) कहा जाता है। जैनसूत्रों मे प्राय सभी जगह महावीर आदि तीर्थंकरो के लिए अर्हत् विशेषण का प्रयोग हुआ है।[2]

"अरिहंत" शब्द के स्थान मे कुछ प्राचीन आचार्यो ने अरहंत और अरुहन्त पाठान्तर भी स्वीकार किया है। उनके विभिन्न संस्कृत रूपान्तर होते है; जैसे—अर्हन्त, अरहोन्तर अरथान्त, अरहन्त और अरुहन्त। अर्ह—पूजायाम् धातु से बनने वाले अर्हन्त शब्द का अर्थ पूज्य है। वीतराग तीर्थंकरदेव विश्व के कल्याणकारी धर्म के प्रवर्तक है, अत. असुर, सुर, नर आदि सभी के पूजनीय हैं।[3]

सिद्ध अवस्था प्राप्त करने से पूर्व आत्मा अर्हत्-अवस्था को प्राप्त करता है। इस अवस्था को हम अर्द्धसिद्ध-अवस्था भी कह सकते है। जब आत्मा आत्म-गुणो को नष्ट करने वाले कर्मो (४) के बन्धन से मुक्त हो जाता है, तब उसे अर्हत्-अवस्था प्राप्त होती है। यह अवस्था उसे संसार मे

---

१. श्रमणसूत्र, पृ० ६

२. अंतगडदसाओ, १, १, पृ० ३.

३. सामायिक सूत्र पृ० २५९.

४. "क्षीणमोह अर्हत् के चार घाती कर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय) एक साथ नष्ट हो जाते है।" स्थानांग, २२६.

ही प्राप्त हो जाती है। अत. शरीर रहने के कारण कुछ कर्मो का संवन्ध उसके साथ रहता है, यद्यपि वे कर्म उसकी आत्मा के पूर्ण विकास मे थोड़ी-सी भी वाधा नही डालते।[१] कर्मवन्धन के सद्भाव के कारण ही वह पूर्णमुक्त अर्थात् सिद्ध नही कहलाता। फिर भी वह आत्म-विकास मे वाधक कर्मो[२] के नष्ट हो जाने से आत्मा के पूर्ण विकसित गुणो को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान के वाधक कर्म नष्ट होने से उसे पूर्ण ज्ञान अर्थात् केवल-ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और वह समस्त संसार के अणु-परमाणु की प्रति समय की प्रत्येक अवस्था को जानने लगता है।[3] इसी प्रकार दर्शन के वाधक कर्म के नष्ट हो जाने से वह संसार की क्षण-प्रति-क्षण की अवस्था का दर्शन करने लगता है। मोहनीय और अंतराय के नष्ट होने से अनन्तसुख और उसे अनन्तशक्ति की प्राप्ति हो जाती है, इस प्रकार अर्हत्-अवस्था को प्राप्त प्राणी सासारिक परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। ये प्रथम समय 'जिन' सयोगकेवली, संदेहमुक्त तथा जीवन्मुक्त आदि नामों से कहे जाते है।[४]

तीर्थंकर

अरिहंत की भूमिका मे तीर्थंकर-अरिहंत भी आ जाते है और दूसरे समस्त अरिहंत भी। तीर्थकर और दूसरे केवली-अरिहंतो मे आत्म-विकास की दृष्टि से कुछ भी अंतर नही है। सव अरिहंत अन्तरंग मे एक भूमिका पर होते है। सवका ज्ञान, दर्शन, चरित्र और वीर्य समान ही होता है। सवके सव अरिहंत 'क्षीणमोह' की भूमिका पार करने के वाद तेरहवे गुणस्थान मे होते हैं।

तीर्थकर का अर्थ है तीर्थ का निर्माता।[५] जिसके द्वारा संसाररूप मोह-माया का नद सुविधा से तिरा जाए; वह धर्मतीर्थ कहलाता है।

---

१. अर्हत् के चार कर्म मौजूद रहते है—"वेदनीय, आयु, नाम, और गोत्र"
स्थानाग, २६८,

२ अर्हन्त के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये ४ घातीकर्म नष्ट हो जाते हैं।

३. जैनसूत्राज्, भाग १, (कल्पसूत्र, ५, १२७ पृ० २६६)

४. तुलना, "जीवन्मुक्तो नाम· · 'अखिलवन्धरहितो व्रह्मनिष्ठ."
वेदान्तसार, पृ० १४

५. "तीर्थं प्रवचने शास्त्रे लव्धाम्नाये दिगम्वरे,
पुण्यारण्ये जलोत्तारे महासत्त्वे महामुनौ" अमरकोष।

इस धर्मतीर्थ की स्थापना करने के कारण भगवान् महावीर आदि तीर्थंकर कहलाते हे। स्थानागसूत्र मे लिखा है कि अर्हतों के निर्वाण से लोक मे अंधकार हो जाता है तथा अर्हतो के उत्पन्न होने से लोक मे उद्योत हो जाता है।[1]

तीर्थंकर 'नामकर्म' की एक प्रकृति (भेद) मानी गई है[2], जिसका वंध किन्ही विशिष्ट शुभ कार्यो के करने से होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि यदि कोई व्यक्ति जीवनभर शुद्ध भावना से उन शुभ कार्यो को करता रहे तो वह अग्रिम जन्म मे तीर्थंकरपद को धारण कर सकता है। नायाधम्मकहाओ मे वर्णन है कि महावल मुनि अनेक प्रकार की तपस्याओ को करके सर्वोत्कृष्ट पुण्य के परिणामस्वरूप तीर्थंकर नामकर्म का वंध करते है, जिसका कि वंध निम्नलिखित वीस कारणो से होता है।[3]

१—७. अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, वहुश्रुत एवं तपस्वी इन सात व्यक्तियो मे के प्रतिवात्सल्य भक्ति प्रदर्शित करना।

८ अनवरत ज्ञानाभ्यास करना।

९. जीवादि पदार्थो के यथार्थ श्रद्धारूप शुद्ध सम्यक्त्व का पालन करना।

१०. गुरुजनो का विनय करना।

११ प्रायश्चित्त एवं प्रतिक्रमण द्वारा अपने अपराधो की क्षमायाचना करना।

१६ अहिंसादि व्रतो का अतिचाररहित योग्य रीति से पालन करना।

१३. पापो की उपेक्षा करते हुए वैराग्यभाव धारण करना।

१४ वाह्य और आभ्यन्तर तप करना।

१५ यथाशक्ति त्यागवृत्ति को अपनाना।

१६ साधुजनों की सेवा करना।

१७. समताभाव रखना।

---

१. स्थानाग, १३४।

२. समवायाग, ४२।

३. नायावम्मकहाओ ८, ६९, पृ० ९१।

१८ ज्ञान-शक्ति को निरन्तर बढ़ाते रहना।

१९. आगम पर श्रद्धा रखना।

२०. प्रवचन का प्रकाश करना।

तीर्थंकर अपने समय का सबसे वड़ा धर्म प्रवर्तक होता है। जिन—शासन और जिन—संघ का पूर्ण उत्तरदायित्व तीर्थंकर पर होता है। भगवतीसूत्र मे लिखा है कि श्रमण भगवान् महावीर तीर्थंकर थे, वे स्वयंबुद्ध थे, वे सम्पूर्ण पुरुषो मे श्रेष्ठ, सिंह की तरह निर्भय तथा शक्तिशाली और कमल की तरह सुन्दर एवं समस्त संसार के स्वामी थे। वे लोगो को प्रकाश देने वाले थे, चक्षु देने वाले थे तथा लोगो के सन्मार्ग के प्रदर्शक थे। वे संसार से भयभीत प्राणियो को शरण देने वाले थे। वे छद्म अर्थात् छल, प्रमाद एवं घातीकर्मावरणो से दूर थे। वे जिन, तीर्ण, तारक, वुद्ध, वोधक, मुक्त, मोचक, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे तथा शिव, अचल, अरुज, अनन्त अक्षय, अव्यावाध तथा अपुनरावर्तक सिद्ध गति को प्राप्त करने का लक्ष्य रखते थे।[1]

उर्पयुक्त सभी विशेषण इस वात का द्योतन करते है कि तीर्थकर स्वयबुद्ध हो कर प्राणिमात्र को वास्तविक धर्म का रहस्य बता कर समस्त संसार के कल्याण मे तत्पर रहते है।

तीर्थंकर भी अर्हत्-अवस्था को प्राप्त करता है। अर्थात् वह आत्मगुण-विनाशक चार कर्मो का नाश कर पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सूख और शक्ति को प्राप्त कर लेता है। अर्हत्-अवस्था को प्राप्त कर लेने के बाद ही तीर्थंकर धर्म का उपदेश देते है; इसके पूर्व नही। भगवान् महावीर ने १२॥ वर्ष की तपस्या के वाद जब अर्हत्-अवस्था को प्राप्त किया; तब ही उन्होने उपदेश देना प्रारम्भ किया।[2]

पूर्वजन्म मे शुभ कार्यो द्वारा अनन्त पुण्यबन्ध करने वाला जीव अगले भव मे तीर्थंकर अवस्था को प्राप्त करता है। अत वह जन्म से ही तीर्थंकर होता है। तीर्थंकर की माता पुत्र के गर्भ में आते ही १४ शुभ स्वप्न देखती है। तीर्थंकर के पिता जव उन स्वप्नो का रहस्य समझाते

---

१. भगवती सूत्र, १ ५ तथा नायाधम्मकहाओ १।

२. जैनसूत्राज् भाग १ (कल्पसूत्र १, ५, १२१,-१२२)।

है, तव उनकी माता को ज्ञात होता है कि कोई अतिशय पुण्यशाली व्यक्ति इस पृथ्वी पर जन्म लेने वाला है।[1]

तीर्थंकर का जन्मोत्सव मनाने के लिए स्वर्ग से देवतागण आते है। वे अमृत, गन्ध, चूर्ण, पुष्प और रत्नो की वृष्टि करते है, और फिर तीर्थंकर का अभिषेक कर उन्हे तिलक तथा रक्षावन्धन आदि करते है।[2] तीर्थंकर की दीक्षा का जव समय निकट आता है, तव पांचवे कल्प (स्वर्ग) व्रह्मलोक मे रहने वाले लोकान्तिक देवता उनको आ कर समझाते है कि 'हे भगवन्'! आप सकल जीवों के हितकारक, धर्मतीर्थ की स्थापना करे।[3] इस सम्वोधन के साथ ही उन्हे अपने तीर्थंकरत्व का वोध होता है और वे निकट भविष्य मे दीक्षा की तैयारी करने लगते है।

दीक्षा के समय भी देवी—देवता स्वर्ग से आते है और वे मनुष्यो के साथ मिल कर महोत्सव मनाते है। उस समय तीर्थंकर एक ही वस्त्र धारण कर पालकी मे बैठते है और सवके साथ वन की ओर चलते है। अंत मे दीक्षा धारण कर तपस्या में संलग्न हो कर वे केवलज्ञान प्राप्त कर अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ एवं समभावदर्शी हो जाते है। केवलज्ञानप्राप्ति के समय पुन देवी-देवता और मनुष्य उत्सव का आयोजन करते है। इसी समय भगवान् की अद्वितीय प्रतिभा एवं ज्ञान को देख कर अनेक स्त्री-पुरुष उनके अनुयायी वन जाते है।[4]

तीर्थंकर का वास्तविक तीर्थ—प्रवर्तन यही से प्रारम्भ होता है। वे देवी-देवता स्त्री-पुरुप सभी को सद्भाव से धर्म का उपदेश देते है। धर्म का उपदेश देते हुए अन्त मे अवशिष्ट कर्मो का नाश कर वे निर्वाणलाभ करते है।[5]

---

१ वही (१, ३, ३१, ४६)।

२. जैनसूत्राज् भाग १, (कल्पसूत्र १, ५, ९८), तथा आचाराग २, १५ ८

३. वही „ १, ५, ११०, १११।

४. वही „ १, ५, ११२, ११३, १२०।

५. जैनसूत्राज् भाग १, कल्पसूत्र १, ५, १३४-१४२।

६. वही „ १ ५ १४७।

समवायाग मे ३४ बुद्धातिशयो का वर्णन है।[1] टीकाकार अभयदेव सूरि ने बुद्ध का अर्थ तीर्थकर किया है।[2]

इन अतिशयो के अनुसार तीर्थंकरो की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती है—

१ तीर्थंकरो के सिर के बाल, दाढी तथा मूंछ, एवं रोम और नख वढते नही है, हमेशा एक ही स्थिति में रहते है।

२ उनका शरीर हमेशा रोग तथा मल से रहित होता है।

३. उनका मांस तथा खून गाय के दूध के समान सफेद वर्ण का होता है।

४ उनका श्वासोच्छ्वास कमल के समान सुगन्धित होता है।

५ उनका आहार तथा नीहार (मूत्रपुरीषोत्सर्ग) दृष्टिगोचर नही होता।

६. वे धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते है।

७ उनके ऊपर तीन छत्र लटकते रहते है।

८ उनके दोनो ओर चामर लटकते है।

९ स्फटिकमणि के वने हुए पाद-पीठ सहित उनका स्वच्छ सिंहासन होता है।

१० उनके आगे हमेशा अनेक लघुपताकाओ से वेष्टित एक इन्द्र-ध्वज पताका चलती है।

११. जहाँ-जहाँ अरिहत भगवान् ठहरते है, अथवा बैठते है, वहाँ-वहाँ यक्ष-देव सछत्र, सध्वज, सघट, सपताक तथा पत्र-पुष्पों से व्याप्त अशोकवृक्ष का निर्माण करते हैं।

१२ उनके मस्तक के पीछे दशो दिशाओ को प्रकाशित करने वाला तेजोमडल होता हैं। जहाँ भगवान् का गमन होता है; वहाँ निम्नलिखित परिवर्तन हो जाते है—

१३ भूमिभाग समान तथा सुन्दर हो जाता है।

---

१. समवायाग, ३४।

२. वही, टी० (अभयदेव) पृ० ३५।

१४ कण्टक अधोमुख हो जाते हैं।

१५ ऋतुएँ सुखस्पर्श वाली हो जाती हैं।

१६ समवर्तक वायु के द्वारा एक योजन तक के क्षेत्र की शुद्धि हो जाती है।

१७. मेघ द्वारा उचित विन्दुपात से रज और रेणु का नाश हो जाता है।

१८ पंचवर्ण वाला सुन्दर पुष्पसमुदाय प्रकट हो जाता है।

१९ (अ) अनेक प्रकार की धूप के धुएँ से क्षेत्र सुगंधित हो जाता है।

(व) अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध का अभाव हो जाता है।

२० (अ) भगवान् के दोनो ओर आभूषणो से सुसज्जित यक्ष चमर ढोरते हैं।

(व) मनोज्ञशब्दादि का प्रादुर्भाव हो जाता है।

(स) उपदेश करने के लिए अरिहंत भगवान् के मुख से एक योजन को उल्लंघन करने वाला हृदयगम स्वर निकलता है।

२२ भगवान् का भापण अर्द्धमागधी भापा मे होता है।

२३ भगवान् द्वारा प्रयुक्त भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद आदि समस्त प्राणिवर्ग की भाषा के रूप मे परिवर्तित हो जाती है।

२४ पहिले बद्धवैर देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, गंधर्व आदि देव भगवान् के पादमूल मे प्रशातचित्त हो कर धर्म-श्रवण करते है।

२५ अन्य तीर्थ वाले प्रावचनिक (विद्वान्) भी भगवान् को नमस्कार करते है।

२६ अन्य तीर्थ वाले विद्वान् भगवान् के पादमूल में आ कर निरुत्तर हो जाते है। जहाँ भगवान् का विहार होता है, वहाँ पच्चीस योजन तक निम्न बाते नही होती—

२७. ईति (धान्य को नष्ट करने वाले चूहे आदि प्राणी की उत्पत्ति) नही होती। २८ मारी (संक्रामक वीमारी) नही होती।

२९. अपनी सेना उपद्रव नही करती।

३० दूसरे राजा की सेना उपद्रव नही करती।

३१ अतिवृष्टि नही होती।

३२. अनावृष्टि नही होती।

३३. दुर्भिक्ष नही होता।

३४ रुधिरवृष्टि तथा ज्वरादि का प्रकोप नही होता।

सिद्ध

दूसरा पद सिद्ध का है। सिद्ध का अर्थ पूर्ण है। जो राग-द्वेषरूप शत्रुओ को जीत कर, अरिहंत बन कर चौदहवे गुणस्थान[1] की भूमिका को भी पार कर सदा के लिए जन्म-मरण से रहित हो कर शरीर और शरीरसम्बन्धी सुख-दुःखो को पार कर, अनन्त, एकरस आत्म-स्वरूप में स्थित हो गए है, वे सिद्ध कहलाते है। सिद्धदशा मुक्तदशा है, वहाँ आत्मा ही आत्मा है। वहाँ कर्म नही और कर्म-वन्ध के कारण भी नही है। अतएव वहाँ से लौट कर संसार मे आना नही है; जन्म-मरण पाना नही है। सिद्ध, लोक के अग्रभाग मे विराजमान है। जहाँ एक सिद्ध है वहाँ अनन्त सिद्ध है। प्रकाश मे प्रकाश मिला हुआ है। "णमो सिद्धाणं" के पद द्वारा त्रिलोकवर्ती अनंतानंत सिद्धो को नमस्कार किया जाता है। साधक, सम्यक्त्व की भूमिका से चतुर्थ गुणस्थान से विकास करता हुआ जीवन्मुक्त अरिहंत बनता है और उसके वाद विदेहमुक्त हो जाता है। इस प्रकार सिद्ध आत्म-विकास की अन्तिम कोटि पर है, उससे आगे और कोई विकासभूमिका नही है। यह साधक से, साधना द्वारा सिद्ध होने की अमर यात्रा है। जैन संस्कृति का अन्तिम ध्येय सिद्धत्व है।[2]

ससारिक अवस्था मे प्राणी के कर्मो का वंधन होता है। क्षण-प्रतिक्षण प्राणी इन कर्मो के फल का अनुभव करके इनसे मुक्ति भी पाता रहता है और क्षण-प्रतिक्षण शुभ और अशुभ क्रिया-रूप व्यापार द्वारा इन्ही कर्मो का सचय भी करता रहता है। इस प्रकार कर्मो की एक संतति चलती रहती है, जो इस आत्मा को कभी स्वतन्त्र नही होने देती। साधक संयम के द्वारा आने वाले कर्मो का मार्ग वन्द कर देता है और

---

१. समवायाग, १४।

२ श्रमण सूत्र, पृ ९

तप के द्वारा संचित कर्मो का नाश कर कर्मसंतति से हमेशा के लिए मुक्ति पा लेता है। कर्म-बन्धन से पूर्ण मुक्ति पा लेना ही आत्मा की सर्वोच्च विकसित अवस्था है। इसी को निर्वाणप्राप्ति कहते है, और यही सिद्ध-अवस्था कहलाती है।

अरिहंत-अवस्था मे चार आत्मनाशक कर्मो का अभाव होता है। शरीर के सम्बन्ध से अन्य चार कर्म उसके उपस्थित रहते है। जिस समय वह शरीर छोडता है, तत्क्षण अवशिष्ट चार कर्मो का भी अभाव हो जाने के कारण वह सिद्ध हो जाता है।[१] महावीर ने जिस क्षण अपापा (पावा) मे मृत्यु को प्राप्त किया, उसी क्षण वे सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त हो गए।[2]

सिद्धो के आठ ही कर्मो का अभाव हो जाता है। इसी बात को दृष्टि मे रख कर समवायाग सूत्र मे सिद्ध के ३१ गुणो का वर्णन किया गया है। आभिनिबोधिक ज्ञानावरणादि पाँच ज्ञानावरणो के अभाव से ज्ञान सम्बन्धी पाँच गुण, चक्षुदर्शनावरणादि नौ दर्शनावरणो के अभाव से दर्शन-सम्बन्धी नौ गुण, सातावेदनीय तथा असतावेदनीय के अभाव से दो गुण, दर्शनमोहनीय तथा चरित्रमोहनीय के अभाव से दो गुण, नरकादि चार आयु के अभाव से चार गुण, उच्चगोत्र और नीचगोत्र के अभाव से दो गुण, शुभनाम तथा अशुभनाम के अभाव से दो गुण, दानान्तराय आदि पाँच अन्तरायो के अभाव से पाँच गुण इस प्रकार (५+९+२+२+४+२+२+५) सिद्धो के कुल ३१ गुण कहे गए है।[3]

सिद्धो को प्रथमसमय सिद्ध अयोग-केवली तथा विदेहमुक्त कहा जाता है।[४]

आचार्य

व्यवस्था और अनुशासन की दृष्टि से श्रमणजीवन के जो तीन भेद किये जाते है उनमे आचार्य का स्थान सबसे प्रधान एवं प्रथम है। द्वित्तीय स्थान उपाध्याय का तथा अन्तिम स्थान साधु का है।

---

१. स्थानाग, १९६
२ कल्पसूत्र १ ५ १२३ (जैनसूत्राज् भाग १)
३ समवायाग, ३१।
४ तुलना 'अथ देह अवसाने कार्यसस्काराणामपि विनाशात् परमकैवल्यमानन्दैकरस अखड ब्रह्मावतिष्ठते' वेदान्तसार, पृ० २५।

श्रमणअवस्था को प्राप्त व्यक्ति के लिये आवश्यक होता था कि वह स्वतंत्ररूप मे विचरण न कर किसी श्रमण-संघ मे सम्मिलित हो, क्योकि एकान्त विचरण के कारण संभव है कि कभी संयम के नष्ट होने का अवसर आ जाए।[1] आचार्य इस प्रकार के श्रमणसंघो का नेता होता था। महावीर के चतुर्विध संघ मे जो उनके ११ शिष्य (गणधर) थे, वे सभी आचार्य थे। उनमे प्रत्येक के अपने-अपने श्रमण-संघ थे। सबसे प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम के श्रमण-संघ मे ५०० श्रमण थे। द्वितीय गणधर अग्निभूति के श्रमण-संघ में ५०० श्रमण थे। सबसे अन्तिम गणधर प्रभास के श्रमण-संघ मे ३०० श्रमण थे।[2]

आचार्य का कर्त्तव्य होता है कि वह अपने संघ मे धार्मिक नियमो के अनुसार व्यवस्था रखे। श्रद्धालु संसारभयभीत व्यक्ति की योग्य परीक्षा कर उसे जिनधर्म मे दीक्षित करे। दीक्षित साधुओ को धर्म मे स्थिर एवं दृढ रखने का पूर्ण उत्तरदायित्व आचार्य पर होता है। साधु द्वारा किसी प्रकार का अपराध, अनुशासन की अवहेलना आदि हो जाने पर वह आचार्य के निकट जा कर अपना अपराध निवेदन करता है और आचार्य उसको यथाविधि प्रायश्चित दे कर यथापूर्व, धर्म मे स्थित रहने की प्रेरणा करता है।[3]

आचार्य स्वय साधु होता है; अत आचार्य के उपर्युक्त कर्त्तव्यो के अतिरिक्त उसे श्रमणजीवन के पूर्ण कर्त्तव्यो का भी पालन करना पडता है। आचार्य पूरे संघ मे सबसे अधिक ज्ञानी एव चारित्र की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति होता है, जिसे उदाहरणस्वरूप मान कर अन्य साधु अपने कर्त्तव्य मे दृढ रहकर आत्मविकास की ओर उन्मुख रहते है। आचार्य को धर्मप्रधान श्रमण-संघ का पिता कहा गया है। 'आचार्य परम पिता।

---

१ गृहस्थ की स्त्रियाँ, पुत्रियाँ, पुत्रवधुएँ, दासियाँ या दाइयाँ ब्रह्मचारी श्रमण को लुभाने या डगमगाने का प्रयत्न कर सकती हैं"।

—आचाराग २, २, ८२।

२ जैनसूत्राज् भाग १, (कल्पसूत्र, "लिस्ट आफ स्थविराज्", १ पृष्ठ २८६, २८७।

३. "१० प्रकार के वैयावृत्य मे प्रायश्चित्त का स्थान प्रथम है। प्रायश्चित्त का अभिप्राय है, गुरु के निकट जा कर अपने अपराधो का निवेदन करना तथा दडरूप तप आदि का ग्रहण करना" स्थानाग, ७१२।

वह अहिंसा, सत्य आदि आचार का स्वयं दृढता से पालन करता है तथा अन्य साधुओ को भी उस आचार के पालन को प्रेरणा देता है। यह पद अधिकार का नही, साधको के जीवन-निर्माण का पद है। वह अरिहंत की भूमिका की ओर बढने वाला महाप्रकाश है, जो अपने पीछे चलने वाले चतुर्विध संघ का पथ प्रदर्शन करता है। आचार्य को दीपक कहा है; जो ज्योति को ज्योति से जलाता हुआ दूसरे आत्म-दीपो को भी प्रदीप्त कर देता है।[1]

स्थानाग मे गुण तथा दीक्षा को दृष्टि मे रख कर आचार्य के कई भेद किए गए है।[2]

गुणो की दृष्टि से आचार्य चार प्रकार के होते है—

१ आमलक-मधुर, (आवले की तरह मीठा)।
२ मृद्वीका-मधुर (दाख की तरह मीठा)
३ क्षीर-मधुर (दूध की तरह मीठा)
४ खंड-मधुर (शक्कर की तरह मीठा)

टीकाकार अभयदेव कहते है कि जिस प्रकार आँवला, दाख, दूध तथा शक्कर मे मधुरता की मात्रा ईषद्, वहु, वहुतर तथा वहुतम रूप मे क्रमश वृद्धि पर है; इसी प्रकार उपशम (शाति) आदि गुणो की क्रम से वृद्धि के कारण आचार्य चार प्रकार के होते है।

दीक्षा की दृष्टि से भी आचार्य चार प्रकार के होते है—

१. प्रव्राजनाचार्य
२ उत्थापनाचार्य
३ प्रव्राजनोत्थापनाचार्य
४ धर्माचार्य

प्रव्राजनाचार्य वे आचार्य कहलाते है, जो गृहस्थो को साधुधर्म की प्रव्रज्या (दीक्षा) देते है। साधुधर्म से स्खलित हो जाने पर श्रमणो को पुन. दीक्षा देने वाले आचार्य उत्थापनाचार्य कहलाते है।

---

१ श्रमण सूत्र, पृ० ६।

२. स्थानाग सूत्र, ३२०।

जो आचार्य उपयुक्त दोनो प्रकार के कार्य करते है, वे प्रव्राजनोत्थापनाचार्य कहलाते हैं। जो उपर्युक्त तीन प्रकार के कार्यो से रहित हो कर केवल धर्म का उपदेश देते है, वे धर्माचार्य कहलाते है।[1]

उपाध्याय

चौथा पद उपाध्याय का है। श्रमण-जीवन मे ज्ञान का विशेष महत्त्व है; क्योकि अज्ञान एक ओर श्रद्धा को शिथिल कर देता है तो दूसरी ओर चरित्र से भी भ्रष्ट कर देता है। विवेकी ज्ञाननिष्ठ साधक ही साधना के वास्तविक स्वरूप को समझ सकता है, उत्थान और पतन के कारणो की विवेचना कर सकता है, धर्म और अधर्म के बीच भेदरेखा खीच सकता है, संसार और मोक्ष के मार्ग का पृथक्करण कर सकता है। अज्ञानी साधक क्या जानेगा, वह अन्धा चल तो सकता है परन्तु चले कहाँ ? किस ओर ? उसे न मार्ग का पता है, न मंजिल का। अत यह आवश्यक माना गया कि साधु को निरंतर ज्ञान का अभ्यास करते रहना चाहिए। किन्तु यह तव तक संभव नही हो सकता ; जव तक कि किसी विशिष्ट ज्ञानी का समागम उसे प्राप्त न हो। अत यह विधान रखा गया कि अग शास्त्रो तथा पूर्वरूप आगमो के ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति संघ मे अवश्य होना चाहिए; जो कि अन्य समुदायो को निरन्तर ज्ञानाभ्यास मे सहायता प्रदान करता रहे।

चरित्र की साधना के समान ही ज्ञान की साधना भी मोक्ष का अंग है। उपाध्याय का पद धर्म-संघ मे ज्ञान की ज्योति जगाने के लिए है। वह अन्धो को आँख देता है। स्वयं शास्त्रो को पढ़ना और दूसरो को पढाना उसका कार्य है। वह एक तरह का उपाचार्य होता है; क्योकि आचार्य की अनुपस्थिति मे उसे संघ का नेतृत्व भी करना पडता है। वह आध्यात्मिक-शिक्षा का सबसे बड़ा प्रतिनिधि होता है। पापाचार के प्रति विरक्ति तथा सदाचार के प्रति अनुरक्ति की शिक्षा देने वाला उपाध्याय वस्तुत साधना—पथ के यात्रियो का सबसे महत्त्वपूर्ण साथी है।

चूँकि सघ मे साधुओ की संख्या इतनी अधिक होती है कि आचार्य केवल संघ के अनुशासन मे ही पूर्ण व्यस्त रहता है। अत

---

१. स्थानागसूत्र वृत्ति, (अभयदेव) पृ० २२८-२३०।

आचार्य का पद उपाध्याय से अलग रखना पडा। यद्यपि कभी-कभी आचार्य और उपाध्याय पद आवश्यकता पड़ जाने पर एक ही व्यक्ति ग्रहण करता है। उपाध्याय अन्य साधुओं की तरह आचार्य के पूर्ण अनुशासन मे रहता है और उनकी ही आज्ञानुसार अध्यापन का कार्य किया करता है। उपाध्याय के साधु होने के कारण वह साधु-जीवन के समस्त कर्त्तव्यो का निर्दोषरूप से पालन करता है।

स्थानागसूत्र मे अध्यापन करने वाले आचार्य (उपाध्याय) के चार भेद बताए गए हैं —

१ उद्देशनाचार्य,
२ वाचनाचार्य,
३ उभयाचार्य,
४. धर्माचार्य।

जो आचार्य अंगादि शास्त्रो का सव्याख्या अध्यापन करते हे, वे उद्देशनाचार्य कहलाते है। जो केवल अंगादि शास्त्रो के वाचन का अभ्यास कराते है, अथवा वाचन कर दूसरो को सुनाते है, वे वाचनाचार्य कहलाते है। जो उपर्युक्त दोनो प्रकार के कार्य करते है वे उभयाचार्य कहलाते है। उक्त तीनो प्रकार के कार्यो से रहित हो कर जो धर्म का उपदेश देते है वे धर्माचार्य कहे जाते हैं।[१]

साधु

श्रमण-जीवन की सबसे प्रथम अवस्था साधु है। संसार से विरक्त व्यक्ति जब किसी आचार्य के निकट प्रव्रज्या धारण करता है, तो वह साधु-संघ मे सम्मिलित हो जाता है। उसे साधुजीवन के कर्त्तव्यो का पूर्णरूप से पालन करना, उपाध्याय के निकट ज्ञानाभ्यास करना और सघ के आचार्य के पूर्ण अनुशासन मे रहना आवश्यक होता है। साधु का अर्थ है—साधक। साधना करने वाला साधक होता है। साधु मोक्ष-मार्ग की साधना करता है। साधु का पद बड़े महत्त्व का है। साधु सर्व-विरतिरूप साधना का पथ का प्रथम यात्री है। यही उपाध्याय आचार्य और अरिहंत तक पहुँचता है और अन्त मे सिद्ध बन जाता है।

---

१ स्थानाग सूत्र, ३२० तथा सूत्रवृत्ति (अभयदेव) पृ० २२८ २३०.

साधु को न जीवन का मोह रहता है और न मृत्यु का भय, न इस लोक मे उसे आसक्ति होती है और न परलोक मे। मुख्य रूप से वह शुद्धोपयोग में रहता है और गौणरूप से शुभोपयोग मे, परन्तु अशुभोपयोग मे वह कभी नही उतर कर आता। उसके अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पाच महाव्रत जीवन-पर्यन्त के लिए होते है और वे होते है, मन-वचन-काय से। हिसा, असत्य आदि का दुर्भाव, वह न मन मे रखता है न वचन मे और न शरीर मे। इतनी बड़ी पवित्रता है—साधु-जीवन की। अत पाँचवे पद मे "णमो लोए सव्वसाहूण" कहते हुए संसार के समस्त साधुओ को नमस्कार किया गया है।

श्रमण-जीवन में क्षाति (क्षमा) मुक्ति=निर्लोभता, आर्जव (मन की सरलता), मार्दव (मन की कोमलता), लाघव (परिग्रह का त्याग) सत्य, संयम, तप, त्याग (पदार्थों के प्रति मोह, कामना आदि का त्याग) तथा ब्रह्मचर्यवास इन दस धर्मों का अत्यधिक महत्त्व है। इसी कारण ये श्रमण-धर्म कहे गए हैं।[2]

समवायाग मूत्र मे जो अनगार के २७ गुण बताए गए है।[3] वे श्रमण-जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं। वे २७ गुण निम्न प्रकार है—

५—हिंसादि पाँच पापो से पूर्ण विरमण (निवृत्ति)

५—स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियो का पूर्ण निग्रह (निग्रह)

४—क्रोध, मान, माया तथा लोभरूप कपायो का त्याग।

३—भावसत्य, करण-सत्य तथा योग-सत्य। भावनाओ की विशुद्धि भावसत्य है। आचरण की विशुद्धि करणसत्य है तथा मन, वचन एवं कार्य के प्रयोग की विशुद्धि योग-सत्य है।

२—क्षमा एवं विरागता।

३—मन, वचन तथा काय का समाहरण (संक्षेप) करना।

३—सम्यग्ज्ञान (सम्यग्दर्शन, सत्यश्रद्धा) तथा सम्यक्चरित्र-सम्पन्नता।

२—कष्टसहिष्णुता एवं मरणातिक सहिष्णुता।

---

१. स्थानांगमूत्र ३८९

२. समवायाग १०.

३. समवायाग २७.

अरिहंत आदि पाँचो पदो का मूल स्वरूप वीतराग-विज्ञानता है। यह वीतराग-विज्ञानता ही हे, जो अरिहंत आदि को त्रिभुवन के पूज्य वनाती है।

व्यक्तित्व-विकास की विभिन्न अवस्थाएँ (ब)

अंग-शास्त्रो मे मानव-व्यक्तित्व के विकास की १४ अवस्थाओ का विवरण मिलता है। इन अवस्थाओ को गुणस्थान कहते है।[1] गुण या स्वभाव (भाव) पाँच प्रकार के होते है। औदयिक, औपशमिक, क्षायिक क्षायोपशमिक और पारिणामिक, ये जीवो के पाँच भाव होते है।[3] ये भाव क्रमश कर्म के उदय, उपशम (शाति), क्षय, क्षयोपशम तथा उदयादि के विना केवल स्वभावमात्र की अपेक्षा से होते हैं। चूँकि जीव इन गुणो वाला होता है, इसलिए आत्मा को भी गुणनाम से कहा जाता है और उसके स्थान गुणस्थान कहे जाते है। ये चौदह गुणस्थान क्रमश. निम्न प्रकार है—

१ मिच्छादिट्ठी (मिथ्यादृष्टि)
२ सासायणसम्मदिट्ठी (सासादनसम्यग्दृष्टि)
३ सम्मामिच्छादिट्ठी (सम्यक्मिथ्यादृष्टि)
४ अविरयसम्मदिट्ठी (अविरतसम्यग्दृष्टि)
५ विरयाविरए (विरताविरत)
६ पमत्तसंजए (प्रमत्तसयत)
७ अप्पमत्तमजए (अप्रमत्तसंयत)
८ नियट्टीवायरे (निवृत्तिवादर)
९ अनियट्टीवायरे (अनिवृत्तिवादर)
१० सुहुमसपराए (सूक्ष्मसापराय)
११ उवसामए, खवए, उवसतमोहे (उपशातमोह)
१२ खीणमोहे (क्षीणमोह)
१३ सयोगी केवली (सयोग केवली)
१४ अयोगी केवली (अयोगकेवली)

---

१. वही सूत्र १४
२. स्थानागमूत्र ५३७

पहिले कहे गये ८ कर्मो मे से सबसे प्रबल मोहनीय कर्म है। यह कर्म ही आत्मा को समस्त शक्तियो को विकृत करके न तो उसे सच्चे मार्ग का भान होने देता है और न उस पर चलने देता है। किन्तु ज्यो ही आत्मा के ऊपर से मोह का परदा हटने लगता है, त्यो ही उसके गुण विकसित होने लगते हैं। अत इन गुणस्थानो की रचना मे मोह के चढाव और उतार का ही ज्यादा हाथ है। इनका स्वरूप सक्षेप मे क्रमश इस प्रकार है।

(१) **मिथ्यादृष्टि**—मोहनीय कर्म के एक भेद-मिथ्यात्व[1] के उदय से जो जीव अपने हिताहित का विचार नही कर सकते, अथवा विचार कर सकने पर भी जिन्हे हिताहित का ठीक ज्ञान नही होता, वे जीव मिथ्या-दृष्टि कहे जाते है। जैसे ज्वरग्रस्त व्यक्ति को मधुर रस भी अच्छा मालूम नही होता, वैसे ही उन्हे धर्म अच्छा नही मालूम होता। ससार के अधिकतर जीव इसी श्रेणी के होते हैं।

(२) **सासादन-सम्यग्दृष्टि**[2]—जो जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय को हटा कर सम्यग्दृष्टि हो जाता है; वह जब सम्यक्त्व से च्युत हो कर मिथ्यात्व मे आता है तो दोनो के बीच का यह दर्जा होता है। जैसे पहाड की चोटी से यदि कोई आदमी लुढके तो जब तक वह जमीन मे नही आ जाता तब तक उसे न पहाड़ की चोटी पर ही कहा जा सकता और न जमीन पर ही, इसी प्रकार इसे भी जानना चाहिए। सम्यक्त्व चोटी के समान है, मिथ्यात्व जमीन के समान है और यह गुणस्थान बीच के ढालू मार्ग के समान है,। अत जब कोई जीव आगे कहे जाने वाले चौथे गुणस्थान से गिरता है तभी यह गुणस्थान होता है। इस गुणस्थान मे आने के बाद जीव नियम से पहिले गुणस्थान मे पहुँच जाता है।

(३) **सम्यग्-मिथ्यादृष्टि**—जैसे दही और गुड़ को मिला देने पर दोनो का मिला हुआ स्वाद होता है, उसी प्रकार एक काल मे

---

१ स्थानाग, (सूत्रवृत्ति) १०५, पृ० ९२, अ।

२ तुलना, महात्मा बुद्ध के अष्टागिक मार्ग का पहिला मार्ग 'सम्यग्दृष्टि' है। बौद्ध दर्शन, पृ० २५।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणामो को सम्यग्-मिथ्यादृष्टि कहते है।

(४) **अविरतसम्यग्दृष्टि**—जिस जीव की दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते है। और जो जीव सम्यग्दृष्टि तो होता है, किन्तु सयम नही पालता, वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। आगे के सब गुणस्थान सम्यग्दृष्टि के होते है।

(५) **विरताविरत**—जो संयत भी हो और असंयत भी हो उसे विरताविरत कहते है। अर्थात् जो त्रसजीवो की हिसा का त्यागी हैं और यथाशक्ति अपनी इन्द्रियो पर भी नियंत्रण रखता है उसे विरताविरत कहते हैं। गृहस्थ का जो चरित्र बताया गया है वह विरताविरत का ही चरित्र है। व्रती गृहस्थो को विरताविरत कहते है। इस गुणस्थान से आगे के जितने गुणस्थान है, वे सब सयम की ही मुख्यता से होते है।

(६) **प्रमत्तसयत**[1]—जो पूर्ण संयम को पालते हुए भी प्रमाद के कारण उसमे कभी-कभी कुछ असावधान हो जाते है उन श्रमणो को प्रमत्तसंयत कहते है।

(७) **अप्रमत्तसयत**—जो प्रमाद के न होने से अस्खलित संयम का पालन करते है, शुभ ध्यान मे मग्न उन मुनियो को अप्रमत्तसंयत कहते है। सातवे गुणस्थान से आगे दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती है—१ उपशमश्रेणी और २ क्षपकश्रेणी। श्रेणी का मतलब है पंक्ति या कतार। जिस श्रेणी पर जीव कर्मो का उपशम करता हुआ चढता है, उसे उपशमश्रेणी कहते है और जिस श्रेणी पर कर्मो को नष्ट करता हुआ चढता है, उसे क्षपकश्रेणी कहते है। प्रत्येक श्रेणी मे चार-चार गुणस्थान होते है। आठवाँ-नववाँ और दसवाँ गुणस्थान उपशम श्रेणी मे भी सम्मिलित है और क्षपक श्रेणी मे भी सम्मिलित है। ग्यारहवाँ गुणस्थान केवल उपशमश्रेणी का है और बारहवाँ गुणस्थान केवल क्षपकश्रेणि का है।

---

१ "प्रमादी पुरुष को चारो ओर से भय रहता है और अप्रमादी पुरुष चारो ओर से निर्भय हो जाता है।" आचाराग, १, १, १२३, ।" प्रमादी पुन -पुन. गर्भ मे आता है।" आचाराग, १, १ १०९।

गुणस्थान केवल क्षपकश्रेणि का है। ये सभी गुणस्थान क्रमश होते है और शुभ ध्यान मे मग्न मुनियो के ही होते है।

(८) निवृत्तिबादर—इस गुणस्थान का नाम "अपूर्वकरण" भी है। करण शब्द का अर्थ परिणाम है और जो पहिले नही हुए है उन्हे अपूर्व कहते है। सुध्यान मे मग्न जिन मुनियों के प्रत्येक समय मे अपूर्व-अपूर्व परिणाम—भाव होते है; उन्हे अपूर्वकरण गुणस्थान वाला कहा जाता है। इस गुणस्थान मे न तो किसी कर्म का उपशम होता है और न क्षय होता है, किन्तु उसके लिए तैयारी होती है। इस गुणस्थान मे जीव के भाव प्रतिसमय उन्नत से उन्नततर होते चले जाते है।

(९) अनिवृत्तिबादर—इस गुणस्थान का नाम "अनिवृत्तिबादर साम्पराय" भी है। समान-समयवर्ती जीवो के परिणामो मे कोई भेद न होने को अनिवृत्ति कहते है। अपूर्वकरण की तरह यद्यपि यहाँ भी प्रति-समय अपूर्व—अपूर्व परिणाम ही होते है; किन्तु अपूर्वकरण मे तो एक समय मे अनेक परिणाम होने से समानसमयवर्ती जीवो के परिणाम समान भी होते हे और असमान भी होते है। परन्तु इस गुणस्थान मे एक समय मे एक ही परिणाम होने के कारण समान समय मे रहने वाले सभी जीवो के परिणाम समान ही होते है। उन परिणामो को अनिवृत्तिकरण कहते है। और बादरसाम्पराय का अर्थ "स्थूलकषाय" होता है। इस अनिवृत्तिकरण के होने पर ध्यानस्थ मुनि या तो कर्मो को दवा देता है या उन्हे नष्ट कर डालता है। यहाँ तक के सब गुणस्थानो मे स्थूल-कषाय पाई जाती है, यह बतलाने के लिए इस गुणस्थान के नाम के साथ "वादरसाम्पराय" पद जोडा गया है।

(१०) सूक्ष्मसाम्पराय—उक्त प्रकार के परिणामो के द्वारा जो ध्यानस्थ मुनि कषाय को सूक्ष्म कर डालते है; उन्हे सूक्ष्मसाम्पराय गुण-स्थान वाला कहा जाता है।

(११) उपशांतमोह—इस गुणस्थान का नाम "उपशातकषाय वीत-राग छद्मस्थ" भी है। उपशमश्रेणी पर चढने वाले ध्यानस्थ मुनि जब उस सूक्ष्म कषाय को भी दवा देते है तो उन्हे उपशातकपाय कहते है। पहिले लिख आए है कि आगे वढने वाले ध्यानी मुनि आठवे गुणस्थान से दो श्रेणियो मे बँट जाते है। उनमे से उपशमश्रेणी वाले मोह को

धीरे-धीरे सर्वथा दवा देते है, पर उसे निर्मूल नही कर पाते। अत· जैसे किसी वर्तन मे भरी हुई भाप अपने वेग से ढक्कन को नीचे गिरा देती है, वैसे ही उस गुणस्थान मे आने पर दवा हुआ मोह उपशमश्रेणि वाले आत्माओ को अपने वेग से नीचे की ओर गिरा देता है। इसमे कषाय को विलकुल दबा दिया जाता है। अतएव कपाय का उदय न होने से इसका नाम उपशान्तकषाय वीतराग है; किन्तु इसमे पूर्ण ज्ञान और दर्शन को रोकने वाले कर्म मौजूद रहते है, इसलिए इसे छद्मस्थ भी कहते है।

(१२) **क्षीणमोह**—क्षपकश्रेणी पर चढने वाले मुनि मोह को धीरे धीरे नष्ट करते हुए जव उसे सर्वथा निर्मूल कर डालते है तो उन्हे क्षीणमोह कहते है। इस प्रकार सातवे गुणस्थान से आगे वढने वाले ध्यानी साधु चाहे पहली श्रेणी पर चढे, चाहे दूसरी श्रेणी पर चढ़े वे सब आठवॉ, नववॉ और दशवॉ गुणस्थान प्राप्त करते ही है। दोनो; श्रेणी पर चढने वालो मे इतना ही अन्तर होता है कि प्रथम श्रेणि वालो से दूसरी श्रेणी वालो मे आत्मविशुद्धि और आत्मवल विशिष्ट प्रकार का होता है, जिसके कारण पहिली श्रेणी वाले मुनि तो दशवे से ग्यारहवे गुणस्थान मे पहुँच कर दवे हुए मोह के उद्भूत हो जाने से नीचे गिर जाते है और दूसरी श्रेणी वाले मोह को सर्वथा नष्ट करके दसवे से वारहवे गुणस्थान मे पहुँच जाते है। यह सव जीव के भावो का खेल है। उसी के कारण ग्यारहवे गुणस्थान मे पहुँचने वाले साधु का अवश्य पतन होता है और वारहवे गुणस्थान मे पहुँच जाने वाला कभी नही गिरता, वल्कि ऊपर को ही चढता है।

(१३) **सयोगकेवली**—समस्त मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर तेरहवॉ गुणस्थान होता है। मोहनीय कर्म के चले जाने से शेष कर्मो की शक्ति क्षीण हो जाती है। अत·वारहवे के अन्त मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चारो घातिया कर्मो का नाश करके क्षीण-कपाय मुनि सयोगकेवली हो जाता है। ज्ञानावरण कर्म के नष्ट हो जाने से उसके केवलज्ञान प्रकट हो जाता है। वह ज्ञान पदार्थो के जानने मे इन्द्रियप्रकाश और मन वगैरह की सहायता नही लेता, इसलिए उसे केवलज्ञान कहते है और उसके होने के कारण इस गुणस्थान वाले केवली कहलाते है। ये केवली आत्मा के शत्रु, घातिकर्मो को जीत लेने के कारण

परमात्मा, जीवन्मुक्त[1], अरिहत आदि नामो से पुकारे जाते है। जैन तीर्थंकर इसी अवस्था को प्राप्त करके जैनधर्म का प्रवर्त्तन करते है और जगह जगह घूम कर प्राणि-मात्र को उनके हित का मार्ग वतलाते है तथा इसी कार्य में अपने जीवन के शेष दिन व्यतीत करते है। जब आयु अन्तमुंहूर्त (एक मुहूर्त से कम) रह जाती है तो वे सब व्यापार बन्द करके ध्यानस्थ हो जाते हैं। जव तक केवली के मन, वचन और काया का व्यापार रहता है; तव तक वे सयोगकेवली कहलाते है।

(१४) **अयोगकेवली**—जव केवली ध्यानस्थ हो कर मन, वचन और काय का सब व्यापार वंद कर देते है; तव उन्हे अयोगकेवली कहते हैं। ये अयोगकेवली बाकी बचे हुए चार अघातिया कर्मो को भी नाश करके, ध्यानरूप अग्नि के द्वारा समस्त कर्म भस्म करके कर्म और शरीर के वन्धन से छूट कर मोक्षलाभ करते है।

---

१. "वेदान्त मे भी इसी प्रकार की जीवन्मुक्त अवस्था मानी गई है।" वेदान्त सार, पृ० १४ ।

२ सूत्रकृताग १४, (सूत्रवृत्ति अभयदेव, पृ० २६, २७) तथा "जैनधर्म" पृ० २२०।

पंचम अध्याय

उपासक-जीवन

उपासक-अवस्था

जैनागम के अनुसार निर्वाण-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग धर्म है। उसके दो भेद है—सागार-धर्म और अनगार-धर्म, गृहस्थ का धर्म और साधु का धर्म। सागार-धर्म एक सीमित मार्ग है। वह जीवन की सरल किन्तु छोटी पगडडी है। गृहस्थ का धर्म अणु है, छोटा है, किन्तु वह हीन एव निन्दनीय नही है। इस सागारधर्म का आचरण करने वाला व्यक्ति श्रमणोपासक अथवा उपासक कहलाता है।[1]

इस द्विविध धर्म का मूल आधार विनय अर्थात् आचार है, अत इन दोनो को आगार-विनय और अनगारविनय भी कहा गया है।[2] आत्म-धर्म मे दृढ श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति आत्मा और अनात्मा के ज्ञान को प्राप्त कर, सासारिक परिस्थितियों के वशीभूत होकर जब अपने को गृह का पूर्ण रूप से त्याग करने मे असमर्थ पाता है तो वह इस प्रकार का संकल्प करता है कि मै अभी श्रमणोपासक के व्रतो को ही ग्रहण कर आत्मा का ध्यान करूँगा।[3]

गृहस्थ संसार में रहता है। अत उसके ऊपर परिवार, समाज तथा राष्ट्र का उत्तरदायित्व होता है। यही कारण है कि वह पूर्णरूप से अहिसा और सत्य के राजमार्ग पर नही चल सकता। उसे कभी-कभी

---

१ स्थानाग-सूत्र, ७२।

२. नायाधम्मकहाओ, ६०, पृ० ७४।

३. वही, ६०, पृ० ७३।

अपने विरोधी प्रतिद्वन्द्वी लोगो से संघर्ष करना पडता है, किन्तु शान्ति एवं अहिसा के साथ, जीवनयात्रा के लिए कुछ न कुछ शोपण का मार्ग अपनाना होता है, किन्तु न्याय एवं नीति के साथ; तथा परिग्रह का जाल भी बुनना पड़ता है, किन्तु इच्छाओ के निरोध के साथ। उपर्युक्त परिस्थितियों मे वह पूर्णतया निरपेक्ष, अखण्ड अहिसा एव सत्यरूप साधु-धर्म का पालन करने मे अपने को असमर्थ पाता हुआ अहिसा और सत्य के एकदेशपालनरूप उपासकधर्म को स्वीकार करता है।

सूत्रकृताग मे उपासकजीवन का संक्षेप मे बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है।[1]—"कितने ही श्रमणोपासक जीव और अजीव तत्त्वो के सम्बन्ध मे जानते हैं, पाप-पुण्य के भेद को जानते है, कर्म आत्मा में प्रवेश क्यो करते है (आस्रव), और कैसे रोके जा सकते है (संवर), उनके फल कैसे होते है और वे कैसे नष्ट हो सकते है (निर्जरा), क्रिया किसे कहते है, उसका अधिकरण क्या है, बंध और मोक्ष किसे कहते है, यह सब जानते है। किसी अन्य की सहायता न होने पर भी देव, असुर, राक्षस या किन्नर आदि उनको उनके धर्म से विचलित नही कर सकते। उनको जैन सिद्धान्त मे शका, काक्षा (विषयो की इच्छा) और विचिकित्सा (ग्लानि) नही होती। वे जैन सिद्धान्त का अच्छी तरह अर्थ समझ कर निश्चित-मति होते है। उनको विश्वास होता है कि यह जैन सिद्धान्त ही अर्थ और परमार्थरूप है, और दूसरे सब अनर्थरूप है। उनके घर के द्वार आगे निकले हुए होते है। उनके दरवाजे अभ्यागतो के लिए खुले रहते है। उनमे, दूसरो के घर मे या अन्त पुर में घुस पडने की इच्छा नही होती। वे चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा को पूर्ण पौषध व्रत (उपवास) विधिपूर्वक करते है। वे निर्ग्रथ श्रमणो को निर्दोष खान-पान, मेवा-मुखवास, वस्त्र-पात्र, कम्बल, रजोहरण, औषध, सोने-बैठने को पाट, शय्या और निवास के स्थान आदि देते है। वे अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यानव्रत, पौषधोपवास आदि तप-कर्मो द्वारा आत्मा को वासित करते हुए रहते है।

"इस प्रकार की चर्या से बहुत समय जीवन व्यतीत करने पर जब उस श्रमणोपासक का शरीर रोग, वृद्धावस्था आदि विविध संकटो से

---

१. सूत्रकृताग, २, २, ७५-७७, पृ० ३८१-३८४, (जैनसूत्राज् भाग २)

घिर जाता है तव अथवा यो भी, वह खाना-पीना छोड देता है तथा अपने किए पापकर्मो को गुरु के सामने निवेदन करके उनका प्रायश्चित्त स्वीकार करने समाधियुक्त होता है और आयुष्य पूर्ण होने पर मृत्यु को को प्राप्त कर महाऋद्धि और महाद्युति से युक्त देवलोको मे से किसी देव-लोक मे जन्म लेता है। यह स्थान आर्य है, शुद्ध है, संशुद्ध है और सव दु खो को क्षय करने का मार्गरूप है।"

उपासक-अवस्था का महत्त्व

उपासक-अवस्था साधक की विरताविरति अवस्था है। इस अवस्था मे व्यक्ति पूर्ण मनोयोग से सासारिक हिसादि-परिपूर्ण क्रियाओ से विरत होने का प्रयत्न तो करता है किन्तु गार्हस्थिक परिस्थितियाँ उसे पूर्ण विरत नही होने देती। मन से विरत किन्तु शरीर से अविरत यह व्यक्ति मिश्र अवस्था मे झूलता रहता है। धर्म मे क्रिया से अधिक भावना का महत्व है; अतः मिश्र अवस्था मे रहने वाला व्यक्ति भी आत्मविकास की ओर निरन्तर बढता रहता है। "जो अविरति से युक्त है वही स्थान हिसा का है और त्याज्य है। जो विरति का स्थान है वही अहिसा का है और स्वीकार करने योग्य है। जिसमे कुछ विरति और कुछ अविरति है वह स्थान हिसा और अहिसा दोनो का है तो भी यह विरताविरत रूप मिश्र-धर्म भी आर्य है, सशुद्ध है और सव दु खो का क्षय करने वाला है।"[1]

कुछ लोग गृहस्थधर्म को निन्द्य तथा हेय बताते है। उनका कहना है कि गृहस्थजीवन जिधर देखो उधर ही पापो से भरा हुआ है, उसका प्रत्येक आचरण पापमय है, विकारमय है, उसमे धर्म कहाँ ? परन्तु ऐसा मानने वाले लोग सत्य की गहराई तक नही पहुँच पाये है। यदि सदाचारी गृहस्थ-जीवन वस्तुत· निन्द्य तथा हेय होता तो जैन-सस्कृति के प्राण-प्रतिष्ठापक श्रमण-भगवान् महावीर धर्म के दो भेदो मे गृहस्थ-धर्म की गणना क्यो करते ? क्यो उच्च सदाचारी गृहस्थो को श्रमण के समान मानते हुए उनको "समणभूए" (श्रमणभूत[2]) शब्द

---

१. जैनसूत्राज् भाग २ (सूत्रकृताग, २, २, ७८, पृ० ३८४, ३८५)
२. समवायांग, ११।

से सम्बोधित करते ? क्यो उत्तराध्ययन-सूत्र मे यह कहा जाता कि—"कुछ भिक्षुओ की अपेक्षा गृहस्थ सयम की दृष्टि से श्रेष्ठ है और गृहस्थ-दशा मे रहते हुए भी साधक सुव्रत हो जाता है।[1]

यह ठीक है कि गृहस्थ का धर्म क्षुद्र है, साधु जैसा महान् नही है, परन्तु यह क्षुद्रता साधु के महान् जीवन की अपेक्षा से है।[2] अन्य साधारण कामनाओ के दलदल मे फंसे संसारी मनुष्यो की अपेक्षा तो एक धर्माचारी सद्गृहस्थ का जीवन महान् ही है, क्षुद्र नही।

उपासक यदि गृहस्थ-धर्म मे पूर्ण-रूप से सावधान है तो साधु उसकी विनय करते है और साधुओ के द्वारा उपासक का किसी प्रकार अविनय हो जाने पर वे उपासक से क्षमायाचना भी करते है। उपासकदशाग मे वर्णन है कि[3]—"श्रमणोपासक आनन्द को आत्मविशुद्धि के कारण ५०० योजन दूर जानने योग्य अवधिज्ञान पैदा हुआ। उसने श्रमण गौमत के सामने अपने अवधिज्ञान उत्पन्न होने की बात कही। गौतम ने आनन्द से कहा कि गृहस्थ को अवधिज्ञान तो हो सकता है किन्तु इतने विस्तृत क्षेत्र वाला नही, जितना कि तुम कह रहे हो। अत तुम असत्य-भाषण की आलोचना (गुरु के समक्ष अपराध-निवेदन) तथा प्रतिक्रमण (दण्डग्रहण) करो। आनन्द ने कहा कि 'मै सत्य कह रहा हूँ अत मुझे नही; किन्तु आपको ही आलोचना और प्रतिक्रमण करना चाहिए, गौतम को आनन्द के वचनो मे शंका हुई और वे भगवान् महावीर के निकट पहुँचे तथा उनसे पूछा। महावीर ने कहा कि—"गौतम, आनन्द सत्य कहता है। अत तुम्हे आलोचना तथा प्रतिक्रमण-पूर्वक आनन्द से क्षमायाचना करना चाहिए।" भगवान् की बात सुन कर गौतम ने आनन्द से क्षमायाचना की।

उपासकअवस्था में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का महत्त्व

सम्यग्दर्शन—आध्यात्मिक-विकास-क्रम मे उपासक की अवस्था चौथी है। इसे चतुर्थ गुणस्थान[4] भी कहते है। इसके पहिले के तीन

---

१ उत्तराध्ययन ५, २०।
२. स्थानागसूत्र-वृत्ति, ३८६, पृ० २७७ (अ)
३ उपासकदशाग (अभयदेववृत्ति) १, १२—१४, पृ० २६-३३।
४. "चौदह गुणस्थानो मे चतुर्थ गुणस्थान, अविरतसम्यग्दृष्टि है।" समवायाग १४

गुणस्थान सत्य के प्रति अनास्था एवं असत्य के प्रति गाढश्रद्धा से परिपूर्ण होते है। यह अवस्था सम्यग्दर्शन के साथ प्रारम्भ होती है। सम्यग्-दर्शन का अर्थ है, "सत्य के प्रति दृढ विश्वास।" मनुष्य के जीवन मे आचरण एव ज्ञान की अपेक्षा विश्वास का अधिक महत्त्व है; क्योकि विश्वासहीन मनुष्य के हृदय मे न तो ज्ञान की ओर झुकाव हो सकता है और न आचरण की ओर उन्मुखता।[1]

जैनागम मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र को मुक्ति का मार्ग कहा गया है।[2] इन तीनो मे सम्यग्दर्शन की प्रधानता कही गई है। उपासकजीवन का आरम्भ हृदय मे सत्य के प्रति दृढ आस्था उत्पन्न हो जाने के साथ ही हो जाता है। इसी को सम्यक्त्व भी कहते है। यह श्रद्धा अन्धश्रद्धा नही है, अपितु वह प्रकाशमान जीवित श्रद्धा है, जिसके प्रकाश मे जड को जड एवं चैतन्य को चैतन्य समझा जाता है, तथा संसार, मोक्ष, धर्म, अधर्म, सभी का ज्ञान हो जाता है। वस्तुत विवेकवुद्धि का जागृत हो जाना ही सम्यक्त्व है। इसे तत्त्वार्थ-श्रद्धान भी कहते है। अनन्तकाल से हम यात्रा तो करते चले आ रहे है, किन्तु उसका गन्तव्य लक्ष्य स्थिर नही हुआ था, इस लक्ष्य का स्थिरीकरण सम्यक्त्व के द्वारा होता है।[3]

ज्ञाताधर्मकथा सूत्र मे सम्यक्त्व को रत्न की उपमा दी गई है। अनन्त-काल से दीन-हीन, दरिद्र भिखारी के रूप मे भटकता हुआ आत्मदेव सम्यक्त्वरत्न पाने के वाद आध्यात्मिक धन का स्वामी हो जाता है। सम्यक्त्वी की प्रत्येक क्रिया निराले ढग की होती है। उसका सोचना, समझना, वोलना और करना सव कुछ विलक्षण होता है। वह संसार मे रहता हुआ भी ससार से निर्विण्ण हो जाता है।

सम्यग्दर्शन के साथ ही साथ उपासक के हृदय मे धर्म के प्रति शकाशीलता का सर्वदा के लिए नाश हो जाता है। उसे इस वात का पूर्ण निश्चय हो जाता है कि आत्मविकास के लिए धर्म के अतिरिक्त

---

१. स्थानाग, ७०।

२ वही, ४३, १५७।

३. "हम कहाँ से आए है ? कहाँ जावेगे ? इसका ज्ञान साधारण प्राणियो को नही होता।" आचाराग, १, १, १—४।

इस संसार में कोई अन्य वस्तु सहायक नही हो सकती। सासारिक भोग-विलासो एवं कामनाओ को वह दु ख का कारण मान कर हमेशा के लिए उनसे मुंह मोड़ लेता है। आत्म-ज्ञान कराने वाले श्रमण, निर्ग्रन्थ अथवा विद्वज्जनो के प्रति उसके हृदय मे एक अभूतपूर्व श्रद्धा एव स्नेह की भावना पैदा हो जाती है। वह उनकी भौतिक कमियो को देख कर उनसे किसी प्रकार की ग्लानि एवं सकोच नही करता।[१] आत्मधर्म मे उसे इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा होती है कि वह अन्यधर्मावलम्बियो के साथ न तो अतिपरिचय ही स्थापित करना चाहता है और न ही उनके पाखण्ड-पूर्ण कार्यो की थोडी-सी भी सराहना। क्योकि इस प्रकार के कार्य उसे अपने धर्म से विचलित कर सकते है।[१]

सम्यग्ज्ञान—जैनागमो मे अधिकतर श्रमणोपासक शब्द के साथ 'जीव अजीव का ज्ञाता' इस विशेपण का प्रयोग हुआ है।[२] यह इस वात की ओर सकेत करता है कि उपासक के जीवन मे दर्शन के वाद और आचार से पहिले ज्ञान का होना अत्यधिक आवश्यक है। जीव तथा अजीव के वन्धन और मुक्ति को ले कर जैनागमों मे ९ पदार्थ वर्णित है।[३] ज्यो ही उपासक को जीव-अजीव तत्त्व का वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो जाता है, त्यो ही वह नव पदार्थो का ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। "कर्म आत्मा मे क्यो प्रवेश करते है ? (आस्रव), उनको कैसे रोका जा सकता है ? (सवर), उनके फल कैसे होते है और वे कैसे नष्ट हो सकते है ? (निर्जरा), क्रिया किसे कहते है, उसका अधिकरण क्या है, वन्ध और मोक्ष किसे कहते है ?—इन सब वातो का ज्ञान उपासक को होता है।"[४]

सम्यक्चारित्र—श्रद्धा एव ज्ञान से सम्पन्न उपासक जव आध्यात्मिक यात्रा मे अग्रसर होने के लिए चारित्र का अवलम्वन करता है तो वह चतुर्थ गुणस्थान से निकल कर देशव्रती श्रावक की पंचम भूमिका में आता है।[५] यह वह भूमिका है, जहाँ अहिसा, सत्य, अचौर्य, व्रह्मचर्य

---

१ उपासकदशांग, १, ६, पृ० १०।

२ उपासकदशाग, १, ६, पृ० १०, तथा नायाधम्मकहाओ, १, ५, ६०,

३. स्थानाग, ६६५।

४ जैनसूत्राज् भाग २, (सूत्रकृताग, २, २, ७५—७७)

५. चौदह गुणस्थानो मे पाँचवा गुणस्थान विरताविरत है

समवायाग, १४

और परिग्रह-परिमाणभाव की मर्यादित साधना प्रारम्भ हो जाती है। सर्वथा न करने से कुछ करना अच्छा है, यह आदर्श इस भूमिका का है।[1]

गृहस्थ के जीवन मे पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उत्तरदायित्वो का एक बहुत बड़ा भार है। ऐसी स्थिति मे पूर्णत्याग का मार्ग तो अपनाया नही जा सकता; परन्तु अपनी स्थिति के अनुसार मर्यादित त्याग तो ग्रहण किया ही जा सकता है। इस मर्यादित एव आशिक त्याग का नाम ही आगम की भाषा मे देशविरति है।

उपासक-अवस्था के भेद

यद्यपि जैन-सूत्रो मे स्पष्ट-रूप से उपासक-जीवन के भेदो का कोई वर्णन नही मिलता किन्तु उसके जीवन-क्रम को देखने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि उपासक के जीवन की तीन अवस्थाएँ होती है।

प्रथम अवस्था—गृह कार्यो मे व्यस्त मानव, अनन्त पुण्योदय से जब किसी साधु अथवा धर्मज्ञ के समागम को प्राप्त कर उससे धर्म का श्रवण करता है तो उसके हृदय मे धर्म के प्रति अपूर्व आस्था उत्पन्न हो जाती है। उसे अपना असयमित एव अमर्यादित जीवन भारस्वरूप एव कष्टप्रद प्रतीत होने लगता है। वह विनीत भाव से साधु के निकट जाकर उनसे अपने जीवन को संयमपूर्ण बनाने की अभिलापा प्रकट करता है और साधु द्वारा अपने विचारो का समर्थन प्राप्त कर वह उनके निकट पाँच अणुव्रत तथा सात शिक्षाव्रतरूप उपासकधर्म को स्वीकार करता है। इस प्रकार घर पर रहकर उपासक के बारह व्रतो का पालन करना उपासक की प्रथम अवस्था है।[2]

द्वितीय अवस्था—कुछ वर्षो तक बारह व्रतो का पालन करने के बाद उपासक को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि घर मे उपासक के व्रतो का निरतिचार (निर्दोष) पालन करना उसके लिए असम्भव है। अत. वह मित्रो, कुटुम्बिजनो आदि के समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र पर घर का भार डाल

---

१ "उपासक के पाँच अणुव्रत" उपासकदशाग, १, ४, पृ० ४।
२ उपासकदशाग, १, ३-५, पृ० २-५।

कर घर से सपर्क कम करने लिए "पौषधशाला" (उपासको के धर्मसाधन के स्थान) में चला जाता है। वहाँ पहुँच कर पौषधशाला को अच्छी तरह प्रमार्जन कर उच्चारप्रस्रवणभूमि (मलमूत्रप्रक्षेपभूमि) को अच्छी तरह देखभाल कर, दर्भ विछा कर, पोषध आदि उपासक की ग्यारह प्रतिमाओ का यथामार्ग तथा यथातत्त्व पालन करने लगता है। पौषधशाला मे रह कर ग्यारह प्रतिमाओ के पालन को उपासक की द्वितीय अवस्था समझना चाहिए।[1]

तृतीय अवस्था—ग्यारह प्रतिमाओ का निर्दोष पालन करते हुए उपासक का शरीर जव तप के द्वारा सूख कर लगभग हड्डियो का ढॉचा मात्र रह जाता है, तव वह सोचने लगता है कि जब तक उसमे उठने तथा कार्य करने की शक्ति, वल, वीर्य, पौरुष, श्रद्धा, वैराग्य आदि विद्यमान है, तव तक यह श्रेयस्कर होगा कि वह अन्न-पान का त्याग कर मृत्यु की आकांक्षारहित हो कर मारणातिक सल्लेखना (शातिपूर्वक मरण के प्रयत्न) को धारण करे। सल्लेखना—धारण के समय उपासक पूर्ण रूप से गृह एव परिग्रह से सम्वन्ध छोड़ देता है तथा क्रमश भोजन-पान भी अल्प करते हुए एकदिन सर्वथा छोड देता है और शान्तिपूर्वक आत्मध्यान करते हुए वह मृत्यु का आलिगन करता है।[2]

परवर्ती आचार्यो ने उपासक-जीवन की इन्ही तीनो अवस्थाओ को ले कर उपासक के तीन भेद किए है—पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक।

पाक्षिक उपासक वह कहलाता है जो उपासक के वारह व्रतो का निर्दोष पालन करता है। नैष्ठिक श्रावक वह है जो उपासक की ग्यारह प्रतिमाओ का निर्दोष पालन करता है तथा साधक वह है जो कि शान्ति पूर्वक आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर निराकाक्ष हो कर मृत्यु का आलिगन करता है।[3]

श्रमण के प्रति भक्ति एवं सेवाभाव को ध्यान मे रखकर श्रमणो-पासक के चार भेद किए है—1 अम्मापितिसमाणे (मातृपितृसमान),

---

१. उपासकदशाग, ६, १०, पृ० २४-२५।

२. वही, १, १५, पृ० ३३,

३. "जैनधर्म", पृ० १८४-२०१।

२ भातिसमाणे (भ्रातृसमान), ३ मित्तसमाणे (मित्रसमान), ४ सवत्ति-समाणे (सपत्निसमान)।

जिन उपासको मे, साधु के प्रति भक्ति, श्रद्धा, स्नेह एवं सेवा-भावना माता-पिता के समान, भाई के समान, मित्र के समान तथा सपत्नि (सौत) के समान क्रमशः हीन से हीनतर होती चली जाती है वे उपासक क्रमश मातृपितृ-समान, भातृ-समान, मित्र-समान तथा सपत्नि-समान श्रमणोपासक कहलाते है।[1]

उपदेश ग्रहण करने की शक्ति, मन की चंचलता आदि को ध्यान में रख कर श्रमणोपासक के चार भेद किए गए है—१ अद्धागसमाणे, (आदर्शसमान), २ पडागसमाणे (पताकासमान), ठाणुसमाणे (स्थाणु-समान) ३ खरकण्टअसमाणे (खरकटकसमान)।

जो उपासक स्वच्छ दर्पण की तरह धर्मोपदेश को यथार्थरूप में ग्रहण कर लेता है, वह आदर्शसमान श्रमणोपासक है। जिस उपासक का मन पताका (ध्वजा) की तरह चचल रहता है, वह पताका-समान श्रमणो-पासक है। जो उपासक अपने दुराग्रह के कारण स्थाणु (लकडी के खम्भे) की तरह कभी भी नम्र स्वभाव वाला नही होता, वह स्थाणु-समान श्रमणोपासक है। तथा जो उपासक उपदेशक के प्रति तीक्ष्ण कॉटो की तरह वेधने वाले दुर्वचन का प्रयोग करता है, वह खरकटक समान श्रमणोपासक है।[2]

स्थानाग मे उपासक-अवस्था की ज्येष्ठता एवं कनिष्ठता आदि को ध्यान मे रखकर उपासक के चार भेद किए गए है—

१. रायणिये समणोवासगे महाकम्मे महाकिरिए अणायावी अस-मिते धम्मस्स अणाराहते (रात्निक-श्रमणोपासक-महाकर्म-महाक्रिय-अना तापी असमित-धर्मस्यानाराधक.)—जो उपासक-अवस्था मे ज्येष्ठ होकर भी कर्मबन्धन के कारणभूत प्रमादादि से परिपूर्ण शरीरादिक की महान् क्रिया एव कर्म करता है, अल्पश्रद्धा होने के कारण शीतादि कष्टो को सहन नहीं करता, गमन; भोजन, भापण आदि मे असावधान रहता है

---

१. स्थानाग, ३२१, पृ० २३०-२३१ (व)
२. वही, पृ० २३०-२३२ (व)

तथा उपासकधर्म का पालन नही करता, वह "रात्निक ·अनाराधक कहलाता है।

२ रायणिये-समणोवासगे अप्पकम्मे-अप्पकिरिए आतावीसमिए धम्मस्स आराहते (रात्निक-श्रमणोपासक-अल्पकर्म-अल्पक्रिय-आतापि समित-धर्मास्याराधक)—जो उपासक-अवस्था मे ज्येष्ठ होकर, प्रथम प्रकार के उपासक से भिन्न, अल्प कर्म एव अल्प क्रिया वाला, प्रगाढ श्रद्धा होने के कारण शीतादि कष्टो को सहन करने वाला, गमन-भोजनादि कार्यो मे पूर्ण सावधान तथा उपासकधर्म का यथार्थरीति से पालन करने वाला है, वह "रात्निक आराधक कहलाता है।

३ ओमरातिणिते समणोवासगे महाकम्मे-महाकिरिए-अणायावी असमिते धम्मस्स अणाराहते (अवमरात्निक-श्रमणोपासक-महाकर्म-महाक्रिय-अनातापी-असमित-धर्मास्यानाराधक)—अवस्था मे लघु होकर भी जो उपासक महाकर्म तथा महाक्रिय एवं गमनादि क्रियाओ मे असावधान तथा उपासकधर्म का अनाराधक है, वह "अवमरात्निक अनाराधक" कहा जाता है।

४ ओमरातिणिते समणोवासगे अप्पकम्मे-अप्पकिरिए-आतावी समिए धम्मस्स आराहते (अवमरात्निक-श्रमणोपासक-अल्पकर्म-अल्पक्रिय-आतापि-समित-धर्मस्याराधक)—अवस्था मे लघु किन्तु अल्पक्रिय, अल्पकर्म, शीतादि कष्टो को सहने वाला, गमनादि क्रियाओ मे सावधान तथा उपासक-धर्म का आराधक, श्रमणोपासक "अवमरात्निक · आराधक" कहलाता है।

यही चार भेद श्रमणोपासिकाओ के भी कहे गए है।[1]

उपासक-धर्म

बारह गिहिधम्म (गृहीधर्म), ग्यारह उवासगपडिमा (उपासक-प्रतिमा) तथा अपच्छिम मारणतियसलेहणा (अपश्चिममारणान्तिक-सल्लेखना) इस प्रकार कुल ३४ प्रकार का उपासक का धर्म है।

पचाणुव्वय (पंच अणुव्रत) तथा सत्तसिक्खावइय (सप्त शिक्षाव्रत), कुल बारह प्रकार का गृहीधर्म अर्थात् गृहस्थ का धर्म कहा गया है। इन्हे

---

१. स्थानागसूत्र वृत्ति, ३२०, पृ० २२८ तथा २३०।

गृहस्थ-धर्म इस कारण कहा जाता है कि इन व्रतो का पालन, उपासक गृहमे रह कर ही करता है। अन्य व्रतो का पालन करने के लिए उपासक को घर छोड कर पोपधशाला मे जाना पडता है।[1]

अणुव्रत—उपासक के हिसादि पापो से विरत होने को अणुव्रत कहते है। उपासक गृहस्थ होने के कारण पापो से पूर्णतया विरत नही हो सकता, इस कारण उसके व्रत अणुव्रत कहलाते है। अणु का अर्थ 'लघु' है। इन व्रतो मे लघुता महाव्रतो की महत्ता की अपेक्षा से है, किसी अन्य अपेक्षा से नही। अणुव्रत पाँच प्रकार के है—[2]

१ थूलातो पाणाइवायातो वेरमण (स्थूलप्राणातिपातविरमण)
२ थूलातो मुसावायातो वेरमण (स्थूलमृषावादविरमण)
३. थूलातो अदिन्नादाण—वेरमणं (स्थूलअदत्तादानविरमण)
४ सदारसतोसे (स्वदारसतोष)
५ इच्छापरिमाणे (इच्छापरिमाण)

स्थूलप्राणातिपातविरमण—अहिसा आध्यात्मिक जीवन की आधार-भूमि है। वह एक सर्वव्यापी सिद्धान्त है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो साधक केवल अहिसा की साधना मे ही तल्लीन रहता है। अहिसा व्रत मे उपासक अथवा श्रमण के सभी व्रत गर्भित हो जाते है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-व्रतो की साधना भी अहिसा पर अवलम्बित है और वास्तव मे अन्य सभी व्रत अहिसा-व्रत के ही विस्तार है।

"मैं जीवनपर्यन्त मन, वचन, काय से स्थूल हिसा न करूंगा, और न किसी अन्य द्वारा कराऊ गा(' यह अहिसाणुव्रत का स्वरूप है।[3]

हिसा का लक्षण—जैनधर्म मे क्रिया की अपेक्षा भावना की प्रधानता है। अत किसी प्राणी को जीवन से वियुक्त कर देना ही हिसा नही है; अपितु अन्य प्राणी के जीवन-सरक्षण के प्रति हृदय मे असद्भावना पैदा होना ही हिसा है। प्रमादी हो कर किसी अन्य प्राणी के प्रति सावधान

---

१ नायाधम्मकहाओ, १, ६०, पृ०, ७४।
२ स्थानाग सूत्र, ३८९, तथा सूत्रवृत्ति, पृ० २७७ (अ)
३ उपासकदशाग, १, ५, पृ० ५,

नही रहना भी हिंसा है । अन्य प्राणी की मृत्यु हो अथवा न हो, किन्तु प्रयत्न करने वाले प्राणी के हृदय की अपवित्रता अथवा प्रमादीपन हिंसा का द्योतक है। प्राणी की हिंसा हो जाने पर भी यदि अप्रमाद है, तो वह हिंसा नही कही जा सकती ।[1]

अहिंसा का लक्षण—उपर्युक्त प्रकार की हिंसा से विरति अहिंसा है। यह अहिंसा केवल निषेधात्मक ही नही है; किन्तु इसका विधेयात्मक रूप भी है । उपासक की अहिसा राष्ट्रो की आतरिक शासन-प्रणाली मे आमूल परिवर्तन तथा सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्थाओ मे संशोधन की ओर सकेत करती है। पारिवारिक, कौटुम्बिक और जातीय जीवन के निर्माण मे बहुत मात्रा में सहानुभूति, परस्पर सहायता, स्नेह, त्याग और एकनिष्ठा की भावनाओ की आवश्यकता रहती है, जो कि अहिसा के ही रूप है । वास्तव मे अहिसा के सिद्धान्त का यह अर्थ है कि समस्त-जीवन बलप्रयोग के स्तर से ऊँचा उठा कर विवेक, विनय, सहनशीलता और पारस्परिक सेवा के स्तर पर प्रतिष्ठित किया जाए ।

अहिसाणुव्रत का धारक उपासक जहाँ मनुष्यमात्र के प्रति प्रगाढ़ स्नेह एवं सहायता की भावना से ओतप्रोत रहता है, वहाँ वह पशुजाति के प्रति भी अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण होता है । वह गाय, भैंस आदि पशुओ को कठोर बन्धनो से नही बाँधता, उन्हे लकड़ी से नही पीटता, उनकी नासिका आदि अंगो का छेदन नही करता, उनके ऊपर शक्ति से अधिक भार नही लादता और उनके खाने, पीने के समय का उल्लघन न करते हुए उन्हे पूर्ण भोजन देता है ।[2]

जो उपासक उपर्युक्त मर्यादाओ के पालन मे शिथिलता करता है; उसका व्रत निर्दोष नही कहा जा सकता । व्रतो की निर्दोपता को ध्यान मे रख कर प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार कहे गए है। उपासक के जो कार्य व्रत मे दूषण लगाते है; वे अतिचार कहलाते है । "स्थूल प्राणातिपातविरमण" के पाँच अतिचार है—

---

१. "प्रमाद और उसके कारण कामादि मे आसक्ति ही हिंसा है ।" आचाराग, १, १, ३४—३५ ।

२. उपासकदशाग, १, ५, पृ० ५ ।

१ वध (वध)—पशुओ को कठोर वन्धनो से वॉधना ।

२ वह (वध)—उनको लाठी आदि से पीटना ।

३. छविच्छेए (छविच्छेद)—उनकी नासिका आदि अंगो को छेदना ।

४. अइभार (अतिभार)—उनके ऊपर अधिक भार लादना ।

५ भत्तपाणविच्छेद (भक्तपानविच्छेद)—उनको यथासमय भोजन व पानी न देना ।[1]

स्थूलमृषावादविरमण—अहिसा और सत्य का निकट सम्बन्ध है, अथवा यो कहिये कि अहिसा के बिना सत्य और सत्य के बिना अहिसा जीवित ही नही रह सकती । भगवान् महावीर ने अहिसा को भगवती और सत्य को भगवान् कहा है । सत्य का आदर्श जितना ही ऊंचा होगा, मनुष्य का व्यक्तित्व उतना ही उच्च होगा और वह उतनी ही मात्रा मे समाज को वर्तमान दुश्चक्र से निकाल कर विवेक तथा नैतिकता के ऊंचे स्तर पर स्थापित कर सकेगा ।

सत्याणुव्रतधारी उपासक जीवनपर्यन्त मन, वचन तथा काय से न किसी प्रकार का झूठ स्वयं वोलता है और न किसी अन्य के द्वारा वुलाता है ।

अहिसाणुव्रत की तरह सत्याणुव्रत भी निषेधात्मक नही है । किन्तु इसका विधेयात्मक रूप भी है । सत्य, जहॉ झूठ का त्याग है, वहॉ प्राणिमात्र से स्नेह-परिपूर्ण मिष्ट-भाषण का भी द्योतक है । असत्य-भाषण से मनुष्य का जीवन हमेशा शंका एवं भय से परिपूर्ण रहता है और पग-पग पर उसे कष्ट का अनुभव करना पडता है । किन्तु सत्य-भाषणशील व्यक्ति सर्वदा अभय एवं निःशंक जीवन व्यतीत करता हुआ अपने तथा समाज के कल्याण मे तत्पर रहता है ।

इस व्रत के पूर्ण पालन के लिए यह आवश्यक है कि उपासक किसी भी वात को खूव सोच-समझने के बाद ही कहे । सहसा किसी भी व्यक्ति पर दोपारोपण नही करना चाहिए, किसी भी व्यक्ति का रहस्य मालूम

---

१ उपासकदशाग १, ६, पृ० १० ।

२. वही, १.

हो जाने पर उसे प्रकट नही करना चाहिए तथा अपने कौटुम्बिक जन, मुख्यत. अपनी स्त्री के रहस्य को अन्य से प्रकट नही करना चाहिए। झूठा उपदेश देने तथा झूठे लेख लिखने और लिखाने से भी उपासक को दूर रहना चाहिए।

जो उपासक उपर्युक्त मर्यादाओ के पालन मे शिथिलता करता है; उसका व्रत निर्दोष नही कहा जा सकता। स्थूलमृपावादविरमण व्रत के पाँच अतिचार हैं—

1. सहसब्भक्खाणे (सहसाभ्याख्यान)—विना सोचे—समझे किसी भी वात का कहना।
2. रहसब्भक्खाणे (रहस्याभ्याख्यान)—किसी के रहस्य का प्रकट कर देना।
3. सदारमंतभेए (स्वदारमन्त्रभेद)—अपनी स्त्री की गुप्त बातो को प्रकट कर देना।
4. मोसोवएसे (मृषोपदेश)—झूठा उपदेश देना।
5. कूडलेहकरणे (कूटलेखकरण) — झूठा लेख (दस्तावेज) या झूठे वहीखाते लिखना।[1]

स्थूलअदत्तादान-विरमण—अचौर्य का साधारण अर्थ चोरी नही करना है, किन्तु इसका तात्विक अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे के अधिकारो पर आघात नही करना चाहिए। अचौर्य जहाँ चोरी के त्याग को वतलाता है, वहीं पर पारस्परिक सेवा, सहायता एवं सद्भावना की ओर भी संकेत करता है।

चोरी किसी भी वस्तु के अपहरणमात्र को ही नही कहते, किन्तु हृदय मे परद्रव्य के प्रति आकर्षण पैदा होना अथवा चोरी के कार्य मे थोडी-सी भी सहयोग की भावना पैदा होना चोरी है। उपासक मन, वचन, काय से जीवन-पर्यन्त इस प्रकार की चोरी करने तथा किसी अन्य के द्वारा करवाने के त्याग की प्रतिज्ञा करता है।[2]

---

१. उपासकदशांग (वृत्ति, अभयदेव) १, ६, पृ० ११।
२. वही, १, ५, पृ० ५।

इतना ही नही, वह कभी भी चोरी की गई वस्तु को ग्रहण नही करता। चोर की रक्षा अथवा सहायता भी वह नही करता। आज्ञा के विना अपने राज्य से विरुद्ध कार्य या राज्य की सीमा मे वह प्रवेश नही करता तथा झूठी तराजू और झूठे वॉट भी नही रखता। वह शुद्ध वस्तु मे अशुद्ध का सम्मिश्रण करके नही बेचता।

जो उपासक उपर्युक्त मर्यादाओ के पालन मे शिथिलता करता है उसका व्रत निर्दोष नही कहा जा सकता। स्थूल-अदत्तादान विरमण-व्रत के पॉच अतिचार है—

१ तेणाहडे (स्तेनाहृत)—चोर द्वारा लाई हुई वस्तु का ग्रहण करना।

२. तक्करपओगे (तस्करप्रयोग)—चोरी का उपाय वताना।

३ विरुद्धरज्जाइक्कमे (विरुद्धराज्यातिक्रम)—विरोधी राजा के राज्य की सीमा का उल्लंघन करना।

४ कूडतुलकूडमाणे (कूटतुलाकूटमान)—वस्तु के बेचने, खरीदने के प्रमाणो (तराजू, वॉट आदि) को कम-वढ रखना।

५ तप्पडिरूवगव्ववहारे (तत्प्रतिरूपकव्यवहार)—अधिक मूल्य वाली वस्तु मे उसके समान कम मूल्य वाली वस्तु मिला कर बेचना।[1]

स्वदारसंतोष—अपनी परिणीता स्त्री मे ही पूर्ण संतोप रख कर अन्य स्त्रियो के साथ मन, वचन तथा काय से जीवन-पर्यन्त मैथुन सेवन करने तथा करवाने का त्याग स्वदारसंतोष-व्रत है।[2] इस व्रत मे जहॉ अन्य स्त्रियो के साथ कामविधि के त्याग का नियम है, वहॉ अपनी स्त्री के साथ भी अतिकामुकता के त्याग की प्रतिज्ञा है।

इस व्रत का उपासक व्यक्ति, वेश्या अथवा किसी दूसरे की स्त्री अथवा लडकी के साथ व्यभिचार नही करता, काम-सेवन के अंगो से भिन्न अगो द्वारा कामक्रीडा नही करता, काम- सेवन मे तीव्र अभिलाषा

---

१ उपासकदशाग, (वृत्ति, अभयदेव) १, ६, पृ० ११-१३।

२. वही, १, ५, पृ० ५।

नही रखता तथा दूसरो के वैवाहिक सम्वन्ध नही कराता। इस व्रत का विधान मानसिक पवित्रता को लक्ष्य मे रख कर किया गया है। अतः किसी भी प्रकार की मन में अमर्यादित कामभोग की भावना का पैदा होना इस व्रत के नाश का कारण है। जो उपासक उपर्युक्त मर्यादाओ के पालन मे शिथिलता करता है ; उसका व्रत निर्दोष नही कहा जा सकता।

स्वदार-संतोपव्रत के पॉच अतिचार है —

१ इत्तरियपरिग्गहियागमणे (इत्वरपरिगृहीतागमन)—धनादि दे कर कुछ काल के लिए रखी हुई स्त्रियो से व्यभिचार करना।

२ अपरिग्गहियागमणे (अपरिगृहीतागमन)—विधिवत् विवाह न हुआ हो, उस के साथ व्यभिचार करना।

३ अणंगकीडा (अनंगक्रीडा)—कामसेवन से भिन्न अगो द्वारा कामसेवन करना।

४ परिविवाहकरणे (परविवाहकरण)—अपनी संतान को छोड़ अन्य लोगो के विवाह कराना।

५ कामभोगतिव्वाभिलासे (कामभोगतीव्राभिलापा)—काम-भोग की तीव्र अभिलापा रखना।[1]

इच्छापरिमाणव्रत—परिग्रह भी एक वहुत वडा पाप है। परिग्रह मानव-समाज की मनोभावना को उत्तरोत्तर दूषित करता है और किसी प्रकार का भी स्वपरहिताहित का विवेक नही रहने देता। सामाजिक विषमता, संघर्ष, कलह एवं अशाति का प्रधान कारण परिग्रहवाद ही है। अत स्व और पर की शाति के लिए अमर्यादित स्वार्थवृत्ति एवं संग्रहवृद्धि पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। इस व्रत का नाम इच्छाविधिपरिमाणव्रत है, जो इस वात की ओर संकेत करता है कि अशाति का कारण परिग्रह नही, परिग्रह की इच्छा है। अत. इच्छा को मर्यादित करना ही वास्तविक परिग्रह-परिमाण है।

एक व्यक्ति अकिंचन हो कर परिग्रही हो सकता है और वह अपनी संग्रह-वृद्धि के कारण निरन्तर दु खी रह सकता है, जवकि अन्य व्यक्ति अपने पास वहुत धन-सम्पत्ति के होते हुए भी उसमे तृष्णा एवं

---

१ उपासकदशांग, (वृत्ति, अभयदेव) १,६ पृ० १३।

अभिलाषा के त्याग के कारण अपने को निरन्तर सुखी अनुभव करता है। इस व्रत का धारक उपासक अपने जीवन मे प्रयोग में आने वाली प्रत्येक वस्तु की उस संख्या का परिमाण निश्चित कर लेता है, जिससे अधिक वह अपने जीवन मे संग्रह नही करता। इस व्रत मे यह वात ध्यान देने योग्य है कि वस्तुओ के संग्रह से मुक्ति पा लेने के वाद भी यह नही कहा जा सकता कि उपासक ने व्रत को निर्दोपरूप मे ग्रहण कर लिया है, क्योकि इस व्रत का अभिप्राय इच्छा के नियत्रण से अधिक, और वस्तु के सग्रह पर नियन्त्रण से कम है। वास्तव मे परिग्रह की इच्छा ही परिग्रह है; क्योकि दु ख का कारण इच्छाएँ है, वस्तु नही। अतः उपासक को परिग्रह मे मूर्छित वुद्धि की शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिए।

इस व्रत को धारण करने वाला उपासक क्षेत्र तथा मकान आदि के प्रमाण का उल्लंघन नही करता, सोना चाँदी, पशु, धन, धान्य तथा गृहोपकरण आदि के भी प्रमाण का उल्लंघन नही करता। जो उपासक उपर्युक्त मर्यादाओ के पालन मे शिथिलता करता है, उसका व्रत निर्दोष नही कहा जा सकता।

इच्छाविधि-परिमाणव्रत के पाँच अतिचार है—[1]

१ खेत्तवत्थुपमाणाइक्कमे (क्षेत्रवस्तुप्रमाणातिक्रम)—जीवनपर्यन्त के लिए किए गए क्षेत्र तथा वस्तुओ के प्रमाण को वढा लेना।

२ हिरण्णसुवण्णपमाणाइकम्मे (हिरण्यसुवर्णप्रमाणातिक्रम)—सोने-चाँदी के प्रमाण को वढा लेना।

३. दुप्पयचउप्पयप्पमाणाइक्कमे (द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम)—दोपाये तथा चौपाये प्राणियो सम्वन्धी प्रमाण को वढा लेना।

४ धणधण्णपमाणाइक्कमे (धनधान्यप्रमाणातिक्रम)—धन-धान्य के प्रमाण को वढ़ा लेना।

५ कुवियप्पमाणाइक्कमे (कुप्यप्रमाणातिक्रम)—गृह—सामग्री के प्रमाण को वढ़ा लेना।

---

१. उपासकदशांग, १, ६, पृ० ११-१३।

उपासकदशाग[1] मे एक आनन्द श्रमणोपासक का वर्णन है; जिसने महावीर स्वामी के समक्ष उपासक के व्रत ग्रहण करते समय निम्न-प्रकार से इच्छा-परिमाणव्रत स्वीकार किया था।

उसने जीवनपर्यन्त स्थिर कोष-स्वर्णमुद्रा, वृद्धिप्रयुक्त स्वर्णमुद्रा, प्रविस्तरप्रयुक्तस्वर्णमुद्रा, चतुष्पदविधि, क्षेत्रवस्तुविधि, शकट-विधि, वाहनविधि, उपभोग-परिभोगविधि, जललूषण-वस्त्र, दन्तवन, फल विधि, अभ्यगविधि, उवटनविधि, मज्जनविधि, भोजनविधि, पेयाहारविधि, भक्ष्यविधि, औदनविधि-सूपविधि, घृतविधि, शाकविधि, माधुरकविधि, जेमनविधि, पानीयविधि और मुखवासविधि का परिमाण किया। उसने निश्चय किया कि वह समस्त कार्यों मे लगी हुई केवल १२ करोड स्वर्णमुद्रायें, १० हजार गायो के व्रज के हिसाव से ४ व्रज, ५० हजार निवर्तन (एकड) क्षेत्र, १ हजार शकट (बैलगाडी), ८ वाहन, एक जल लूषणवस्त्र (स्नान के बाद शरीर के जलशोषण करने का वस्त्र), १ दन्तधावन, १ मधुर आवले का फल, शतपाक तथा सहस्त्र पाक तेल, १ उवटन के लिये सुगन्धित चूर्ण, स्नान के लिए ८ उष्ट्रिकाघट जल, १ क्षौम्युगलवस्त्र (दो रेशमी वस्त्र), शरीरलेपन के लिए अगरु-कुमकुम तथा चन्दन-रूप गधद्रव्य, कमल तथा मालती पुष्प, एक कर्णा-भरण तथा एक अंगूठी, अगरु तथा तुरुक की धूप, भोजन के लिए कृष्टपेय, घृतपूर, खंडखाद्यक, कलमशालि ओदन, कलायसूप (मटर की दाल) तथा मुद्गमाषसूप (मूंग तथा उर्द की दाल) शरत्काल, मे सगृहीत गाय का घी, वथुआ एवं मटर की तथा सौवस्तिक शाक, पालंगा—माधुरक (बल्लीफल का रस) सेधाम्ल तथा दालिकाम्ल (दहीवड़ा), वर्षाजल तथा पाच सुगन्धित द्रव्यो से पूर्ण ताम्बूल के सिवाय अन्य समस्त वस्तुओ को जीवनपर्यन्त ग्रहण नही करेगा।

दिग्व्रत—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दिशाओ तथा विदिशाओ मे जीवनपर्यन्त किसी निश्चित स्थान तक आने-जाने का परिमाण कर लेना दिग्व्रत है। मैं अमुक दिशा में जीवन-पर्यन्त अमुक प्रदेश तक अमुक कोसो तक जाऊंगा; उससे आगे नही जाऊंगा; इस प्रकार का नियम दिग्व्रत कहलाता है। पापा-

---

१. उपासकदशाग, १, ५, पृ० ५-९।

चरण के लिए गमनागमनादि क्षेत्र को विस्तृत करना जैनगृहस्थ के लिए निषिद्ध है। दिग्व्रत मे कर्मक्षेत्र की मर्यादा बाँधी जाती है। उस निश्चित सीमा से बाहर जा कर हिंसा, असत्य आदि पापाचरण का पूर्ण त्याग दिग्व्रत का लक्ष्य है।

यह व्रत मनुष्य की लोभवृत्ति पर अंकुश रखता है। मनुष्य व्यापार आदि सासारिक कार्यो के लिए दूर दूर तक जाता है तथा वहाँ की प्रजा का शोषण करता है। जिस किसी प्रकार से धन कमाना ही जब मनुष्य का लक्ष्य हो जाता है, तो एक प्रकार से लूटने की मनोवृत्ति उसमे पैदा हो जाती है। जैनधर्म का सूक्ष्म आचारशास्त्र इस प्रकार की मनोवृत्ति मे भी पाप देखता है। वस्तुत पाप है भी। शोषण से बढ़कर और क्या पाप होगा? दिग्व्रत इस पाप से बचा सकता है।

इस व्रत के स्वीकार करने वाले उपासक को किसी भी परिस्थिति मे की गई दिशाओ की मर्यादा का न तो विस्मरण करना चाहिए और न ही किसी दिशा-विदिशा मे मर्यादित क्षेत्र को बढाना चाहिए। इस व्रत के पाच अतिचार कहे गए है—[1]

१ उड्ढदिसिपमाणाइक्कमे (उर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम)
२ अहोदिसिपमाणाइक्कमे (अधोदिक्प्रमाणातिक्रम)
३ तिरियदिसिपमाणाइक्कमे (तिर्यक्दिक्प्रमाणातिक्रम)
४ खित्तवुड्ढी (क्षेत्रवृद्धि)
५ सइअन्तरद्धा (स्मृत्यन्तर्धान)

ऊपर नीचे तथा चारों ओर दिशाओ मे किए गये परिमाण का अतिक्रमण करना क्रमश प्रथम तीन दिग्व्रत के अतिचार है। आवश्यकता पड जाने पर पूर्वनिश्चित क्षेत्र की सीमा मे वृद्धि कर लेना चतुर्थ अतिचार है। तथा सीमाओ के परिमाण को भूल जाना पाँचवाँ अतिचार है।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत—जीवन भोग से बधा है। जब तक जीवन है, तब तक भोग का सर्वथा त्याग तो नही किया जा सकता।

---

१. उपासकदशाग (अभयदेववृत्ति) १, ६ पृ० १४।

मगर आसक्ति को कम करने के लिए उसकी मर्यादा अवश्य की जा सकती है। अनियन्त्रित जीवन पशुजीवन है। बल्कि उससे भी निकृष्ट है, क्योकि पशु भी अपना जीवन कुछ तो मर्यादित रखते ही है। इस प्रकार का अमर्यादित जीवन न अपने लिए हितकर है, न दूसरो के लिए। अनिन्त्रित भोगासक्ति संग्रहवृद्धि को उत्तेजित करती है। संग्रह-बुद्धि परिग्रह का जाल बुनती है। परिग्रह का जाल ज्यो-ज्यो फैलता है; त्यो-त्यों हिंसा, द्वेष, घृणा, असत्य, चौर्य, आदि पापो की परम्परा लम्बी होती जाती है। अतएव श्रमणसंस्कृति गृहस्थ के लिए भोगासक्ति कम करने और उसके उपभोग-परिभोग मे आने वाले भोजन, पानी, वस्त्र आदि पदार्थो के प्रकार एवं संख्या को मर्यादित करने का विधान करती है। उक्त व्रत के द्वारा पंचम अणुव्रत मे परिमित किए गए परिग्रह को और भी परिमित कर अहिंसा की भावना को प्रबल एवं विस्तृत बनाया जाता है।

इस व्रत का उद्देश्य दैनिक जीवन की अन्न-वस्त्रादि वस्तुओ तथा उनकी प्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रतिदिन के व्यावसायिक कार्यो का आवश्यकता से अधिक स्वीकार नही करना है। उपभोग-परिभोग के दो भेद है—भोजन तथा कर्म।

भोजन मे बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनो प्रकार के समस्त भोगयोग्य पदार्थो का अन्तर्भाव हो जाता है। भोजन-सम्बन्धी अतिचार पांच है—

१. सचित्ताहारे (सचित्ताहार)—पृथ्वी, जल तथा वनस्पतिकाय वाले जीवशरीरो का सचेतनरूप मे भक्षण करना।

२ सचित्तपडिबद्धाहारे (सचित्तप्रतिबद्धाहार)—बीज, गुठली आदि सचेतन वस्तु के सहित फलादि का भक्षण करना।

३ अप्पउलिओसहिभक्खणया (अप्रज्वलितऔषधिभक्षण) अग्नि के द्वारा असंस्कृत तडुलादि का भक्षण करना।

४ दुप्पउलिओसहिभक्खणया (दुष्पक्वऔषधिभक्षण)—अग्नि के द्वारा अर्द्धसंस्कृत या दुष्पक्व तंडुलादि का भक्षण करना।

५ तुच्छोसहिभक्खणया (तुच्छऔषधिभक्षण)—कच्चे अन्न-फलादि का भक्षण करना।

कर्मसम्बन्धी अतिचार १५ प्रकार के हैं—

१ इंगालकम्मे (अग्निकर्म)—लकडी जला कर कोयला आदि बनाने, ईंट पकाने, भट्टे मे चूना पकाने आदि का व्यवसाय करना।

२ वणकम्मे (वनकर्म)—जंगल के वृक्षो को कटवाने आदि का व्यवसाय करना।

३ साडीकम्मे (शकटकर्म)—बैलगाडी आदि शकटो के बनाने, बेचने आदि का व्यापार करना।

४ भाडीकम्मे (भाटीकर्म)—बैलगाडी, नाव, मकान आदि भाडे किराये पर दे कर धंधा करना।

५ फोडीकम्मे (स्फोटीकर्म)—जमीन फोडने, सुरग बिछा कर स्फोट करने का व्यवसाय करना।

६ दंतवाणिज्जे (दंतवाणिज्य)—हाथीदात आदि का व्यवसाय करना।

७ लक्खवाणिज्जे (लक्षवाणिज्य)—लाख का व्यवसाय करना।

८. रसवाणिज्जे (रसवाणिज्य)—मदिरा आदि घातक रसो का व्यवसाय करना।

९ विसवाणिज्जे (विषवाणिज्य)—जीव के प्राणो का नाश करने वाले विष, शस्त्रादि को बनाने तथा बेचने का व्यवसाय करना।

१० केसवाणिज्जे (केशवाणिज्य)—केश वाले प्राणियो (दास, गाय, ऊँट, हाथी) आदि को या केशो को बेचने का व्यवसाय करना।

११ जन्तपीलणकम्मे (यंत्रपीडनकर्म)—यंत्रो द्वारा तिलादि द्रव्यो का पीडन करने (पेरने) का व्यवसाय करना।

१२ निल्लंछणकम्मे (निर्लांछनकर्म)—पशुओ को नपुंसक करने, उन्हे तप्त लोहे से दागने आदि का व्यवसाय करना।

---

१. उपासकदशाग

१३. दवग्गिदावणया (दावाग्निदाप)—जंगल मे आग लगाना।

१४ सरदहतलायसोसणया (सरोह्लदतडागशोपरा)—अनापसनाप खेती करने के निमित्त से तालाव आदि जलाशयो को सुखाना।

१५. असईजणपोसणया (असतीजनपोपरा)—वेश्याकर्म द्वारा धनोपार्जन के निमित्त कुलटा आदि स्त्रियो का पालन-पोषण करना।[1]

अनर्थदण्डविरमण—मनुष्य यदि अपने जीवन को विवेकशून्य एवं प्रमत्त रखता है तो विना प्रयोजन भी हिंसादि कर वैठता है। निष्प्रयोजन पापाचरण अनर्थदण्ड है। उपासक इस अनर्थदण्ड से विरक्त रहता है।[2] जैनागमो मे अनर्थदण्ड के चार भेद किए गये है—१ अपध्यानाचरित, २. प्रमादाचरित, ३. हिंस्रप्रदान ४. पापकर्मोपदेश।

खोटेध्यान-पूर्वक किया गया आचरण अपध्यानाचरित है। प्रमादपूर्वक किया गया आचरण प्रमादाचरित है। हिंसादि पापकार्यो मे सहायक शस्त्रो का प्रदान करना हिंस्रप्रदान है। तथा पापकार्यो का उपदेश देना पापाकर्मोपदेश है।

व्रती उपासक इन चार प्रकार के तथा अन्य प्रकार के भी व्यर्थ पाप-पूर्ण कार्यो का त्यागी होता है। वह कामोत्पादक वार्तालाप भी नही करता, अपने शरीर के अवयवो द्वारा कुचेष्टा नही करता, असम्वद्ध-असत्य एवं वहुत वकवाद नही करता, हिंसा के साधनो का कार्य मे प्रयोग नही करता और आवश्यकता से अधिक जीवनोपयोगी वस्तुओ का संग्रह नही करता।

इस व्रत के पाच अतिचार है—

१. कन्दप्पे (कन्दर्प)—कामोत्पादक वार्तालाप करना।

२ कुक्कुइए (कौत्कुच्य)—शरीर के अवयवो की कुचेष्टाओ द्वारा हँसी मजाक करना।

---

१. उपासकदशाग, (अभयदेवसूत्रवृत्ति) १, ६ पृ० १६, १७।
२. हिंसा दो प्रकार की है—अर्थदण्ड, (सप्रयोजन) अनर्थदण्ड, (निष्प्रयोजन) समवायाग २।

३. मोहरिए (मौखर्य)— धृष्टतापूर्वक असत्य एवं असम्बद्ध प्रलाप करना, फिजूल बकवास करना।

४. संजुत्ताहिकरणे (संयुक्ताधिकरण)—ऊखल, मूसल आदि को संयुक्त करके रखना।

५ उवभोगपरिभोगाइरित्ते (उपभोगपरिभोगातिरिक्त)—भोजन, स्नान आदि की वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक रूप मे उपभोग करना।[1]

सामायिक—जैनसाधना मे सामायिक व्रत का बहुत बड़ा महत्त्व है। सामायिक का अर्थ है समता। रागद्वेषवर्धक संसारी प्रपंचो से अलग हो कर जीवनयात्रा को निष्पाप एवं पवित्र बनाना ही समता है। गृहस्थ जीवन-पर्यन्त सब पापव्यापारो का पूर्णरूप से त्याग कर पवित्र जीवन नही बिता सकता। अत उसे प्रतिदिन कम से कम ४८ मिनट (एक मुहूर्त) के लिए तो सामायिक व्रत धारण करना ही चाहिए। सामायिक करते समय उपासक श्रमण जैसा हो जाता है। यह गृहस्थ की सामायिक साधु की सामायिक की भूमिका है। सामायिक करने के लिए उपासक किसी एकान्त निर्बाध स्थान मे आसन बिछा कर अल्प-वस्त्र धारण कर कम से कम ४८ मिनट तक, सम्पूर्ण सावद्य व्यापारो का त्याग कर सासारिक झंझटो से अलग हो कर अपनी योग्यतानुसार अध्ययन, चिन्तन आदि द्वारा आत्मा का ध्यान करे। इस व्रत के पाँच अतिचार है—

१. मणदुप्पणिहाणे (मनोदुष्प्रणिधान)—सामायिक-काल मे मन से खोटे अहितकर विचार करना।

२ वयदुप्पणिहाणे (वचोदुष्प्रणिधान)—कठोर तथा दोषपूर्ण शब्दो का सामायिक-काल मे प्रयोग करना।

३ कायदुप्पणिहाणे (कायदुष्प्रणिधान)—सामायिक-काल मे शरीर द्वारा हिंसादि पापकार्य करना।

४ सामाइयस्स सइअकरणया (सामायिकस्मृत्यकरण)—सामायिक करना या ली हुई सामायिक को भूल जाना।

---

१ उपासकदशाग (अभयदेवसूत्रवृत्ति) १ ६ पृ० १७

५. सामाइयस्स अणवट्ठियस्सकरणया (सामायिकअनवस्थितकरण) यथोक्तरीति से सामायिक न करना, अव्यवस्थितरूप से करना ।[1]

देशावकाशिक—परिग्रहपरिमाण और दिशापरिमाणव्रत की जीवनपर्यन्त प्रतिज्ञा को और अधिक व्यापक एव विराट् बनाने के लिए देशावकाशिक व्रत ग्रहण किया जाता है। दिग्व्रत मे गमनागमन का क्षेत्र सीमित कर लिया जाता है और यहाँ उस सीमित क्षेत्र को, एक दो दिन आदि के लिए और अधिक सीमित कर लिया जाता है। देशावकाशिक व्रत मे जहाँ क्षेत्र-सीमा सकुचित होती है, वहाँ उपभोगसामग्री की सीमा भी संक्षिप्त होती है। अर्थात् सीमित क्षेत्र के बाहर की सामग्री का उपभोग इस व्रत का धारी मनुष्य नही कर सकता। इस व्रत मे उपासक मन, वचन, कर्म तीनो से क्षेत्र की मर्यादा कर लेता है। फिर वह मर्यादित भूप्रदेश से बाहर की वस्तुओ को किसी के द्वारा नही मँगवा सकता, मर्यादित भूप्रदेश से बाहर किसी व्यक्ति को अपने कार्य के लिए नही भेज सकता, मर्यादित भूप्रदेश से बाहर स्थित अन्य पुरुष को शब्द-प्रयोग करके नही बुला सकता, मर्यादित भूप्रदेश से बाहर के व्यक्ति को अपना रूप आदि दिखा कर नही बुला सकता तथा मर्यादित भूप्रदेश से बाहर स्थित व्यक्ति को मिट्टी, पत्थर, ढेला आदि फेक कर कोई कार्य नही करा सकता ।

इस व्रत के पाँच अतिचार है—

१ आणवणप्पओगे (आनयनप्रयोग)—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु का मंगवाना ।

२. पेसवणप्पओगे (प्रेष्यप्रयोग)—मर्यादित क्षेत्र के बाहर किसी को भेजना।

३. सद्दाणुवाए (शब्दानुपात)—मर्यादित क्षेत्र से बाहर के मनुष्य को शब्द-प्रयोग करके बुलाना ।

४ रूवाणुवाए (रूपानुपात)—मर्यादित क्षेत्र से बाहर के मनुष्य को अपना रूप दिखा कर बुलाना ।

---

१ उपासकदशाग (अभयदेवसूत्रवृत्ति) १, ६ पृ० १२

५. वहियापोग्गलपक्खेवे (वाह्यपुद्गलप्रक्षेप)—मिट्टी, पत्थर आदि फैंक कर मर्यादित प्रदेश से वाहर के मनुष्य से कोई कार्य कराना।

पौषधोपवास—यह व्रत जीवन-संघर्ष की सीमा को और अधिक संक्षिप्त करता है। एक रात-दिन के लिए सचित्त वस्तुओं का, शस्त्र का, पाप-व्यापार का, भोजन-पान, शरीरश्रृंगार तथा अब्रह्मचर्य का त्याग करना पौषधव्रत है। पौषधव्रतधारी की स्थिति साधु जैसी होती है। अत. पौषध मे गृहस्थोचित वस्त्र नही पहने जाते, पलंग आदि पर नही सोया जाता और स्नान भी नही किया जाता। सासारिक प्रपंचों से सर्वथा अलग रह कर एकान्त मे स्वाध्याय, ध्यान तथा आत्मचिन्तन आदि करते हुए जीवन को पवित्र वनाना ही इस व्रत का उद्देश्य है। इस व्रत के पाँच अतिचार हैं—

१ अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियसिज्जासंथारे (अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखितशय्यासंस्तार)—शय्यासंस्तार (विछौने) को विना देखे-भाले अथवा असावधानतापूर्वक देखभाल कर करना।

२ अप्पमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथारे (अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितशय्यासंस्तार)—विना झाड-पोछ किए अथवा असावधानतापूर्वक झाड़ पोंछ कर शय्यासंस्तार का विछाना।

३ अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमि (अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखितउच्चारप्रस्रवणभूमि)—विना देखेभाले अथवा असावधानी से देखभाल कर, मूत्र तथा पुरीषोत्सर्ग करना।

४ अप्पमज्जियदुप्पमजियउच्चारपासवणभूमि (अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितउच्चारप्रस्रवणभूमि)—स्थान को विना झाड-पोछ किए अथवा असावधानी से झाड-पोछ कर मूत्रपुरीषोत्सर्ग करना।

५ पोसहोववासस्स संम्म अणणुपालणया (पौषधोपवाससम्यगननुपालना)—पौषधोपवास का नियमानुकूल पालन नही करना।[२]

यथासंविभाग—यदि परिग्रह का उपयोग केवल अपने ही तक सीमित रहता है तथा वह जनकल्याण से प्रयुक्त नही होता तो महा-

---

१. उपासकदशांग, (अभयदेवसूत्रवृत्ति), १, ६, पृ० १८, १९।

२. वही, १, ६ पृ० १९।

भयंकर पाप बन जाता है। प्रतिदिन बढते हुए परिग्रह को बढे हुए नख की उपमा दी गई है। बढ़े हुए नख को काटने की तरह परिमित परिग्रह का नित्यप्रति यत्किंचित् दान देने का विधान है। दान परिग्रह का प्रायश्चित्त है। गृहस्थ के घर का द्वार जनसेवा के लिए खुला रहना चाहिए, विशेषकर त्यागियो, व्रतियो एवं श्रमणो के लिए। यदि वे लोग किसी उपासक के घर पधारे तो उपासक का कर्त्तव्य है कि वह उनको योग्य भक्ति-भाव से आहार-पानी दे। स्थानागसूत्र मे श्रमणोपासना से परम्परा से मुक्ति की प्राप्ति बताई गई है। "श्रमणसेवा से शास्त्र का उपदेश सुनने को मिलता है; शास्त्रोपदेश का फल आत्मज्ञान है। आत्मज्ञान से विज्ञान (विशिष्टज्ञान), विज्ञान से प्रत्याख्यान (वस्तुओ के त्याग की इच्छा), प्रत्याख्यान से संयम, संयम से अनाश्रव (कमा का आगमन रुकना) तथा अनाश्रव से तपक्रिया तथा अंत मे निर्वाण की प्राप्ति होती है।"[1] इस व्रत के पाॅच अतिचार हैं—

१ सचित्तनिक्खेवणया (सचित्तनिक्षेप)—साधु को देय वस्तु सचेतन पत्र, पुप्प आदि पर रख देना।

२ सचित्तपिहणया (सचित्तपिधान)—साधु को देय वस्तु सचेतन पत्र-पुप्प आदि से ढँक देना।

३ कालाइक्कमे (कालातिक्रम)—साधु के भिक्षार्थ भोजन-काल का उल्लंघन कर देना।

४. परव्ववएसे (परव्यपदेश)—भिक्षा के लिए अपने घर साधु के आने पर अपनी वस्तु को किसी अन्य व्यक्ति की, बता कर साधु को टरका देना कि यह भोज्य पदार्थ अमुक व्यक्ति का है।

५ मच्छरियाए (मात्सर्य)—अपने यहाँ किसी कारण साधु द्वारा आहार न लेने पर या किसी अन्य गृहस्थ के यहाॅ से लेने पर उससे ईर्ष्या करना।[1]

---

१. स्थानाग ६६, १९०।

२ उपासकदशाग, (अभयदेववृत्ति) १, ६, पृ० १६, २०।

उपासक की ११ प्रतिमा

प्रतिमा—उपासक घर मे रह कर जिन व्रतों का पालन करता है उन्हे गृहीधर्म अथवा सावयधम्म (श्रावकधर्म[1]) कहा जाता है। यह बात नितन्ता सत्य है कि कोई भी व्यक्ति घर में रह कर धर्मसाधना यथार्थरीति मे नही कर सकता। क्योंकि गृहस्थी के झभट उसके मन को स्थिर नही रहने देते। अत मन की एकाग्रता के लिए यह उचित माना गया कि वह घर से दूर किसी धर्मस्थान मे जा कर उपासक धर्म को निर्दोपरूप से पालन करने का प्रयत्न करे। जैनागम मे उपर्युक्त धर्म-स्थान को पोसहसाला (पौषधशाला) कहा गया है।

पौपधशाला उपासक-धर्म के पालन करने का निर्वाध स्थान है। उपासक अपने कुटुम्ब का भार ज्येप्ठपुत्र के ऊपर डाल कर सभी सासारिक कार्यों से निश्चिन्त हो कर इस पौषधशाला मे रह कर आत्मजागरण मे तत्पर हो जाता है। यहाँ पर आने के बाद वह अपने कुटुम्ब से पूर्णरूप से संवंध-त्याग करने का अभ्यास करता है। पौपधशाला का जीवन गृहस्थ तथा साधुजीवन के बीच की कड़ी है। यहाँ आ कर उपासक सबसे पहिले उस भूमि का अच्छी तरह प्रतिलेखन प्रमार्जन करता है, जहाँ उसे निवास करना है। इसके बाद वह जीवजन्तु रहित भूमि को भलीभाँति देखभाल कर प्रमार्जन साफ कर लेता है, जहाँ उसे मलप्रक्षेपादि कार्यों से जाना पड़ता है। पौषधशाला मे वह दर्भ या कठोर काष्ठ की शय्या पर सोता है और संपूर्ण समय गृहस्थ के कर्त्तव्यपालन करने तथा आत्म-ध्यान मे व्यतीत करता है।[2]

उपासक पौषधशाला मे जा कर अणुव्रतो तथा शिक्षाव्रतो के अति-रिक्त जिन प्रतिज्ञाओ[3] को ग्रहण करता है; उन्हे पडिमा (प्रतिमा) कहा गया है। उपासक की ये प्रतिमाएं ११ है, जिनके नाम निम्न प्रकार है—[4]

---

१ उपासकदशाग, १, ७, पृ० २२।

२. उपासकदशांग, १, १०, पृ० २६।

३. जो श्रमण की उपासना करते है, वे उपासक कहलाते है। उपासको की प्रतिज्ञा उपासकप्रतिमा है। समवायाग (अभयदेववृत्ति) पृ० १९ अ।

४. उपासकदशाग १, ११, पृ० २६।

१. दंसणपडिमा (दर्शनप्रतिमा)
२. वयपडिमा (व्रतप्रतिमा)
३. सामाइयपडिमा (सामायिकप्रतिमा)
४ पोसहपडिमा (पौषधप्रतिमा)
५. पडिमापडिमा (प्रतिमाप्रतिमा)
६. अबम्भवज्जनपडिमा (अब्रह्मवर्जनप्रतिमा)
७ सचित्ताहारवज्जणपडिमा (सचित्ताहारवर्जनप्रतिमा)
८. सयमारम्भवज्जणपडिमा (स्वयमारंभवर्जनप्रतिमा)
९ पेसारम्भवज्जणपडिमा (प्रेष्यारम्भवर्जनप्रतिमा)
१० उद्दिट्ठभत्तवज्जणपडिमा (उद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमा)
११ समणभूयपडिमा (श्रमणभूतप्रतिमा)

प्रथम प्रतिमा का काल एक माह है, द्वितीय प्रतिमा का काल दो माह है, इस प्रकार एक एक प्रतिमा एक एक माह अधिक तक बढती जाती है। अंतिम ग्यारहवी प्रतिमा का काल ग्यारह माह है। इस प्रकार समस्त प्रतिमाओ का पूरा काल पॉच वर्ष छह माह होता है। प्रत्येक प्रतिमा के धारण से पहिले उपासक के द्वारा उससे पहिले की प्रतिमा का यथाकाल यथानियम अभ्यास कर लिया जाना आवश्यक है।[1]

१. **दर्शनप्रतिमा**—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष पुण्य एव पापरूप नव पदार्थो पर यथार्थ श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। जब उपासक इस सम्यग्दर्शन का शंकादिदोषो से रहित हो कर निर्दोष रूप मे पालन करता है, तब उसके दर्शनप्रतिमा कही जाती है।[2]

२ **व्रतप्रतिमा**—दर्शनप्रतिमा का पूर्ण अभ्यास कर लेने के बाद अतिचाररहित पाच अणुव्रतो तथा सात शिक्षाव्रतो के पालन की प्रतिज्ञा करना व्रतप्रतिमा है। इस प्रतिमा के साथ ही मनुष्य

---

१ उपासकदशांक (अभयदेवसूत्रवृत्ति) पृ २६।

२. उपासकदशाग (अभयदेवसूत्रवृत्ति) पृ० २६ फुटनोट नं० १।

मे क्षमा, दया, सहनशीलता आदि मानवीय गुणो का विकास होने लगता है।[1]

३. सामायिकप्रतिमा—दर्शन तथा व्रतप्रतिमा से युक्त उपासक, प्रात मध्याह्न तथा साय, जो सामायिक (समभाव, की साधना करता है, वह सामायिकप्रतिमा है। मन को एकाग्र कर वाह्य-आभ्यतर परिग्रह का त्याग कर कुछ निश्चित समय तक आत्मा तथा परमात्मा का ध्यान करना व जीवन मे समभाव का आचरण करना सामायिक कहलाता है।[2]

४ पौषधप्रतिमा—उपर्युक्त तीन प्रतिमाओ से युक्त उपासक प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी को ४८ घटे तक आहारपानी का पूर्ण त्याग कर धर्माचरण मे समय व्यतीत करता है; उसे पौषधप्रतिमा कहा जाता है।[3]

५ प्रतिमाप्रतिमा—इस प्रतिमा-ग्रहण के पहिले यह आवश्यक है कि उपासक द्वारा सम्यक्त्व, अणुव्रत, गुणव्रत, तथा शिक्षाव्रत एवं सामायिक तथा पौषधप्रतिमा का अच्छी तरह यथाकाल पालन कर पूर्ण अभ्यास कर लिया जा। जो उपासक प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी की रात्रि मे प्रतिमा की तरह निश्चल रहता है, केवल दिन मे ही भोजन करता है, ढीले वस्त्र पहिनता है, दिन मे पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, रात्रि मे भी अधिक कामभोगो मे संलग्न नही रहता, दिन मे प्रतिमा की तरह आसन मे स्थिर हो कर त्रिलोक-पूज्य, जितकषाय 'जिन' का ध्यान करता है अथवा आत्मदोषो को नष्ट करने वाले किसी अन्य तत्व (आत्मादि) का ध्यान करता है, वह पंचम-प्रतिमाधारी है।[4]

६. अब्रह्मवर्जनप्रतिमा—उपर्युक्त पाच प्रतिमा के पूर्ण परिपालन के वाद सासारिक कामभोगो से मुक्ति पा लेना अब्रह्मवर्जनप्रतिमा है। इस प्रतिमा को धारण करने वाला व्यक्ति रात्रि मे भी शृंगारपूर्ण चर्चा,

---

१ उपासकदशाग अभयदेवसूत्रवृत्ति पृ० २७ फुटनोट न० १।
२. वही ,, पृ० २७ फुटनोट न० २।
३ वही ,, पृ० २७ फुटनोट न० ३।
४ वही पृ० २७ नोट न० ४।

स्त्रियो से अतिपरिचय तथा अपने शरीर की सजावट आदि से दूर रहता है।[1]

७ सचित्ताहारवर्जनप्रतिमा—पूर्वप्रतिमाओ के अभ्यासपूर्वकसचित्त वस्तुओ के भक्षण का त्याग करना सचित्ताहारवर्जन प्रतिमा है।[2]

८. स्वयमारम्भवर्जनप्रतिमा—पूर्व प्रतिमाओ के पालन के साथ घर मे सदोष कार्य के स्वयं न करने का नियम लेना, स्वयमारम्भवर्जन प्रतिमा है। आवश्यकता पड़ने पर अन्य व्यक्ति के द्वारा गृहकार्य कराया जा सकता है।[3]

९. परारम्भवर्जनप्रतिमा—पूर्व प्रतिमाओ के गुणो से युक्त होकर उपासक, दूसरे व्यक्ति के द्वारा भी सदोषगृहकार्यो के न कराने का जो नियम लेता है, वह परारम्भवर्जनप्रतिमा है।[4]

१०. उद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमा—पूर्वप्रतिमाओ का पालन करते हुए उपासक अपने उद्देश्य मे तैयार किए गए भोजन का जो त्याग करता है; वह उद्दिष्टभक्तवर्जनप्रतिमा है। इस प्रतिमा मे सपूर्ण प्रकार के आरम्भ का त्याग हो जाता है, सिर को पूर्णरूप से मुंडित कर दिया जाता है, अथवा एक छोटी-सी शिखा रख ली जाती है। किसी वस्तु के सम्बन्ध मे पूछे जाने पर यदि जानता है तो उपासक कहता है कि मैं जानता हू; यदि नही जानता है तो कहता है कि मैं नही जानता हू। अर्थात्-अपने आपको उपासक वता कर वह सासारिक विवादो मे अधिक व्यस्त नही होता।[5]

११ श्रमणभूतप्रतिमा—ग्यारहवी प्रतिमा मे उपासक अपने सिर को पूरा मुंडा लेता है। वह श्रमणवेश तथा उपकरणो को

---

१. उपासकदशांग अभयदेवसूत्रवृत्ति पृ० २८ नोट न० १।
२. वही ,, पृ० २८ नोट न० २।
३. वही ,, पृ० २८ नोट न० ३।
४. वही ,, पृ० २८ नोट न० ४।
५ वही ,, पृ० २८ नोट न० ५।

धारण कर सयम का पालन करता हुआ साधु जैसा जीवन व्यतीत करता है।[1]

इन प्रतिमाओ के पालन का उद्देश्य उपासक के द्वारा धीरे-धीरे श्रमण-अवस्था को प्राप्त करना है; जैसा कि ग्यारहवी प्रतिमा के नाम से प्रकट होता है।

मारणान्तिकसल्लेखना तथा मरणोत्तर विधान

सल्लेखना—जीवन की अंतिम व्यवस्था मे उपासक का शरीर वृद्धावस्था एवं तप के आचरण के कारण हड्डियो का ढॉचा मात्र रह जाता है। उसमे उठने-बैठने तथा कर्म करने की शक्ति नहीं रहती। किन्तु उत्थान, क्रिया, बल, वीर्य, पौरुष, श्रद्धा तथा वैराग्य विद्यमान रहते है। उपासक के जीवन मे यह सबसे मूल्यवान एवं अत्यन्त सावधान हो जाने का समय है। यदि इस काल में उपासक अपने कर्त्तव्यो से लेशमात्र भी च्युत होता है तो उसका जीवनभर आराधित उपासकधर्म निष्फल हो जाता है। इस समय उपासक अत्यन्त शान्ति के साथ मारणान्तिक संल्लेखना धारण करता है। जैनागम मे इस व्रत को अपच्छिममारणतिय संलेहणाभूसणाराहणाए (अपश्चिममारणान्तिकसल्लेखनाजोषणाराधना) कहा गया है। "संल्लेखना" शब्द का अर्थ है शरीर तथा कषाय को क्षीण कराना और जोषण शब्द का अर्थ है आत्मसेवा करना। मरणकाल मे अशन-पान का क्रमश सर्वथा त्याग कर शरीर को तथा निरन्तर आत्मोपासना मे लीन रह कर क्रोधादि कषायो को क्षीण करना और अन्त मे शान्तिपूर्वक मृत्यु का आलिगन करना संल्लेखना कहलाता है।[2]

मरणोत्तरविधान—जो व्यक्ति जीवनपर्यन्त उपासक के व्रतो का निर्दोष पालन करता है तथा अन्त मे संल्लेखना धारण कर शान्तिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त होता है; वह आगामी जन्म मे नियम से महाद्युति एवं महाऋद्धि से युक्त देवलोक में जन्म लेता है।[3]

---

१ उपासकदशाग अभयदेवसूत्रवृत्ति पृ० २९ नोट न० १।
११ प्रतिमाओ के विशेष विवरण के लिए देखिए—उवासगदसाओ (डा० पी० एल० वेद्या) पृ० २२४।

२ उपासकदशाग (अभयदेवसूत्रवृत्ति) १ ७, पृ २१।

३. जैनसूत्राज् भाग २ (सूत्राकृताग) २, २ ७७, पृ० ३८४।

महावीर ने कहा था कि—आनन्द श्रमणोपासक वहुत वर्षो तक उपासक के कर्त्तव्यो का पालन कर सौधर्मकल्प (स्वर्ग) के अरुणविमान मे चार पल्य की आयु वाला देवता होगा।[1] नंदनीपिता तथा सालिही-पिता ने अपने पूर्ण जीवन मे उपासक के व्रतो का पालन किया। मरण-काल मे सल्लेखना धारण कर वे मृत्यु को प्राप्त हुए। उसके बाद दोनो ने क्रमश. देवत्व प्राप्त कर आनतस्वर्ग के अरुणगव विमान तथा सौधर्मस्वर्ग के अरुणकील विमान मे जन्म ग्रहण किया। इन दोनो के सम्वन्ध मे यह भी कहा गया है कि ये दोनो क्रम से महाविदेह मे जन्म ले कर फिर सिद्धि को प्राप्त करेगे। इससे यह बात स्पष्ट है कि उपासक देवलोक प्राप्त करने के वाद क्रमश निर्वाण को भी प्राप्त करता है।

जो व्यक्ति अपना जीवन उपासक के रूप मे न व्यतीत कर सांसारिक भोग-विलासो मे व्यतीत करते है तथा हिंसादि पापकर्मो मे लिप्त रहते है; वे इस भव मे नारकीय यातनाओ को प्राप्त करते है तथा पर-भव मे अनेक जन्मो तक नरकगामी होते है। जैनसूत्रो मे ऐसे अनेक मनुष्यो का वर्णन है, जिन्होने अपने जीवन मे हिंसादि पापो का आचरण किया और उसके परिणामस्वरूप उन्हे इहलोक तथा परलोक दोनो जगह अपराध का फल भोगना पडा।[2]

गोत्तासअ (गोत्रासक) नामक एक वहुत अधार्मिक मनुष्य था। वह प्रतिदिन गोशाला मे जा कर पशुओ का वध करता तथा मॉस एव मद्य का सेवन किया करता था। जीवनभर अधार्मिक कृत्यो के द्वारा उसने पाप का संग्रह किया और अशान्तिपूर्वक मर कर द्वितीय नरक मे तीन सागरोपम की आयु वाला नारकी हुआ। नरक से निकलने के वाद उसने पुन भूलोक मे जन्म लिया। उसका नाम उज्भित रखा गया। उज्झित ने पुन. माँसभक्षण, जुआ खेलना, मद्य पीना आदि अधार्मिक कार्यो मे अपना जीवन विताया और अन्त मे वेश्यागमन के परिणामस्वरूप उसे राजदंड भुगतना पडा। उसके नाक-कान काट लिए गए; उसके समस्त शरीर मे तेल चुपड दिया गया, उसे वध्यचिह्न के रूप मे दो खंडवस्त्र तथा लाल पुष्पो की माला पहिनाई गई, उसे

---

१ उपासकदशाग १ ६, पृ० २४।

२ विवागसुयम्, प्रथमश्रुतस्कन्ध (दु.खविपाक)

जमीन की ओर सिर करके बांध दिया गया, उसके शरीर से मांस काट कर स्वयं उसे खिलाया गया, उसे हजारों कांटों से पीटा गया और अंत में उसे फांसी का दण्ड दिया गया।[1]

विजयवर्द्धमान नामक गांव में एक "इक्काई" नामका बड़ा अधार्मिक शासक था। वह पांच सौ गांवों पर शासन करता था। वह प्रजा पर अत्यधिक अत्याचार करता, उन्हें मारता, ठगता, उनका धन छीन लेता, उनसे अनेक प्रकार के अनधिकृत टैक्स लेता तथा चोरों और डाकुओं को सहायता देता था। उपर्युक्त पापपूर्ण कार्य करते हुए इक्काई को श्वास, कास, ज्वर, कुक्षिशूल आदि सोलह रोग उत्पन्न हो गये और उन रोगों से मर कर वह रत्नप्रभा नरक में एक सागर-प्रमाण की आयु वाले नारकीरूप में उत्पन्न हुआ। महावीर ने गौतम के पूछने पर उन्होंने इक्काई के भविष्य-जीवन का इस प्रकार वर्णन किया —

" . . . वह सिंह का रूप धारण करेगा और उसके बाद मर कर प्रथम नरक में नारकी होगा। वहाँ से निकल सरीसृपों (पेट के बल रेंगने वाले सर्प आदि प्राणियों) में उत्पन्न होगा। उसके बाद वह द्वितीय नरक में, फिर तृतीय नरक में, फिर चतुर्थ, पंचम, षष्ठ तथा सप्तम नरक में उत्पन्न होगा। फिर क्रम से वह एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीवों का शरीर धारण करता हुआ मनुष्यपर्याय को प्राप्त कर श्रमणधर्म का पालन करके आलोचना, प्रतिक्रमणपूर्वक समाधिमरण को प्राप्त हो कर सौधर्मस्वर्ग में देवरूप में उत्पन्न होगा, वहाँ से निकल कर महाविदेह में उत्पन्न हो कर अन्त में सिद्धि को प्राप्त करेगा।[2]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि महान् अधार्मिक मनुष्य भी धार्मिक कर्तव्यों का पालन कर देवत्व तथा सिद्धि-पद को प्राप्त कर सकता है।

उपासक का जीवन-क्रम

किसी भी जाति अथवा वर्ण का गृहस्थ[1] स्त्रीपुरुष निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धावान् हो कर किसी साधुजन के समक्ष जब पाँच अणुव्रत तथा सात

---

१ विवागसुय १, २
२ विवागसूय १, १।

शिक्षा-व्रतरूप वारह प्रकार के गृहस्थ-धर्म को स्वीकार करता है; तव से उसका उपासकजीवन प्रारम्भ होता है।

गृहस्थ-धर्म स्वीकार करने के वाद वह जीवन-भर के लिए स्थूल हिंसा, झूठ तथा चोरी का परित्याग कर देता है, अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्रियो के साथ मैथुनविधि के त्याग का तथा गार्हस्थिक वस्तुओ के सग्रह की कम से कम मात्रा का भी निश्चय कर लेता है।[२]

वह प्रतिज्ञा करता है कि अपने जीवन मे सोना, चाँदी, खेत, वैलगाड़ी, नाव, वस्त्र, आभूपण आदि निश्चित मात्रा के अतिरिक्त अन्य सोना, चाँदी आदि को प्रयोग मे नही लाएगा। वह भोजनविधि का भी परिमाण करता है और निश्चय कर लेता है कि कुछ प्रकार के फल, मिप्टान्न, दाल, घृत, शाक, मधुर रस, दहीवड़ा, जल तथा ताम्बूल आदि का कुछ निश्चित मात्रा मे ही अपने जीवन मे सेवन करेगा। यहाँ तक कि तैलमर्दन, उवटन, स्नान, विलेपन, पुष्पधारण आदि के सम्बन्ध में भी वह अपनी आवश्यकताओ की अत्यल्प सीमा निश्चित कर लेता है।[३] परिग्रह की सीमा कम हो जाने से मनुष्य अनेक प्रकार की संग्रहसम्वन्धी मानसिक चिन्ताओ से मुक्त हो जाता है और घर मे स्थित वस्तुओ मे ही उसे संतोष का अनुभव होने लगता है।

उपासक की अहिंसा की भावना का क्षेत्र मनुष्यमात्र तक सीमित नही है। वह पशु-पक्षियो पर भी दया से परिपूर्ण होता है। वह जिन गाय, भैंस आदि पशुओ का परिग्रह रखता है, उनको समय पर भोजन-पानी देने का पूरा ध्यान रखता है और उन्हे किसी भी प्रकार का कप्ट नही होने देता, उन्हे मारता-पीटता नही और न ही उनके अगो को छेदता है।[४]

---

१ 'कर्म से ही व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र होता है', उत्तराध्ययन २५, ३३।

२ उपासकदगांग, ४।

३ वही, ५।

४. उपासकदगाग, १, ६ पृ० १९।

वह आपसी व्यवहार मे बिल्कुल सत्य, स्पष्ट एवं मिष्टभाषी होता है, बिना बिचारे नही बोलता, किसी के रहस्य का भेदन नही करता, झूठा उपदेश नही देता और न ही झूठे लेख, वहीखाते या दस्तावेज लिखता है। वह ऐसा सत्य भी नही बोलता, जो अनिष्ट तथा अप्रिय हो।[२]

व्यापार के सम्बन्ध मे उपासक बहुत सावधान रहता है। वह ऐसे कर्म नही अपनाता, जिनमे त्रसवध व अतिवध होता है। वह निषिद्ध, राष्ट्रघातक, नैतिकताविरुद्ध एव संयमघातक कर्मो द्वारा व्यापार नही करता, किन्तु न्यायोचित कार्यो द्वारा व्यापार कर अपने कुटुम्ब का पालन करता है। वह चोरी की वस्तु ग्रहण नही करता और चोरो को किसी प्रकार की सहायता भी नही पहुँचाता। वह व्यापार मे राजकीय नियमो का पूर्ण ध्यान रखता है। वस्तुओ में मिलावट नही करता और न ही कम व अधिक तौलता-नापता है। उसका व्यक्तिगत जीवन भी बहुत पवित्र होता है, वह दुर्भावनाओ को अपने पास फटकने नही देता। अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों को वह माता, बहन तथा पुत्री समझता है। वह अपनी स्त्री के साथ भी अधिक कामभोग नही करता, तथा दुश्चरित्र वाले स्त्री-पुरुषो के साथ वह किसी प्रकार का सम्पर्क नही रखता।

उपासक यह समझता है कि दु खो का कारण असंतोष है, अतः वह कम से कम वस्तु में संतुष्ट रहने का प्रयत्न करता है। वह कम से कम वस्तु के संग्रह का नियम ले कर कभी उस मर्यादा को बढाने का प्रयत्न नही करता और प्रत्येक जीवनोपयोगी वस्तु की निश्चित मर्यादा मे ही अपना जीवन व्यतीत करता है। इस प्रकार वह अपनी इच्छा और तृष्णा पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहता है

उपासक अपने बाह्य-जीवन को संकुचित करके निरन्तर अन्तर-जीवन के विकास का प्रयत्न करता है। वह बाह्य-संसार में अपने आवा-गमन की परिधि भी निश्चित कर लेता है और जीवनभर उसी परिधि के भीतर रहता है। अत्यावश्यक कार्य आ पड़ने पर भी परिधि-लंघन का भाव उसके मन मे उत्पन्न नही होता। इस प्रकार उसके दोषपूर्ण कार्यो

---

१ उपासकदशाक १, ६, पृ० १०।

२. वही, १, ६, पृ० ११।

का क्षेत्र संकुचित हो जाता है ।[1] उपासक का भोजन शुद्ध तथा सात्विक होता है । कच्चे फल, अमर्यादित तथा अभक्ष्य वस्तुए उसके भोज्य नही होती । जल एवं वनस्पति को भी पूर्ण रूप से पका कर वह उन्हे अचित्त-रूपमे भक्षण करता है ।[2]

उपासक सर्वदा आत्म-चिन्तन मे जागृत रहता है । वह व्यर्थ पाप-पूर्ण कार्यो को न स्वयं करता है और न किसी के करने मे, मन, वचन, अथवा कर्म से सहायता ही करता है । वह जीवन के प्रत्येक कार्य को आलस्यरहित हो कर सावधानी के साथ करता है । वह अपने शरीर के अंगो से कुचेष्टाए भी नही करता । शय्या, बिछौना अथवा अन्य आवश्यक वस्तुओ को उठाते-रखते समय वह अत्यन्त सावधानी से काम लेता है । वह उस जगह को भी पहिले से देखभाल व झाड़-पोंछ लेता है, जहाँ उन वस्तुओं को रखना है । उन वस्तुओ को रखने से पहिले भी वह उन्हे अच्छी तरह झाड़-पोछ लेता है ।[3]

उपासक का हृदय समत्व की भावना से परिपूर्ण होता है । उसे आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य, पशु अथवा जन्तुओ के मध्य कोई भेद नही दिखता । वह आत्मा को सर्वोच्च मान कर शरीर के भेद को बिलकुल भूल जाता है । इसी समत्व-भावना की प्राप्ति के लिए दिन मे तीन वार कुछ निश्चित समय के लिए एकान्त, निर्बाध स्थान में बैठकर वह आत्मध्यान करता है । इस समय वह संसार को विलकुल ही भूल जाता है, परिग्रह से पूरा सम्बन्ध तोड देता है और कुछ समय के लिए साधु-अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।[4]

इस प्रकार उपासक सर्वदा धर्म के प्रति श्रद्धावान् हो कर धर्मीजनो का भी पूर्ण विनय करता है, उनका समागम प्राप्त करने की निरन्तर चेष्टा करता है और किसी साधुजन के घर आ जाने पर उन्हे उचितसम्मान दे कर यथाविधि आहार-पानी आदि देता है ।[5]

---

१ उपासकदशाग, पृ० ११, १२

२ वही, १, ६, पृ० १२, १३ ।

३. वही, १, ६ पृ० १७ ।

४. वही, ,,

५ वही, १, ६, पृ० १८ ।

गृहस्थजीवन में निरन्तर सावधान उपासक जब इस प्रकार का अनुभव करने लगता है कि घर मे रह कर वह गृहस्थधर्म का पूर्ण-रूप से पालन नही कर पाता; तब किसी दिन अपने कुटुम्बिजन तथा मित्रो को घर पर बुला कर भोजनादि द्वारा सन्तुष्ट करके अपने गृह-त्याग-सम्बन्धी विचार उनके समक्ष रख देता है। कुटुम्बिजनो तथा पुत्र की स्वीकृति के बाद वह घर का समस्त भार अपने ज्येष्ठ-पुत्र को सौंप कर आत्म-साधन के लिए पौषधशाला मे चला जाता है। पौषधशाला मे जाते समय वह सभी लोगो से कहता है कि आज से किसी के घर पर उसके निमित्त भोजनादि तैयार न किया जाए और न ही किसी सांसारिक कार्य मे उसकी सम्मति ली जाए।[1]

पौषधशाला मे जाने के बाद उपासक ग्यारह प्रतिमाओ का क्रम-क्रम से यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग तथा यथातत्त्व आराधन प्रारम्भ कर देता है। अन्तिम 'श्रमणभूत" प्रतिमा मे पहुँच कर वह लगभग साधु का-सा जीवन व्यतीत करने लगता है। इस प्रकार अपने जीवन की अंतिम अवस्था तक वह पौषधशाला मे रह कर अपने कर्तव्यो का पूर्णरूप से पालन करता हुआ अपने व्यक्तित्व के विकास मे तत्पर रहता है।[2] अत मे संल्लेखनापूर्वक शाति से मरण कर सद्गति को प्राप्त होता है।[3]

उपासक की विचार-धारा

श्रद्धा, मानव के व्यक्तित्व-विकास की आधारशिला है—उपासक-अवस्था का प्रारम्भ निर्ग्रन्थ-प्रवचन एवं जीवाजीवादि पदार्थों में श्रद्धा एवं विश्वास से होता है। महावीर ने कहा था कि "जैसे कोई व्यक्ति रुधिर मे रंगे वस्त्र को रुधिर से ही साफ करना चाहे तो क्या वह साफ हो सकता है ? नही, इसी प्रकार प्राणातिपात आदि से होने वाला पापो से रगा मनुष्य, मिथ्यादर्शन आदि के त्याग तथा सम्यग्दर्शन (सत्यश्रद्धा) आदि के ग्रहण से शुद्ध हो सकता है।"[4]

---

१ उपासकदशाग, १, १० पृ० २५।

२. वही (अभयदेववृत्ति, १, १०, पृ० २६।

३. वही १, १५ पृ० ३३।

४. नायाधम्मकहाओ, ५, ६०. पृ० ७४, ७५।

मानव-जीवन नि.सार है—उपासक इस मनुष्यजीवन कोआनन्दप्रद तथा स्थायी नही मानता; किन्तु इसके विपरीत वह इसे अध्रुव, अनिश्चित अशाश्वत, बिजली की तरह चंचल, जलबुद्बुद, कुशाग्रजलबिन्दु, संध्या-कालीन लालिमा तथा स्वप्नदर्शन की तरह अनित्य मानता है। वह यह भी जानता है कि मनुष्य का जीवन सड़ना, गलना, नष्ट होना आदि धर्मो से परिपूर्ण है तथा शीघ्र अथवा विलम्ब से छोड देने योग्य ही है।" बालक, वृद्ध और गर्भस्थ सभी मनुष्यो का जीवन नाशवान है। यह देखो, जैसे श्येनपक्षी वर्तकपक्षी को मार डालता है, इसी तरह आयु क्षीण होने पर मृत्यु प्राणी जीवन को नष्ट कर देती है।"[१]

मानवीय कामभोग क्षणिक है—उपासक, मनुष्य के कामभोगो से दूर रहने का प्रयत्न करता है। यद्यपि गृहस्थावस्था के कारण वह उनसे सर्वथा पृथक् तो नही हो सकता, किन्तु उनकी वास्तविकता, दुःखो-त्पादकता एवं अनित्यता को जानता है। वह समझता है कि ये कामभोग अशुचि, अशाश्वत, वान्तास्रव (वमन के द्वार), पित्तास्रव, श्लेष्मास्रव, शुक्रास्रव, शोणितास्रव, मूत्र-पुरीप-पूयादि से परिपूर्ण, अध्रुव एवं अनिश्चित है तथा एक न एक दिन इन्हे अवश्य ही छोड देना पड़ेगा।[२] महावीर ने कहा है कि—"सब वैपयिक गान विलाप है, सब नाचरंग विडम्बना है, समस्त अलंकार शरीर पर बोझ है तथा समस्त कामभोग दुःख देने वाले है।"[३] "सोना, चाँदी और स्वजनवर्ग सभी परिग्रह, इस लोक तथा परलोक मे दुःख देने वाले तथा सभी नश्वर है। अतः इसे जानने वाला कौन पुरुष गृहवास को पसन्द कर सकता है?"[४]

धनसम्पत्ति त्याज्य है—सोना, चाँदी, मणि, मौक्तिक आदि चोर, अग्नि, राजा, भाई, बन्धु एव मृत्यु द्वारा छीने जा सकते है। वे शरीर की तरह सडन, गलन आदि धर्मो से परिपूर्ण है और एक न एक दिन नष्ट होने वाले ही है।[५]

---

१ जैनसूत्राज् भाग २ (सूत्रकृताग १, २, १, २ पृ० २४९)
२. नायाधम्मकहाओ १, २८ पृ० २७।
३. उत्तराध्ययन, १३, १६।
४. जैनसूत्राज् भाग २, (सूत्रकृताग १, २, २, १० पृ० २५४)
५. नायाधम्मकहाओ, १, २८ पृ० २७।

निर्ग्रन्थ प्रवचन उपादेय है—यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन क्लीव, कापुरुष, इस लोक मे प्रतिवद्ध तथा परलोक मे अचेत एवं नीच पुरुषो के लिए कष्ट से आचरण करने के योग्य है। परन्तु जो व्यक्ति धीर एवं उद्यमशील है, उन्हें इस निःश्रेयस प्रवचन मे कुछ भी दुष्कर नही है। यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन सत्य, सर्वश्रेष्ठ, न्याययुक्त, पापकर्मो का नाश करने वाला, मोक्ष का मार्ग तथा सम्पूर्ण दुःखो से मुक्त कराने का एक मात्र उपाय है।[1]

सदाचार ग्राह्य है—यह ससार जरा एवं मरण के द्वारा प्रदीप्त है। जिस प्रकार कोई गृहपति अपने घर मे आग लग जाने पर उसमे से अल्पभार एवं वहुमूल्य वस्तुओ को ग्रहण करके एकान्त मे चला जाता है, यह सोचता हुआ कि ये वस्तुएँ हमे अग्रिम जीवन-यात्रा मे सुख तथा निःश्रेयस आदि का साधन वनेगी। इसी प्रकार उपासक के पास आचार-रूप वस्तु है, जो अत्यन्त इष्ट है तथा संसार का नाश करने वाली है।[2]

---

१. नायाधम्मकहाओ १, २८ पृ० २८

२. अन्तगडदसाओ प्रथमवर्ग, पृ० ४।

षष्ठ अध्याय

श्रमण-जीवन

श्रमण-अवस्था

उपासकजीवन से आगे की कोटि श्रमण-अवस्था है। उपासक ग्यारहवी प्रतिमा मे प्रायः श्रमण हो जाता है, इस कारण ही उस प्रतिमा का नाम "श्रमणभूत" प्रतिमा है।[1] इस अंतिम प्रतिमा मे उपासक श्रमणजीवन का अभ्यास प्रारम्भ कर देता है। जब वह अपने को श्रमण-जीवन के कठोर नियमो को अच्छी तरह पालन करने के योग्य समझ लेता है, तब वह श्रमण-जीवन में प्रवेश करता है।

श्रमण-जीवन अत्यन्त कष्टसाध्य है। जैनागम मे इसकी कठोरता पर अच्छी तरह प्रकाश डाला गया है। "श्रमण-जीवन, दो हाथो से सागर को तैरने जैसा कठिन, रेत के ग्रास जैसा नीरस, तलवार की धार पर चलने जैसा महाकष्टसाध्य, लोहे के चने चबाने जैसा अशक्य, प्रज्वलित अग्नि-शिखा को पी जाने जैसा दुःसाध्य, हवा से कपड़े की थैली भरने जैसा असाध्य और तुच्छ कांटे से एक लाख योजन वाले मेरुपर्वत को भेदने जैसा असम्भव है।"[2]

वस्तुत श्रमण-जीवन इतना ही उग्र जीवन है। "यह मार्ग क्लीब, कापुरुष, इस लोक में आसक्त तथा परलोक से अचेत और दुरनुचर प्राकृतजनों का नहीं है; किन्तु धीर, वीर, निश्चलमति एवं स्थितप्रज्ञो

---

१ उपासकदशाग, १, ११, पृ० २६।

२ नायाधम्मकहाओ, १, २८ पृ० २७, २८ तथा उत्तराध्ययन, १९, ३६-४२।

का है।"[1] जो लोग कायर है, साहसहीन है, वासनाओं के दास है, इन्द्रियो के चक्कर मे पडे है और दिन-रात इच्छाओं की लहरो के थपेडे खाते रहते है, वे भला क्यो कर इस क्षुरधारासम दुर्गमपथ पर चल सकते है ?

श्रमण शब्द का निर्वचन तथा समानार्थक शब्द

निर्वचन—श्रमण का मूल प्राकृत शब्द "समण है। समण के संस्कृत रूपान्तर तीन होते है—श्रमण, समन तथा शमन। श्रमणसंस्कृति का वास्तविक मूलाधार इन्ही तीन संस्कृतरूपो पर से व्यक्त होता है।

"श्रमण शब्द "श्रम्" धातु से बना है, जिसका अर्थ है श्रम करना। यह शब्द प्रकट करता है कि व्यक्ति अपना विकास अपने परिश्रम द्वारा कर सकता है। सुख-दुःख, उत्थान-पतन सभी के लिए वह स्वय उत्तरदायी है। "समन" का अर्थ है—समताभाव अर्थात् सबको अपने समान समझना तथा सबके प्रति समभाव रखना। दूसरो के प्रति व्यवहार की कसौटी आत्मा है। जो बात अपने को बुरी लगती है वह दूसरो के लिए भी बुरी है।[2] "शमन" का अर्थ है अपनी वृत्तियो को शान्त रखना।[3]

अनुयोगद्वारसूत्र मे "भावसामायिक" का निरूपण करते हुए श्रमण शब्द के निर्वचन पर प्रकाश डाला गया है—"जिस प्रकार मुझे दुःख अच्छा नही लगता, उसी प्रकार संसार के अन्य सभी जीवो को दुःख अच्छा नही लगता, यह समझ कर जो स्वय न हिंसा करता है, न दूसरो से करवाता है और न किसी प्रकार की हिंसा का अनुमोदन करता है तथा सभी प्राणियो मे समत्वबुद्धि रखता है, वह श्रमण है।[4]

मूल सूत्र मे "सममणाइ" शब्द आया है। उसकी व्याख्या करते हुए आचार्य हेमचन्द्र लिखते है—"अण्" धातु प्रवृत्ति के अर्थ मे है और 'सम'

---

१. नायाधम्मकहाओ १, २८, पृ० २८।
२. सूत्रकृताग, २, २, ८१ (जैनसूत्राज् भाग २, पृ० ३८७)।
३. श्रमणसूत्र, पृ० ७५,७६।
४. अनुयोगद्वार सूत्र, उपक्रमाधिकार।

शब्द तुल्यार्थक है। अत जो सब जीवो के प्रति सम अर्थात् समान अणति अर्थात् प्रवृत्ति करता है वह श्रमण कहलाता है।

दशवैकालिक सूत्र मे श्रमण का अर्थ तपस्वी किया गया है "जो अपने ही श्रम से—तप साधना से मुक्तिलाभ करते है, वे श्रमण कहलाते है।"[१] आचार्य शीलाक भी सूत्रकृताग मे श्रमण शब्द की यही "श्रम" और "सम" सम्बन्धी व्याख्या करते है।[२]

वृद्ध ने भी श्रमणशब्द के अर्थ पर कुछ प्रकाश डाला है—'जो व्रत-हीन है, मिथ्याभाषी है, इच्छा तथा लोभ से भरे हुए है; ऐसे व्यक्ति मुण्डित हो कर भी क्या श्रमण बनेगे? जो छोटे-बड़े पाप का शमन करता है, उसे पापो का शमनकर्ता होने के कारण श्रमण कहते है।"[३]

महावीर ने भी यही कहा है कि—'केवल मुण्डित होने मात्र से भी कोई श्रमण नही होता, श्रमण होता है—समता की साधना से।'[४]

समानार्थक शब्द—वैसे तो श्रमण शब्द के समानार्थक अनेक शब्दो का प्रयोग अंगशास्त्र मे हुआ है; फिर भी हम कुछ मुख्य शब्दो की व्याख्या यहाँ करते है।

मुनि—जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा समस्त त्रस जीवों के हिंसारूप 'कर्मसमारम्भ' को अच्छी तरह जान कर उसका त्याग कर देता है, वह मुनि कहलाता है।[५]

अनगार—समस्त प्राणियो के रक्षणरूप संयम का पालन करने वाला, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा, सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त और माया का त्याग करने वाला अनगार कहलाता है।[६]

---

१. "श्राम्यन्तीति श्रमणा, तपस्यन्तीत्यर्थः" दशवैकालिकसूत्रवृत्ति, १, ३,

२. "श्राम्यति तपसा खिद्यते इति कृत्वा श्रमणो वाच्य अथवा समं तुल्यं मित्रादिषु मनः—अन्त करण यस्य स सममन., सर्वत्र वासी-चन्दनकल्प-इत्यर्थः" सूत्रकृताग, १. १६ (हिन्दी टीका, पृ० २६८, २६६)

३ धम्मपद, धम्मठ्ठवग्ग, ६, १०।

४ उत्तराध्ययन, २५, ३१, ३२।

५ आचारांग, १, १, १ ७ (जैनसूत्राज् भाग १ पृ० १, १५)

६. वही, १, १, ३, १, भाग १ पृ० ५।

ब्राह्मण—"वह ब्राह्मण इसलिए कहलाता है कि वह राग-द्वेप, कलह, झूठी निन्दा, चुगली, आक्षेप, संयम मे अरति, विषयो मे रति, मायाचार और झूठ आदि सव पापकर्मो से रहित होता है, सम्यक् प्रवृत्ति से युक्त होता है, सदा यत्नशील होता है, अपने कल्याण में तत्पर होता है, तथा कभी क्रोध अथवा अभिमान नही करता।"[1]

श्रमण—"वह श्रमण इसलिए कहलाता है कि वह विद्वानों से नही हारता और सव प्रकार की आकाक्षा से रहित होता है। वह परिग्रह, हिसा, झूठ, मैथुन क्रोध, मान, माया, लोभ, राग तथा द्वेपरूपी पाप से विरत होता है।"[2]

भिक्षु—"वह भिक्षु इसलिए कहलाता है कि वह अभिमान से रहित नम्र होता है और गुरु का आज्ञानुवर्ती होता है। वह विविध प्रकार के कष्टो तथा विघ्नो से नही हारता। अध्यात्मयोग से वह अपना अन्त -करण शुद्ध करता है। वह प्रयत्नशील, स्थिरचित्त और दूसरो द्वारा भिक्षा के रूप मे दिए हुए भोजन की मर्यादा मे रह कर जीवन-निर्वाह करने वाला होता है।"[3]

निर्ग्रंथ—"वह निर्ग्रंथ इसलिए कहलाता है कि वह अकेला (संन्यासी) होता है, एक को जानने वाला (मोक्ष अथवा धर्म को) होता है, जागृत होता है, पापकर्मो के प्रवाह को रोकने वाला होता है, सुसंयत होता है, सम्यक्प्रवृत्ति से युक्त होता है आत्मतत्त्व को समझने वाला होता है. विद्वान् होता है, इन्द्रियो के विषयो से विरक्त होता है, पूजा, सत्कार और लाभ की इच्छा से रहित होता है, धर्मार्थी होता है, धर्मज्ञ होता है, मोक्षपरायण होता है तथा समतापूर्वक आचरण करने वाला होता है।"[4]

श्रमण-अवस्था का महत्त्व

जैनधर्म मे श्रमण का पद वहुत ही महत्वपूर्ण माना गया है। आध्यात्मिक विकास के क्रम मे उसका स्थान छठा है। यदि यहॉ से वह

---

१ सूत्रकृतांग (हि०), १, १६, १, पृ० ६७।
२ वही १, १६, २, पृ० ६७।
३. वही १, १६, ३, पृ० ६८।
४. वही १, १६, ४, पृ० ६८।

निरन्तर ऊर्ध्वमुखी विकास करता रहे तो अन्त मे चौदहवे गुणस्थान की भूमिका पर पहुँच कर सदाकाल के लिए अजर, अमर, सिद्ध, वुद्ध एवं मुक्त हो जाता है। ऐसे ही श्रमण-जीवन को पंचनमस्कारमंत्र मे "णमो लोए सव्वसाहूणं" कह कर नमस्कार किया गया है। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जिस मन्त्र मे अरिहंत एवं सिद्ध परमात्मा को नमस्कार किया गया है, उसी मंत्र मे उन्ही के समकक्ष रख कर साधु को भी नमस्कार किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि श्रमण-जीवन अवश्य ही मुक्ति का साधक है, और श्रमण-अवस्था को प्राप्त व्यक्ति किसी दिन अवश्य ही पूर्ण मुक्त हो जाता है।[1]

भगवतीसूत्र मे पाँच प्रकार के देवो का वर्णन है। वहाँ महावीर ने गौतम गणधर के प्रश्न का समाधान करते हुए साधुओ को साक्षात् "धर्मदेव" कहा है। वस्तुत साधु धर्म का जीता-जागता देवता ही है।[2]

भगवतीसूत्र के चौदहवे शतक मे भगवान् महावीर ने साधुजीवन के अखण्ड आनन्द का उपमा के द्वारा एक वहुत ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। गणधर गौतम को सम्वोधित करते हुए भगवान् कहते है कि "हे गौतम, एक मास की दीक्षा वाला श्रमण निर्ग्रन्थ वाणव्यन्तर देवो के सुख को अतिक्रमण कर जाता है। दो मास की दीक्षावाला मुनि नाग-कुमार आदि भवनवासी देवो के सुख को अतिक्रमण कर जाता है। इसी प्रकार तीन मास की दीक्षा वाला साधु असुरकुमार देवो के सुख को, चार मास की दीक्षा वाला ग्रह, नक्षत्र एव ताराओ के सुख को, पाँच मास की दीक्षा वाला ज्योतिष्कदेवजाति के इन्द्र-चन्द्र एवं सूर्य के सुख को, छह मास की दीक्षा वाला सौधर्म एवं ईशान देवलोक के सुख को, सात मास की दीक्षा वाला सनत्कुमार एव माहेन्द्र देवो के सुख को, आठ मास की दीक्षा वाला व्रह्मलोक एव लान्तक देवो के सुख को, नव मास की दीक्षा वाला आनत एव प्राणत देवो के सुख को, दस मास की दीक्षा वाला आरण एव अच्युत देवो के सुख को, ग्यारह मास की दीक्षा वाला

---

१ भगवती, १, १, १, तथा कल्पसूत्र १, १, १, 'णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण।'

२ भगवती, १२, ९।

नवग्रैवेयक देवो के सुख को तथा वारह मास की दीक्षा वाला श्रमण अनुत्तरौपपातिक देवो के सुख को अतिक्रमण कर जाता है ।[1]

प्रव्रज्या

जो व्यक्ति ससार से विराग प्राप्त कर श्रमण-जीवन को ग्रहण करने का इच्छुक होता है, वह विना किसी जातिभेद अथवा श्रेणि-भेद के जैनसघ मे सम्मिलित कर लिया जाता है; । केवल साधारण मनुष्य ही श्रमण नही होते है; किन्तु बडे-बडे योद्धा, धनी, मानी तथा ज्ञानी व्यक्ति श्रमण-जीवन स्वीकार करते है; । यह सोचते हुए कि यह सासारिक इन्द्रियभोग व्यर्थ है; जीवन पानी के बुलबुले के समान क्षणस्थायी है, वे अपना समस्त वैभव तथा कुटुम्ब को छोड कर साधु जीवन स्वीकार कर लेते है ।[2]

प्रव्रज्या के कारण—स्थानागसूत्र मे प्रव्रज्या के दश भेद बतलाए गए है ।

१. छन्दा (ससार से स्वत विरक्त होकर प्रव्रज्या धारण करना) ।

२ रोषा (अचानक क्रोध के कारण प्रव्रज्या ले लेना) ।

३ दारिद्र्यद्यूना (दरिद्रता के कारण प्रव्रज्या स्वीकार करना) ।

४ स्वप्ना (संसार से विराग पैदा करने वाला स्वप्न देख कर प्रव्रज्या स्वीकार करना) ।

५ प्रतिश्रुता (पहिले की गई प्रतिज्ञा-पूर्ति के निमित्त प्रव्रज्या लेना) ।

६ स्मारणिका (पूर्वभव की स्मृति के कारण प्रव्रज्या ग्रहण कर लेना) ।

७ रोगिणिका (वीमारी के कारण प्रव्रज्या अगीकार करना) ।

८. अनाहृता (अपमान के कारण प्रव्रज्या अंगीकार करना) ।

---

१ भगवती, १४, ९ ।

२. औपपातिक, १४, ४९ ।

९ देवसंज्ञप्ता (देवताओ द्वारा सम्वोधित किए जाने पर प्रव्रज्या स्वीकार करना ।

१० वत्सानुवंधिका (दीक्षित पुत्र के स्नेह के कारण प्रव्रज्या धारण करना)।[१]

भावनाशील व्यक्ति कभी-कभी छोटा-सा भी निमित्त मिल जाने पर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते थे। उज्जयिनी की रानी देविलासत्तने अपने पति के सिर पर एक सफेद वाल देख कर उसे अगुली से मोड कर निकाल दिया। राजा ने उसे देखा और कहा कि वृद्धावस्था का दूत आ गया है। उसने उसे सोने की पेटी मे वन्द किया, रेशमी वस्त्र से उसे बाँध कर सारे नगर में घुमाया। इसके वाद अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर उसने यह घोषणा की कि हमारे पूर्वपुरुष सफेद वाल होने से पहले ही प्रव्रजित हो जाते थे; अत. मैं भी प्रव्रज्या स्वीकार करता हूँ ।'[२]

कभी-कभी तो अतितुच्छ कारण भी प्रव्रज्या-ग्रहण के लिए पर्याप्त होता था। भरत ने अपनी अंगुली को मुद्रिकाशून्य अतएव अमनोज्ञ देख कर ससार से वैराग्य प्राप्त किया और दीक्षा ग्रहण की।[३] राजा दुम्मुह ने इन्द्र-ध्वज को गिरते देखा और उन्हे वैराग्य हो गया।[४] अरिष्टनेमि ने पशुओ को वन्धन में देखा और उनकी हिंसा मे खुद निमित्त न वन जाय; इस कारण तथा संसार की अनित्यता का ज्ञान कर प्रव्रज्या धारण की।[५]

निम्नोक्त प्रकार के व्यक्ति प्रव्रज्या धारण नही कर सकते थे—वच्चे, वृद्ध, नपुंसक, आलसी, डरपोक, वीमार, डाकू, राजा के शत्रु, पागल, अन्धे, दास, मूर्ख, ऋणी, अंगहीन, वलात्धर्म-परिवर्तन करने वाले, गर्भिणी स्त्री तथा नवयुवती।[६]

---

१ स्थानांग, १०, ७१२, पृ० ४५९।

२ आवश्यकचूर्णि, २, पृ० २०२।

३ उत्तराध्ययन टीका, १८, पृ० २३२ अ

४ वही, ९, पृ० १३६।

५. वही, ९, पृ० १२६, फुट नोट।

६. स्थानांग ३, २०२, पृ० १५४।

निष्क्रमणसत्कार—प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले व्यक्ति का प्रव्रज्या-महोत्सव (निष्क्रमणसत्कार) बहुत ही समारोहपूर्वक मनाया जाता था। राजा, राजकीय जन तथा प्रजाजन इस कार्य मे सम्मिलित होते थे। राजालोग प्रजा को दीक्षित होने के लिए उत्साहित किया करते थे। राजा कृष्ण वासुदेव ने घोषणा की थी कि कोई भी राजा, राज्य का उत्तराधिकारी, रानी, राजकुमार, राज्य, का प्रधान, योद्धा, कुटुम्ब का प्रधान, ग्राम का मुखिया धनी पुरुष, श्रेष्ठी, सेनाध्यक्ष, तथा व्यापारियो का प्रधान आदि यदि प्रव्रजित होना चाहता है तो वह स्वय उन लोगो के कुटुम्ब के पालन का उत्तरदायित्व ग्रहण करने को तैयार है।[1]

प्रव्रज्या कमलसरोवर अथवा किसी पवित्र देवमन्दिर के निकट दी जाती थी। इस कार्य के लिए कोई शुभ दिन चुन लिया था। चतुर्थी तथा अष्टमी इस कार्य के लिए अनुपयुक्त माने जाते थे।[2] प्रव्रज्या-धारण के पूर्व अपने माता-पिता और सरक्षक से प्रव्रज्या ग्रहण करने की आज्ञा प्राप्त कर लेना आवश्यक था। प्रायः संरक्षक लोग दीक्षा ग्रहण करने के इच्छुक पुरुप अथवा स्त्री को आचार्य के समक्ष भिक्षारूप मे भी भेट कर दिया करते थे।[3]

नायाधम्मकहाओ मे राजकुमार मेघ के प्रव्रजित होने का वर्णन है।[4] भगवान् महावीर का उपदेश सुन कर मेघकुमार अपने घर वापिस आए और माता-पिता से दीक्षा लेने की आज्ञा माँगी। जव मेघकुमार की मा ने पुत्र के प्रव्रज्याग्रहण के विषय मे सुना तो वह दुःख से व्याकुल हो कर मूर्छित हो गई। इसके बाद माता-पिता ने उसे प्रव्रज्या ग्रहण करने से रोकने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु राजकुमार अपने विचार से थोडा भी विचलित नही हुआ। इसके बाद बाजार (कुत्तियावण) से वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि धर्मोपकरण मंगाये गये। एक नाई (कासावय) बालो को काटने के लिए बुलाया गया। इसके बाद मेघकुमार को स्नान कराया गया। उसका शरीर चन्दन से लिप्त किया

---

१ नायाधम्मकहाओ ५, पृ० ७१।
२ वृहत् कल्पभाष्य ४१३।
३ नायाधम्मकहाओ १, ३१ तथा अन्तगडदसाओ ५ २८।
४ वही १, २६-३२, पृ० २४-३४।

गया तथा उसे सुन्दर वस्त्र और आभूषणो से सुज्जित किया गया। इसके बाद वह शिविका मे बैठा। उसके दाहिनी ओर माता तथा बाँई ओर धर्मोपकरण ले कर उपमाता (धाय) बैठी। मेघकुमार गुणशीलक चैत्य पर भगवान् महावीर के निकट गए तथा अपने हाथो से पंचमुष्टि केशलोच कर महावीर के समक्ष उपस्थित हुए और तीन बार उनकी प्रदक्षिणा कर स्तुति तथा पूजा की। महावीर ने मेघकुमार को प्रव्रजित कर स्वीकार किया और उसे उपदेश दिया कि तुम्हे अब यत्ना से चलना है, खड़े होना है, बैठना है, सोना है, खाना है, बोलन आदि है।

श्रमण अवस्था के भेद

दीक्षाकाल गुण, आयु आदि की अधिकता तथा अल्पता की अपेक्षा साधु के दो भेद किए गए है—शैक्ष तथा स्थविर। जो श्रमण किसी आचार्य के निकट शिक्षा (उपदेश) ग्रहण कर साधुजीवन की प्रव्रज्या धारण करता था, उसे शैक्ष कहा जाता था। शैक्ष का अर्थ है—शिक्षार्थी नवदीक्षित या अल्प अवस्था वाला साधु।

शैक्ष के तीन भेद है—उत्कृष्ट, मध्यम तथा जघन्य। जो श्रमण आचार्य के निकट सात दिन-रात तक शिक्षा ग्रहण करके महाव्रत स्वीकार करता था, वह जघन्य शैक्ष कहलाता था। जो चार मास की शिक्षा के बाद महाव्रत स्वीकार करता था, वह मध्यम शैक्ष कहलाता था। इसी प्रक र जो छह मास की शिक्षा के बाद महाव्रत स्वीकार करता था, वह उत्कृप्ट शैक्ष कहलाता था। इस छह माह की सीमा का उल्लघन नही किया जाता था। अर्थात् छह माह की शिक्षा ग्रहण के बाद श्रमणदीक्षा स्वीकार करना अनिवार्य था।

शैक्ष के विपरीत स्थविर होता था। स्थविर शब्द का अर्थ है वृद्ध, दीर्घ अवस्था वाला साधु।

स्थविर के तीन भेद हैं—१ जातिस्थविर, २ श्रुतस्थविर ३ पर्यायस्थविर।

जाति का अर्थ है जन्म, जो श्रमण जन्म की अपेक्षा अन्य श्रमणो से वृद्ध होता था, वह जातिस्थविर कहलाता था। श्रुत का अर्थ है-आगम। जो श्रमण अन्य श्रमणों की अपेक्षा आगमज्ञान मे वृद्ध होता था, वह श्रुत-

स्थविर कहलाता था। पर्याय का अर्थ है प्रव्रज्या-ग्रहण। जो श्रमण प्रव्रज्याग्रहण की अपेक्षा अन्य श्रमणो से वृद्ध होता था, वह पर्याय-स्थविर कहलाता था।[1]

श्रमण निग्र्ंथ के पाच भेद किए गए है—1 पुलाक २ वकुश ३ कुशील ४ निग्र्ंथ ५ स्नातक।

श्रमणजीवन के मूल गुणों तथा उत्तरगुणो मे परिपूर्णता प्राप्त न करके भी जो वीतरागप्रणीत आगम मे कभी अपनी श्रद्धा शिथिल नही होने देता, वह पुलाक है।

जो शरीर तथा उपकरण (वस्त्र-पात्र-रजोहरण आदि) के संस्कारों मे लीन रहता हो, सिद्धि तथा कीर्ति चाहता हो और सुखशील हो, वह वकुश है। वकुश निर्गथ दो प्रकार के होते है—उपकरणवकुश और शरीर-बकुश। जो उपकरणो मे आसक्त होने के कारण नाना प्रकार के वहु-मूल्य और अनेक विशेपतायुक्त उपकरणो का संग्रह करता है तथा हमेशा उनकी सजावट आदि मे लीन रहता है, वह उपकरणवकुश है। जो शरीर मे आसक्त होने के कारण उसकी शोभा के निमित्त उसका संस्कार करता रहता है, वह शरीरवकुश है।

कुशील के दो भेद है—प्रतिसेवनाकुशील तथा कषायकुशील। जो इन्द्रियो का वशवर्ती हो, वह प्रतिसेवनाकुशील है। जो तीव्र कषाय के वश न हो कर कदाचित केवल मन्द कषाय के वशीभूत हो जाए, वह कषाय-कुशील है।

जिसमे सर्वज्ञता न होने पर भी रागद्वेष का अत्यन्त अभाव हो; और केवल अन्तर्मुहूर्त के वाद ही जिसको सर्वज्ञता प्रकट होने वाली हो, वह निग्र्ंथ है।

जिसमे सर्वज्ञता प्रकट हो चुकी हो, वह स्नातक है।[2]

---

१. स्थानाग, १५९, (अभयदेववृत्ति, पृ० १२३)।

२ स्थानाग ४४५ (अभयदेववृत्ति पृ० २१९) तथा वही १५८ पृ० १२३-१२५।

वैयावृत्य के प्रकरण मे साधु के १० भेद किए गए है[1]—

१. आचार्य २ उपाध्याय ३. स्थविर ४ तपस्वी ५. ग्लान ७ शैक्ष ७ कुल ८ गण ९. संघ १० सार्धमिक।

मुख्य रूप से जिसका कार्य व्रत और आचरण ग्रहण कराने का है, वह आचार्य है। जिसका मुख्य कार्य श्रुताभ्यास कराने का है, वह उपाध्याय है। जो दीक्षा आयु तथा गुणो मे आपेक्षिक रूप से वृद्ध है, वह स्थविर कहलाता है। जो महान और उग्र तप करने वाला है, वह तपस्वी है। जो रोग आदि से क्षीणशरीर हो, वह ग्लान है, जो नवदीक्षित हो कर शिक्षण प्राप्त करने के लिए तत्पर हो वह शैक्ष है। एक ही दीक्षाचार्य का शिष्य-परिवार कुल कहलाता है। पृथक्-पृथक् आचार्यो के शिष्यरूप साधु यदि परस्पर सहाध्यायी हो तो उनका समुदाय गण कहलाता है। एक ही आचार्य के अनुशासन मे रहने वाले श्रमणो का समुदाय संघ कहलाता है। ज्ञान आदि गुणो मे समान अथवा एक ही धर्म, सम्प्रदाय को मानने वाले सार्धमिक कहलाते है।

समवायाग मे शवल साधु (चरित्रभ्रष्ट) के २१ प्रकार वताए गए है।[2]

१ हस्तक्रिया द्वारा कामोन्माद शान्त करने वाला।
२ मैथुनसेवन मे आसक्त।
३ रात्रि-भोजन करने वाला।
४ सदुष्ट आहार पुन: पुनः ग्रहण करने वाला।
५ शय्यातर (आश्रयस्थानदाता) के यहाँ से आहार ग्रहण करने वाला।
६ साधु के निमित्त से बनाये हुए, खरीदे गए तथा लाए गए भोजन को ग्रहण करने वाला।
७ दिन मे बार बार भोजन करने वाला।
८. छह माह के भीतर एक श्रमणसघ को छोड़ अन्य संघ मे जाने वाला।
९ एक माह के भीतर तीन बार उदकलेप (नाभिप्रमाण जलावगाहन) करने वाला।

---

१. स्थानाग, ७१३, पृ० ४४९।
२ समवायाग २१।

१०. एक माह में तीनवार मायास्थान का सेवन करने वाला।

११ राजपिण्ड का सेवन करने वाला।

१२ स्वेच्छानुसार प्राणातिपात करने वाला।

१३. ,, मृषावाद करने वाला।

१४. ,, अदत्तादान करने वाला।

१५ ,, व्यवधानरहित पृथ्वी पर स्थान, आसन, कार्योत्सर्ग तथा स्वाध्यायादि करने वाला।

१६. सचित्तपृथ्वी अथवा शिला पर एवं कीटयुक्त काष्ठ पर स्थान, शयन तथा आसन करने वाला।

१७ जीवसहित, बीजसहित तथा हरितवनस्पतिसहित स्थान पर आसनादि करने वाला।

१८ स्वेच्छानुसार मूल, कन्द, त्वचा, प्रवाल, पुष्प, फल, हरितशाकादि का भोजन करने वाला।

१९ एक वर्ष के भीतर १० बार उदकलेप करने वाला।

२० एक वर्ष के भीतर १० बार मायास्थान का सेवन करने वाला।

२१ शीतल जल से व्याप्त हाथो द्वारा भोजन ग्रहण करने वाला।

श्रमणधर्म

अंगशास्त्र मे जैन-साधु की जीवन-चर्या का अतीव विराट् एवं तलस्पर्शी वर्णन है। वास्तव मे समस्त अंगशास्त्र का केन्द्रबिन्दु श्रमण जीवन ही है। श्रमणधर्म मे महाव्रत का अत्यधिक महत्व है; क्योकि श्रमण की समस्त जीवनचर्या का मुख्य उद्देश्य महाव्रतो की पूर्ण साधना है। श्रमणधर्म के रूप मे जिन समिति गुप्ति, धर्म, परोपहजय, संयम, तप तथा प्रतिमाओ का निर्देश किया गया है, वे सब महाव्रत की साधना के ही अंग है। महावीर ने केवलज्ञान प्राप्त करने के वाद सबसे प्रथम श्रमणो के महाव्रतो का ही उपदेश दिया था।[1]

---

१. आचाराग २, १५, २९।

महाव्रत—हिंसादि पाच पापो से सम्पूर्ण विरत होना महाव्रत है। उसके पाच भेद तथा २५ भावनाएं है।[1]

महाव्रत के पाच भेद इस प्रकार है—१. सर्वप्राणातिपातविरमण २ सर्वमृषावादविरमण ३. सर्वअदत्तादानविरमण ४ सर्वमैथुनविरमण ५ सर्वपरिग्रहविरमण।

१ **सर्वप्राणातिपातविरमण**—समस्त जीवो की हिंसा का जीवन-पर्यन्त त्याग करना सर्वप्राणातिपातविरमण है। इस व्रत का धारक श्रमण मन वचन तथा काया से किसी प्राणी की हिंसा न स्वयं करता है न दूसरो से कराता है और न हिंसा-कार्य मे किसी प्रकार का अनुमोदन ही करता है। इस व्रत के निर्दोषपालन के लिए वह सावधानी से गमन करता है, मन, वचन तथा काया के प्रयोग मे बहुत सावधान रहता है और आहार-पानी को अच्छी तरह देखभाल कर ग्रहण करता है।[2]

सर्वमृषावादविरमण—असत्य तथा पीड़ाकारी वचनो के प्रयोग का जीवन-पर्यन्त त्याग करना सर्वमृषावादविरमण है। इस व्रत का धारक श्रमण मन; वचन तथा काया से न स्वयं असत्य बोलता है, न किसी अन्य से बुलवाता है और न असत्यवचनो का किसी प्रकार से अनुमोदन करता हे। इस व्रत के निर्दोप पालन के लिए श्रमण बोलने से पहिले बहुत अच्छी तरह विचार कर लेता है; क्रोध, लोभ, भय तथा हास्य के वश बोलने का भी त्याग कर देता है, क्योकि इनमे से किसी एक के भी वश हो कर असत्य बोलना संभव है।[3]

सर्वअदत्तादानविरमण—विना दी हुई वस्तु के ग्रहण का जीवन-पर्यन्त त्याग करना सर्वअदत्तादानविरमण है। इस व्रत का धारक श्रमण मन, वचन तथा काया से विना दी हुई वस्तु को न स्वय ग्रहण करता है, न दूसरो को ग्रहण करवाता है और न इस कार्य मे किसी भी प्रकार की अनुमोदना ही करता है। इस व्रत के निर्दोष पालन के लिए वह भिक्षा मे प्राप्त भोजन आचार्य को दिखा कर सेवन करता है; जीवनो-

---

१ समवायाग २५।

२ आचाराग २, १५ (१) पृ० २०३।

३. वही २, १५ (२) पृ २०४-२०५।

पयोगी वस्तुओं की परिमित मात्रा में तथा बहुत कम बार (दफा) याचना करता है।[१]

सर्वमैथुनविरमण—देव, मनुष्य तथा तिर्यञ्च-सम्बन्धी मैथुन का जीवनपर्यन्त त्याग करना सर्वमैथुनविरमण है। इस व्रत का धारक श्रमण मन, वचन तथा काया से किसी भी प्रकार के मैथुन का सेवन न स्वयं करता है, न दूसरों से करता है और न इस कार्य में किसी प्रकार की अनुमोदना ही करता है। इस व्रत के निर्दोष पालन के लिए वह स्त्रीसम्बन्धी विकथा नहीं करता, स्त्रियों के मनोहर अंगों को नहीं देखता, स्त्रियों के साथ पूर्वानुभूत कामक्रीडा का स्मरण नहीं करता, परिमाण से अधिक तथा कामोद्दीपक आहार ग्रहण नहीं करता और स्त्री, मादा पशु या नपुंसक से संसक्त आसन पर नहीं बैठता।[२]

सर्वपरिग्रहविरमण—संसार की सचित्त, अचित्त, मिश्र, विद्यमान या अविद्यमान किसी भी वस्तु में ममत्त्वबुद्धि का आजीवन त्याग करना सर्वपरिग्रहविरमण है। इस व्रत का धारक श्रमण, मन, वचन तथा काया से किसी भी वस्तु में ममत्त्वबुद्धि न स्वयं रखता है और न दूसरों से रखाता है और न इस कार्य में किसी प्रकार का अनुमोदन ही करता है। इस व्रत के निर्दोषपालन के लिए वह मनोहर शब्द, रूप, रस, गंध, तथा स्पर्श में आसक्ति का पूर्ण त्याग करता है।[३]

समिति तथा गुप्ति—श्रमणजीवन की आवश्यक क्रियाओं में सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करना समिति है। कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रिया का सभी प्रकार से निग्रह करना गुप्ति है। गुप्ति में अतिक्रिया का निषेध तथा समिति में सत्क्रिया का प्रवर्तन मुख्य है। समवायांग में ५ समिति तथा ३ गुप्ति, इन ८ को, प्रवचन—मातर, कहा गया है, क्योंकि ये द्वादशांगरूप प्रवचन के आधार-भूत संघ तथा श्रमण के लिए माता की तरह हितकारी है।[४]

---

१ वही २, १५ (३) पृ० २०५-२०७

२ आचारांग २, १५ (४), पृ० २०७-२०८।

३ वही २, १५ (५), पृ० २०८-२१०।

४. समवायांग ८, (अभयदेवसूरिवृत्ति पृ० १३-१४)।

समिति—समिति के पाँच भेद है[1]—1. ईर्य्यासमिति, २ भाषासमिति ३. एषणासमिति, ४. आदानभाण्डामत्रनिक्षेपणासमिति ५. उच्चार-प्रस्रवणखेलसिंघाणजल्लपरिष्ठापन-समिति ।

किसी भी जन्तु को क्लेश न हो, इस कारण सावधानीपूर्वक चलना ईर्यासमिति है। सत्य, हितकारी, परिमित और सदेहरहित बोलना भाषासमिति है। भिक्षा से सम्बन्धित ४२ दोषो का निराकरण करते हुए धर्मपालन के लिए शुद्ध तथा सात्विक भोजन ग्रहण करना एषणासमिति है। वस्तुमात्र को भलीभाँति देखभाल कर एवं प्रमार्जित कर उठाना या रखना आदान-भाण्डामत्रनिक्षेपणासमिति है। जीवजन्तुरहित निरवद्य स्थान पर अच्छी तरह देखभाल कर मल, मूत्र, नासिका-मल थूँक आदि का परिष्ठापन करना (डालना) उच्चारप्रस्रवणखेलसिंघाणजल्लपरिष्ठापन-समिति है।

गुप्ति—गुप्ति के तीन भेद है[2]—1. कायगुप्ति २. वचनगुप्ति तथा ३. मनोगुप्ति।

किसी वस्तु के लेने, रखने अथवा उठने, बैठने, चलने आदि मे कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेकपूर्वक शारीरिक व्यापार का नियमन करना कायगुप्ति है। बोलने के प्रत्येक प्रसंग पर या तो वचन पर नियंत्रण करना अथवा मौन धारण कर लेना वचनगुप्ति है। दुष्ट सकल्प अथवा मिश्रित (अच्छे बुरे) सकल्प का त्याग करना और अच्छे सकल्प का सेवन करना मनोगुप्ति है।

धर्म—साधु को जो श्रमणधर्म मे धारण (स्थिर) करते है, वे धर्म है। इनकी संख्या 1० है[3]—1 क्षान्ति, २. मुक्ति, ३ आर्जव, ४ मार्दव, ५ लाघव ६ सत्य, ७ सयम, ८. तप, ९. त्याग, 1० ब्रह्मचर्यवास।

क्षान्ति का अर्थ है—सहनशीलता, अर्थात क्रोध को उत्पन्न न होने देना अथवा उत्पन्न हुए क्रोध को विवेकबल से दबा देना। हृदय मे लोभकषाय का अभाव होना मुक्ति-निर्लोभता है। भाव की विशुद्धि अर्थात विचार, भाषण तथा प्रवृत्ति की एकरूपता सरलता ही आर्जव है। चित्त मे मृदुता और बाह्यव्यवहार मे नम्रवृत्ति

---

१ वही ५।

२ समवायाग ३।

३ वही १० तथा स्थानाग ७१२, पृ० ४४६।

होना मार्दव है। इस धर्म के आचरण के लिए जाति, कुल, बल, तप, लाभ, विद्या, रूप, ऐश्वर्य आदि के मद का त्याग करना आवश्यक है। वाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर अपनी आत्मा में लघुता हलकेपन का अनुभव करना लाघव है। प्राणिमात्र के लिए हित, मित, प्रिय तथा यथार्थ वचन बोलना सत्य है। मन, वचन तथा काया का नियमन अर्थात विचार-वाणी और गतिस्थिति आदि मे यतनाचार मनवचनकाय-नियत्रण का अभ्यास करना सयम है। मलिनवृत्तियो को निर्मूल करने के निमित्त अपेक्षितवल की साधना के लिए जो आत्म-दमन (इच्छानिरोध) किया जाता है, वह तप है। वस्तुओ मे मूर्च्छावुद्धि का त्याग करना त्याग है। वाह्य कामभोगो से अपना चित्त हटा कर ब्रह्म (आत्मा) मे रमण करना ब्रह्मचर्यवास है।

परिषहजय—स्वीकृत धर्ममार्ग से चलित न होने, स्थिर रहने और कर्मबन्धन के क्षय के लिए जो जो स्थिति समभावपूर्वक सहन करने योग्य है, उसे परिषह कहते है। श्रमण के लिए इन परिषहो पर विजय प्राप्त करना अत्यावश्यक है। यद्यपि परिषह संक्षेप मे कम और विस्तार से अधिक भी कल्पित किए जा सकते है, तथापि त्याग को विकसित करने के लिए जिनका सहन करना विशेष आवश्यक है, वे ही २२ परिषह आगम मे गिनाए गए है।[1]

१ दिगिछा (भूख की वाधा), २ पिपासा (प्यास की वाधा), ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दशमशक (डॉस, मच्छर, जूं, खटमल मक्खी आदि की वाधा), ६ अचेल (वस्त्राभाव या वस्त्राल्पता के कारण उत्पन्न वाधा), ७ अरति (कठिनाइयो के कारण धर्ममार्ग मे अरुचि होना), ८ स्त्री (विजातीय लिग के प्रति आकर्षण), ९ चर्या (पद-विहार), १०. नैषेधिकी (सोपद्रव अथवा निरुपद्रव स्वाध्यायभूमि), ११ शय्या (सुखद अथवा दुखद स्थान तथा विछौना), १२ आक्रोश (दुर्वचन), १३. वध (लकडी आदि के द्वारा पीटा जाना), १४ याचना (भिक्षा-मागना) १५ अलाभ (भोजनादि का प्राप्त न होना) १६ रोग, १७ तृणस्पर्श (तीक्ष्णतृणादि का स्पर्श) १८ जल्ल (शरीर तथा वस्त्रादि पर पसीने या मेल की वाधा), १९ सत्कार-

१. समवायाग, २२, पृ० ३८-३९ तथा उत्तराध्ययन, २, परिषहाध्ययन।

पुरस्कार (सम्मान मे गर्भित और अपमान मे दुखित होना) २० प्रज्ञा (चमत्कारिणी वुद्धि के होने पर गर्व तथा उसके अभाव मे खेद), २१ अज्ञान (तपस्यादि करने पर भी ज्ञान-प्राप्ति न होना), २२ अदर्शन (अनेक मतो के श्रवण से स्वधर्म मे श्रद्धा का अस्थिर हो जाना)।

संयम—आत्मा का शुद्धावस्था मे स्थिर रहना, सयम या चारित्र है। परिणामो की विशुद्धि के तारतम्य (न्यूनाधिकता) की अपेक्षा से संयम के ५ भेद है[1]—१ सामायिक, २ छेदोपस्थापना ३ परिहारविशुद्धि ४ सूक्ष्मसम्पराय ५ यथाख्यात।

समभाव मे स्थिर रहने के लिए समस्त सावद्य (सदोष) प्रवृत्तियो का त्याग करना सामायिक है। प्रथम छोटी दीक्षा लेने के वाद विशिप्ट श्रुत का अभ्यास कर चुकने पर विशेप शुद्धि के निमित्त जो जीवनपर्यन्त के लिए पुन दीक्षा ली जाती है अथवा दीक्षा में दोप उत्पन्न हो जाने पर उसका छेद कर फिर नवीनरूप मे जो दीक्षा का आरोपण किया जाता है, वह छेदोपस्थापना है। जिसमे विशिष्ट प्रकार के तप प्रधान आचार का पालन किया जाता है, वह परिहारविशुद्धि है। जिसमे क्रोधादि कपायो का उदय तो नही होता, केवल लोभ का अंश अतिसूक्ष्मरूप मे रहता है, वह सूक्ष्मसम्पराय है। जिसमे किसी भी कपाय का उदय विल्कुल नही रहता, वह यथाख्यात अर्थात वीतरागसंयम है।

तप—वासनाओ को क्षीण करने तथा समुचित आध्यात्मिकवल की साधना के लिए शरीर, इन्द्रियो और मन को जिन-जिन उपायो से तपाया जाता है, वे सभी तप है।

तप के दो भेद है—बाह्यतप तथा आभ्यन्तरतप।

बाह्यतप—बाह्यतप ये छह भेद है—१ अनशन, २. उनोदरी, ३ वृत्तिसक्षेप, ४ रसपरित्याग, ५ कायक्लेश, ६ प्रतिसंलीनता।

मर्यादित समय तक या जीवन के अन्त तक सव प्रकार के भोजन-पान का त्याग करना अनशन है। भूख से कम खाना उनोदरी तप है। विविध भोज्य वस्तुओ के सेवन के लोभ को कम करना वृत्तिसक्षेप है। घी, दूध आदि तथा मद्य-मधु आदि विकार पैदा करने वाले विग्गइय रसो

---

१. स्थानाग, ४२८, पृ० ३०६, ३०७।

का त्याग करना रस-परित्याग है। धर्मसाधना के लिए विविध आसनादि द्वारा समभावपूर्वक शारीरिक कष्ट सहना कायक्लेश हे। विपयो व कपायो से आत्मरक्षा करने हेतु वाधारहित एकान्त स्थान मे रहना प्रतिसलीनता है।[1]

कायक्लेश के ७ भेद है।[2]

१ स्थानायतिक (शरीर को भूमि पर पूर्णरूप से फैला देना)
२ उत्कटुकासनिक (उकडू वैठना)
३ प्रतिमास्थायी (प्रतिमा की तरह निश्चल रहना)
४ वीरासनिक (सिहासन पर वैठे हुए के समान आसन लगाना)।
५. नैपधिक (पैरो को वरावर करके रखना)
६ दडायतिक (दड की तरह देह को फैलाना)
७ लगण्डशायी (इस प्रकार शयन करना कि पीठ पृथ्वी को न छुए)

आभ्यन्तरतप—जिन तपो मे मानसिक क्रिया की प्रधानता हो और जो मुख्यरूप से वाह्यद्रव्यो की अपेक्षा न रखने के कारण दूसरो को न दिख सके, वे आभ्यन्तरतप है।

आभ्यन्तरतप के छह भेद है[3]—१ प्रायश्चित्त, २. विनय ३ वैया-वृत्य ४. स्वाध्याय ५ ध्यान ६ उत्सर्ग।

प्रायश्चित्त—धारण किए हुए व्रत मे प्रमादजनित दोपो का जिससे शोधन किया जा सके; वह प्रायश्चित्त है। इसके छह भेद है—१ आलोचना २ प्रतिक्रमण, ३ तदुभय, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप।

गुरु के समक्ष शुद्धभाव से अपने अपराध को प्रकट कर देना, आलोचना है। दंडग्रहण कर गत अपराध से निवृत्त होना तथा भविष्य मे अपराध न हो, ऐसी सावधानी रखना प्रतिक्रमण है। एक ही अपराध के लिए आलोचना तथा प्रतिक्रमण करना, तदुभय है। भोजन करते समय यदि अभोज्यवस्तु प्राप्त हो जाय, तो समझ कर उसका त्याग

---

१. समवायाग, ६
२ वही, ६।
३ स्थानाग, १९६, ४८९।

कर देना विवेक है। एकाग्रतापूर्वक शरीर और वचन के व्यापारो को छोड़ देना, व्युत्सर्ग है। अनशनादि वाह्यतप करना तप है।

विनय—ज्ञानादिसद्‌गुणो मे वहुमान रखना, विनय है। इसके सात भेद है[1]—१ ज्ञानविनय, २ दर्शनविनय, ३ चारित्रविनय ४ मनोविनय, ५ वचनविनय, ६. कायविनय, ७ उपचारविनय।

ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञानविनय है, तत्व की यथार्थप्रतीतिरूप सम्यगदर्शन से विचलित न होना, दर्शनविनय है। सामायिकादि चारित्र मे चित्त का समाधान रखना चारित्रविनय हे। उपर्युक्त तीनो प्रकार के विनयो को मन वचन तथा कायपूर्वक विनय करना; क्रमश मनोविनय, वचनविनय तथा कायविनय है। अपने से ज्ञान—दर्शन-चारित्र मे आगे वढे हुए का आदर करना उपचारविनय है।

वैयावृत्य—योग्य साधनो को जुटा कर अथवा अपने आपको काम मे लगा कर सेव्यपुरुपो की सेवाशुश्रूषा करना वैयावृत्य है। इसके १० भेद है—१ आचार्यवैयावृत्य, २ उपाध्यायवैयावृत्य, ३ स्थविरवैयावृत्व ४ तपस्वीवैयावृत्य, ५ ग्लानवैयावृत्य, ६ शैक्षवैयावृत्य, ७ कुलवैयावृत्य, ८.गणवैयावृत्य, ९ सघवैयावृत्य, १० सार्धामिकवैयावृत्य।

"श्रमण-जीवन के भेद" नामक प्रकरण मे कहे हुए आचार्य आदि श्रमणो एव कुल, गण, सघ, व साधर्मी की सेवाशुश्रूषा करना क्रमश· आचार्यवैयावृत्य आदि है।

स्वाध्याय—ज्ञानप्राप्ति के लिए आगम आदि का विविध प्रकार से अध्ययन करना स्वाध्याय हे। इसके पाँच भेद है[3]—१ वाचना, २ पृच्छना, ३ परिवर्त्तना, ४ अनुप्रेक्षा, ५ धर्मकथा।

सूत्र या ग्रन्थ का अर्थसहित पाठ लेना वाचना है। शका दूर करने के लिए अथवा विशेष निर्णय के लिए पूछना पृच्छना है। पढे हुए पाठ की उच्चारणशुद्धिपूर्वक आवृत्ति करना परिवर्त्तना है। आगम-पाठ या उसके अर्थ पर विशेप चितन करना अनुप्रेक्षा है। जानी हुई वस्तु का रहस्य समझाना, व्याख्या करना या धर्मोपदेश देना धर्मकथा है।

---

१. स्थानाग, ५८५।

२ वही, ७१२।

३. स्थानाग, ४६५।

ध्यान—एक विषय मे अन्त करण की वृत्ति को टिकाना-स्थापित करना ध्यान है। इसके चार भेद है[१]—१ आर्तध्यान, २. रौद्रध्यान, ३ धर्मध्यान, ४. शुक्लध्यान।

दु ख मे पीडित होने पर वारवार शोक, विलाप आदि करना, चिन्ताग्रस्त हो जाना आर्तध्यान है। हिसादि पापो को क्रियान्वित करने का विचार करना रौद्रध्यान है धर्म के सम्वन्ध मे विविध प्रकार से चिन्तन करना धर्मध्यान है। आठ प्रकार के कर्म-मल से रहित आत्मा एवं आत्मा से सम्वन्धित ज्ञानादि गुणो, शक्तियो आदि का शुद्ध चिन्तन करना, शुक्लध्यान है। इन चारो मे प्रारभ के दो ध्यान संसार के कारण होने से हेय तथा अन्त के दो, मुक्ति के कारण होने से उपादेय हैं।

उत्सर्ग—वाह्य तथा आभ्यन्तर उपधि (ग्रन्थि) का त्याग करना उत्सर्ग है। धन, धान्य, मकान, क्षेत्रादि वस्तुएँ वाह्य उपधि है तथा क्रोध, मान, माया, लोभादिरूप मनोविकार आभ्यन्तर उपधि है।

प्रतिमा—विशिष्ट संहनन (शरीरयोग्यता) वाले भिक्षुओ की प्रतिज्ञाएँ प्रतिमा है। वे १२ प्रकार की है[२]—१ मासिकी, २ द्विमासिकी, ३ त्रैमासिकी; ४ चतुर्मासिकी, ५. पचमासिकी, ६. षाण्मासिकी, ७ सप्तमासिकी, ८ प्रथमा सप्तरात्रिन्दिवा, ९. द्वितीया सप्तरात्रिन्दिवा १० तृतीया सप्तरात्रिन्दिवा, ११. अहोरात्रिकी, १२. एकरात्रिकी।

प्रथम प्रतिमा—प्रथमप्रतिमाधारी भिक्षु को एकदत्ति आहार और एकदत्ति जल लेना चाहिए। साधु के पात्र मे दाता द्वारा दिये जाने वाले आहार और जल की धारा जव तक अखंड बनी रहे, उसका नाम दत्ति है। धारा खंडित होने पर दत्ति की समाप्ति हो जाती है। इस प्रतिमा का काल एकमास है।

द्वितीय-सप्तम प्रतिमा—दो दत्ति आहार की तथा दो दत्ति पानी की लेना द्वितीयप्रतिमा है। इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ, पंचम, पष्ठ तथा सप्तम प्रतिमाओ मे क्रमश ३, ४, ५, ६, और ७ दत्ति आहार

---

२ वही, २४७

३. समवायाग, १२।

की और उतनी ही दत्ति पानी की ग्रहण की जाती है। प्रत्येक प्रतिमा का समय एक एक मास का है केवल दत्तियों की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण ये द्विमासिकी, त्रैमासिकी आदि कही जाती है।

अष्टम प्रतिमा—यह प्रतिमा सात दिन-रात की होती है। इसमे नगर के बाहर, उपवासपूर्वक उत्तानासन (आकाश को ओर मुँह करके सीधा लेटना) अथवा निषद्यासन (पैरो को बराबर करके बैठना) से ध्यान लगाना होता है।

नवमप्रतिमा—यह प्रतिमा भी सात दिनरात की होती है। इसमे नगर के बाहर; उपवासपूर्वक दण्डासन, लगुडासन अथवा उत्कटुकासन से ध्यान किया जाता है।

दशमप्रतिमा—यह प्रतिमा भी सात दिनरात की होती है। इसमे नगर के बाहर, उपवासपूर्वक गोदोहासन, वीरासन अथवा आम्रकुब्जासन से ध्यान किया जाता है।

एकादशप्रतिमा—यह प्रतिमा एक दिनरात की होती है। इसमे उपवासपूर्वक नगर के बाहर दोनो हाथो को घुटने की ओर लंबा करके दण्डायमान रूप मे खडे होकर कायोत्सर्ग किया जाता है।

द्वादशप्रतिमा—यह प्रतिमा केवल एक रात्रि की है। इसमे उपवासपूर्वक नगर के बाहर श्मशान मे या शून्यस्थान में खडे हो कर, मस्तक झुका कर, एक वस्तु पर दृष्टि रख कर, निर्निमेष नेत्रो से निश्चलतापूर्वक कायोत्सर्ग किया जाता है।

संल्लेखना तथा मरणोत्तर विधान

संल्लेखना—निरन्तर तपश्चर्या करने से या अतिवृद्धावस्था के कारण अथवा असाध्य रोग के कारण शरीर के कृश, शुष्क, निर्मांस तथा अस्थिचर्ममात्र रह जाने से अथवा अपना आयुष्य निकट जान कर या किसी मित्रदेव द्वारा सावधान करने पर साधक द्वारा अनशन करके शरीर को कृश करने के साथ-साथ विषयो और कषायो को कृश करना संल्लेखना है। अनुत्तरौपपातिकदशाग मे धन्य अनगार के तपश्चरण से उत्पन्न शारीरिक दशा का वर्णन किया गया है[1]—"धन्य अनगार के

---

१ अनुत्तरौपपातिकदशांग, ३

पैर सूखे वृक्ष की छाल, लकडी की खडाऊँ अथवा जीर्ण जूते के समान थे। उनके पैर केवल हड्डी, चमडा तथा नसो से पहिचाने जाते थे, न कि मास-रुधिर से। उनके पैरो की अंगुलियां धूप मे मुरझाई हुई, मूग अथवा उडद की फलियो के समान थी। अनगार धन्य की जंघाएँ काक तथा ढंक पक्षियो की जघाओ के समान निर्मांस हो गई थी। उनके घुटने काक तथा ढँक पक्षियों के संधिस्थानो के समान थे। उनके ऊरु धूप मे मुरझाए हुए प्रियंगु, वदरी, शल्यकी, तथा शाल्मली वृक्ष के प्रवाल के समान थे। धन्य अनगार का कटिप्रदेश ऊँट अथवा वूढे वैल के पैर के समान था। उनका उदर सूखी मशक, अथवा चने भूनने के पात्र के समान था। उनकी पार्श्व-अस्थियाँ ऐसे प्रतीत होती थीं, जैसे वह कई दर्पणो, पाणनामक पात्रो अथवा स्थाणुओ की पंक्ति हो। उनका पृष्ठ-भाग ऐसा मालूम होता था, जैसे कान के आभूपणो, गोल पापाणों अथवा लाख के वने हुए खिलौनो की पंक्ति हो। उनका उरस्थल वाँस के पंखे, ताड़ के पंखे अथवा गाय के चरने के कुण्ड के अधोभाग के समान था। धन्य अनगार की भुजाएँ, माँस तथा रुधिर की कमी से इस प्रकार सूख गई थी, जैसे शमी, वहाय और अगस्तिक वृक्ष की फलियाँ धूप मे सूख जाती है। उनके हाथ सूखे गोवर अथवा वड या पलाश के सूखे पत्तो के समान थे। उनके हाथो की उगलियाँ कलाय, मूँग तथा उड़द की सूखी फलियो के समान थीं। धन्य अनगार की ग्रीवा मास और रुधिर के अभाव से इस तरह दिखाई देती थी, जैसी सुराई, कमण्डलु अथवा किसी ऊँचे मुख वाले पात्र की ग्रीवा हो। उनकी ठोडी-चिवुक भी तुम्वे या हकुव का फल अथवा आम की गुठली जैसा दिखता था। उनके ओठ सूखी जोक अथवा श्लेष्म या मेहदी की गोली के समान प्रभाहीन थे। उनकी जीभ पलाश अथवा वटवृक्ष के सूखे पत्ते के समान थी। अनगार धन्ना की नासिका आम, आमलक या मातुलिग की धूप मे सुखाई गई अतिसूक्ष्म फाक के समान निर्मांस दिखाई पडती थी। उनकी आँखे वीणा के छिद्र अथवा प्रभातकालीन तारे के समान निष्प्रभ मालूम पड़ती थी। उनके कान सूख कर मुरझाए हुए मूली, चिरभटी अथवा करेले के छिलके के समान निर्मांस थे। उनका सिर धूप मे सूखे हुए कोमल तुम्वक, आलू अथवा सेफालक के समान प्रभाहीन प्रतीत होता था।"

जब श्रमण का शरीर तप की आराधना के कारण उपर्युक्त प्रकार से निर्मास एवं प्रभाहीन हो जाता था, तब वह सोचने लगता था कि जब तक मुझमे शक्ति, बल, वीर्य, पुरस्कार, पराक्रम आदि के साथ धृति श्रद्धा, एवं सवेग (विराग) विद्यमान है; तव तक मेरे लिये यही श्रेयकर होगा कि मै किसी धर्माचार्य या गुरु (ज्येष्ठ मुनि) की सरक्षकता (निश्राय) मे सल्लेखना (आमरण अनशन=सथारा, ग्रहण कर शाति पूर्वक मृत्यु को प्राप्त करूं।

संल्लेखना-ग्रहण के लिए आचार्य या गुरु अथवा गीतार्थ बडे साधु की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। आचार्य की अनुमति ले कर श्रमण सर्वप्रथम अपने समस्त साथी श्रमणो से, फिर सघ से व ८४ लक्ष जोवयोनि से अपने पूर्वकृत अपराधो के लिए क्षमायाचना करता है। इसके वाद सल्लेखनालीन साधु की सेवा करने वाले श्रमण के साथ पर्वत आदि किसी एकान्त निर्बाध स्थान मे वह चला जाता है। वहाँ पहुँच कर वह पृथ्वी-शिलापट्टक एव मलमूत्र-प्रक्षेप-भूमि को अच्छी तरह देखभाल कर, झाडपोछ कर दर्भ विछाता है। इसके बाद पूर्व की ओर मुंह करके दर्भ-शय्या पर बैठ कर मस्तक पर अंजलि करके पंचपरमेष्ठियो को नमस्कार करता है और फिर अशन, पान, खादिम तथा स्वादिमरूप चार प्रकार के आहार का जीवन-पर्यन्त त्याग कर देता है। सल्लेखना ग्रहण करने वाले साधु के लिए आवश्यक है कि वह संल्लेखना के अतिचारो (दोषो) से दूर रह कर अपने व्रत का निर्दोष-पालन करे। सल्लेखनाव्रत के पाँच अतिचार निम्नप्रकार बताए गए है—[1]

१ इहलोगाससप्पओगे (मैं मर कर किसी श्रेष्ठी आदि के रूप मे जन्म लूँ, या प्रचुर सुखभोग के साधन प्राप्त हो, ऐसी वाञ्छा करना।)

२ परलोगासंसप्पओगे (मैं मर कर देवता आदि के रूप मे जन्म लूँ, मुझे देवलोक के सुख मिले, इस प्रकार की फलाकाक्षा करना।)

३ जीवियासंसप्पओगे (मेरी जिदगी वहुत लंबी चले, जिससे मै लोगो से मिलने वाली वाहवाही लूट लूँ, या

---

१. उपासकदशाग, १, ६, पृ० १८ (अभयदेवसूरिवृत्ति, पृ० ३१)।

		मेरे कुटुम्बीजनो को मालामाल करता जाउँ, इस प्रकार अधिक जीने की आसक्ति करना।
४	मरणाससप्पओगे	जल्दी मौत आजाय तो इस दुख से पिड छूट जाय, इस प्रकार की मरणाकाक्षा करना)
५	कामभोगासंसप्पओगे	(मै मानवीय या दिव्य कामभोगों को पालूँ या भोग लूँ; ऐसी आकाक्षा करना।)

संल्लेखनाव्रती साधु पूर्वोक्त प्रकार से अशन पान का, १८ पापस्थानो का, चारो कषायो का पूर्ण त्याग कर वैराग्यमग्न एवं आत्मजागरण मे सावधान श्रमण, स्थविर श्रमणो के निकट ११ अगो का स्वाध्याय करता रहता है। अन्य श्रमण पूर्णरूप से उसकी वैयावृत्य करते है। एक दिन वह आत्मध्यान करते करते शान्तिपूर्वक मृत्यु का आलिगन कर लेता है। अन्य स्थविर श्रमण यह जान कर कि साथी श्रमण ने मृत्यु को प्राप्त कर लिया है; उसके भ डोपकरण (वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि) ले कर अपने आचार्य या गुरु के निकट आते है और उन भंडोपकरणो को उनके समक्ष रख कर संल्लेखनाप्राप्त श्रमण की मृत्यु की सूचना देते है।[1]

मरणोत्तर विधान—पूर्वोक्त प्रकार से समाधिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त श्रमण नियम से अनुत्तरविमान नामक स्वर्ग मे देवपद को प्राप्त करता है और अंत वह निर्वाणपद भी प्राप्त कर लेता है।

अनुत्तरोपपातिकदशाग मे ऐसे अनेक श्रमणो का वर्णन है, जिन्होने सल्लेखनापूर्वक मृत्यु का आलिगन किया, अनुत्तरविमानो मे देवपद को प्राप्त किया और अन्त मे सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए। मेघकुमार श्रमण ने संल्लेखनापूर्वक मृत्यु को प्राप्त कर विजय महाविमान मे देवत्व प्राप्त किया और वहाँ पर ३३ सागरोपम की आयु भोग कर वहाँ से च्युत हो कर महाविदेह मे उत्पन्न हो कर सिद्धत्व प्राप्त किया।[2] जालिकुमार १६ वर्ष तक श्रामण्यपर्याय का पालन कर अन्त मे सल्लेखनापूर्वक मृत्यु को प्राप्त हुए और उन्होने विजयविमान मे देवपद को प्राप्त किया। भ० महावीर ने कहा था कि—"श्रमण जालिकुमार महाविदेह क्षेत्र मे जन्म ले कर सिद्धत्व प्राप्त करेगा।"[3]

---

१ नायाधम्मकहाओ, १, ३६, पृ० ४३-४६।
२. वही , १, ३७ पृ० ४६।
३ अनुत्तरोपपातिकदशाग, १।

श्रमण की जीवन-चर्या

भिक्षावृत्ति—भिक्षु क्षत्रिय, वैश्य, ग्वाल, वुनकर आदि किसी भी अनिन्दित व अगर्हित कुल मे भिक्षाचर्या के लिए जा सकता है, किन्तु उसे चक्रवर्ती राजा, राजकर्मचारी तथा राजवंशियो के यहा भिक्षा ग्रहण करने न जाना चाहिए।[१] जिस मार्ग मे गढ, टेकर, गड्ढे, खाई, कोट आदि हों तथा जहाँ भयंकर पशु विचरते हो; उस मार्ग से भिक्षावृत्ति को नही जाना चाहिए।[२] भिक्षावृत्ति को जाते समय साधु को अपने वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि समस्त धर्मोपकरण साथ मे ले जाना चाहिए।[३] भिक्षा माँगने जाते समय साधु को गृहस्थ के घर का दरवाजा उसकी अनुमति के विना तथा विना देखे-भाले नही खोलना चाहिए। यदि किसी जगह भोज (संखडि) हो तो उस ओर साधु को चला कर भिक्षावृत्ति के लिए नही आना चाहिए।[४]

यदि दाता का हाथ या पात्र सूक्ष्म जीव, वीज या वनस्पति आदि सचित्त वस्तु से युक्त है तो उसके हाथ से या पात्र से भोजन नही लेना चाहिए।[५] यदि धान्य, फल, फली आदि भोज्य वस्तु चाकू आदि से काटी हुई नही है तथा अग्नि द्वारा पूर्णरूप से पकाई हुई नही है, उसकी उगने की शक्ति पूर्णतया नष्ट नही हुई है; तो उसे सदोष समझ कर भिक्षु को ग्रहण नही करना चाहिए।[६] भिक्षु आहार ग्रहण करने के वाद उसमे से अच्छा (स्वादिष्ट) आहार सेवन कर ले तथा खराव छोड दे, तो उससे दोष लगता है। अत साधु को अच्छा-बुरा सब भोजन समभाव से स्वीकार कर लेना चाहिए।

आहार-पानी के सबध में भिक्षुओ के सात नियम है। ये नियम सप्तपिण्डैषणाएँ तथा "सप्तपानैषणाएँ" कहलाते हैं। वे इस प्रकार है—

---

४ आचाराग (हि०) २, १, ११, २१, पृ० ६८।
५. वही २, १, २६, २७, ३१ पृ० ६८, ६९।
१ आचाराग (हि०) २, १, १६, २०, पृ० ६९।
२ वही २, १, १३, पृ० ७१।
३ वही २, १, १, पृ० ७३।
४ वही २, १, २, पृ० ७३।
५. वही २, १, ५२-५४ पृ० ७९।
६ वही २, १, ६३ पृ० ८१-८३।

१ भिक्षु, अलिप्त तथा सूखे हाथ अथवा पात्र से दिये हुए निर्जीव अचित्त(प्रासुक) आहार को स्वयं माँग कर या दूसरों के देने पर ग्रहण करे।

२ भिक्षु, लिप्त हाथ अथवा पात्र से दिए हुए अचित्त आहार को ही ले।

३. भिक्षु, शुद्ध तथा भरे हुए पात्र एव हाथ से, हाथ मे अथवा पात्र मे दिया हुआ आहार ग्रहण करे।

४ अचित्त पोहे, होले, धानी आदि जिसमे फेकने का कम और खाने का अधिक निकलता हो तथा जिससे दाता को भी वर्तन धोने आदि का पश्चात्कर्म न करना पडे हो, ऐसा ही आहार भिक्षु ग्रहण करे।

५ जो अचित्त भोजन गृहस्थ ने स्वयं अपने खाने के लिए कटोरी, थाली आदि मे परोस कर रखा हो, भिक्षु उसे ग्रहण करे।

६ जिस निर्जीव भोजन को गृहस्थ ने अपने या दूसरे के लिए कडछी आदि से निकाला हो, उसी का साधु स्वयं माँग कर अथवा दूसरे के देने पर ले।

७ जो भोजन फैंकने योग्य हो, जिसको कोई दूसरा मनुष्य या जानवर न लेना चाहे, उस प्रासुक भोजन को साधु ग्रहण करे।

निवास, मलमूत्रप्रक्षेप तथा शय्या—जैनागमो मे साधुओ के निवास मलमूत्रप्रक्षेप तथा शय्या आदि के विषय मे अनेक प्रकार के नियम वतलाए गए है।

निवास—भिक्षु को ऐसे आवास मे नही ठहरना चाहिए, जो उसके निमित्त से बनाया गया हो, माँगा गया हो अथवा खरीदा गया हो।[1] स्त्री, पशु और नपुसक का जहाँ रात्रिनिवास हो, या गृहस्थका जहाँ प्रतिदिन भोजनादि का आरम्भ—समारम्भ होता हो, ऐसे मकान या कक्ष मे उसे नही ठहरना चाहिए।[2] उसे सराय, बगीचों के

१. आचाराग (हि०) २, २, ६४, पृ० ८५।
२. २, २, ६७, पृ० ८५, ८६।

विश्रामगृहो तथा मठो मे, जहाँ वार-बार साधु आते जाते रहते है, नही ठहरना चाहिए।[१]

भिक्षु को चाहिए कि वह अपने निवास के लिए जीव-जन्तु से रहित, एकान्त, तथा निर्वाध स्थान की गवेषणा करे।

मलमूत्रप्रक्षेप—जीवजन्तु से युक्त, गीली, धूल वाली, कच्ची मिट्टी वाली जमीन पर तथा सचित्त शिला, ढेले, एवं कीडे वाली लकड़ी पर मलमूत्र नहीं डालना चाहिए। जिस जमीन पर गृहस्थ ने मूग उड़द, तिल आदि वोए हो, वहाँ भी भिक्षु को मलमूत्र-परिष्ठापन नही करना चाहिए। आराम, उद्यान, वन, उपवन, देवमंदिर, सभागृह आदि मलमूत्र के लिए निपिद्ध स्थान है। भिक्षु को खुले वाड़े मे या एकान्त जगह में जहाँ कोई देख न सके और जो स्थान जीवजन्तु से रहित हो, वहाँ किसी पात्र मे मलमूत्र करके उसे खुले वाडे अथवा जली भूमि पर या किसी निर्जीव स्थान मे सावधानी से डाल देना चाहिए।[२]

शय्या—भिक्षु, शय्यासंस्तारक (विछौने) के सम्वन्ध मे निम्नोक्त चार नियमो को भलीभाति जान कर इनमे से किसी एक को स्वीकार करे —[३]

१ भिक्षु घास, तिनका, सूखी दूव, पराल, वाँस की खपच्चियाँ, पीपल आदि के पट्टे (फलक) मे से किसी एक का निश्चय करके विछाने के लिए स्वयं याचना करे अथवा दूसरे दे तो उसे स्वीकार करले।

२ ऊपर वताई गई वस्तुओ मे से किसी एक का निश्चय करके, भिक्षु उसे गृहस्थ के घर देख कर विछाने के लिए माँगे अथवा दूसरो के देने पर ले।

३ भिक्षु जिसके मकान मे ठहरे; उसके यहाँ उपर्युक्त कोई वस्तु विछाने को हो तो वह माग ले अथवा गृहस्थ दे तो ले ले; अन्यथा उकड़ू या पल्हथी आदि मार कर बैठा रहे और सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत कर दे।

---

३ वही २, २, ७७, पृ० ८७।

१ आचाराग, २, १०, १६३-१६९, (हि०) पृ० ११८, ११९।

२ वही, २, २, १००-१०२, पृ० ९०, ९१।

४. भिक्षु जिसके यहाँ ठहरे, उसके मकान मे पत्थर या लकड़ी की पट्टी पडी मिल जाए, तो उस पर सो जाय ; अन्यथा उकड़ू या पल्हथी आदि मार कर बैठा रहे और सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत कर दे।

शय्यासंस्तारक (विछौने) के लिए स्थान देखते समय साधु को आचार्य, उपाध्याय आदि तथा बालक, रोगी या अतिथि साधु आदि के लिए स्थान छोड देना चाहिए। सोने के पहिले भिक्षु को मलमूत्र त्यागने के स्थान की अच्छी तरह देखभाल कर लेनी चाहिए। भिक्षु को आवश्यक है कि विछाने की वस्तुओ को काम मे लेने के बाद वह उन वस्तुओं को सावधानी के साथ गृहस्थ को लौटा दे।[1]

वस्त्र—भिक्षु या भिक्षुणी को वस्त्र की आवश्यकता पड़ने पर वह ऊन, रेशम, सन, ताडपत्र, कपास या रेशे के बने हुए वस्त्र की याचना करे। जो भिक्षु बलवान तथा निरोग हो उसे एक ही वस्त्र ग्रहण करना चाहिए। भिक्षुणी चार वस्त्र ग्रहण कर सकती है—एक दो हाथ का, दो तीन हाथ के और एक चार हाथ का। इतनी लम्बाई वाले वस्त्र न मिले तो जोड कर बना लेना चाहिए।

जो वस्त्र भिक्षु के निमित्त तैयार किया गया हो, खरीदा गया हो, अथवा माँगा गया हो उसे भिक्षु को ग्रहण नही करना चाहिए।[2] गृहस्थ जिस वस्त्र को पहन चुका हो, जो वस्त्र फेक देने लायक हो अथवा जिसे कोई याचक भी स्वीकार न करे, ऐसा वस्त्र साधु को ग्रहण करना चाहिए।[3]

पात्र—भिक्षु को यदि पात्र की आवश्यकता हो तो वह तूंबा, लकडी, मिटटी या इसी प्रकार का कोई पात्र माँगे। बलवान तथा निरोग भिक्षु एक ही पात्र ग्रहण करे। जो पात्र गृहस्थ काम मे ले चुका हो अथवा जो फेक देने लायक हो, जिसे कोई याचक भी स्वीकार न करे ; ऐसा पात्र साधु को ग्रहण करना चाहिए।[4]

---

१. आचाराग, २, २, १०५-१०७ पृ० ६१, ६२ हि०)
२ वही २, ५ १४१-१४३, पृ० १०५ ,,
३ वही २, ५, १४५ पृ० १०६ ,,
४ वही १, ६, १५२ पृ० १११ ,,

विहार—वर्षाऋतु प्रारम्भ होने पर भिक्षु को चाहिए कि वह गाँव-गाँव घूमना बन्द करके सयम के स्थान पर चातुर्मास (वर्षावास) करके रहे। वर्षाऋतु के वाद हेमन्तऋतु के भी दस-पाँच दिन व्यतीत हो जाने पर जव मार्ग मे जीव-जन्तु तथा घास कम हो जाए तथा लोगो का आना-जाना प्रारम्भ हो जाए तब भिक्षु सावधानी से विहार करे।[1]

भिक्षु को चलते समय अपने समक्ष चार हाथ जमीन पर दृष्टि रखकर जीव-जन्तु को बचाते हुए चलना चाहिए। जाते समय यदि साथ मे आचार्य, उपाध्याय या अपने से अधिक गुणसम्पन्न साधु हो तो भिक्षु को चाहिए कि वह इस प्रकार चले कि उनके हाथ पैर से अपना हाथ पैर न टकराए।[2]

मार्ग मे हिसक पशुओ को देख कर उनसे डर कर भिक्षु को मार्ग छोडकर वन, झाडी आदि दुर्गम स्थानो मे न घुसना, न पेड़ पर चढ़ना, न पानी मे कूदना और न किसी प्रकार के हथियार आदि की शरण लेना चाहिए; किन्तु थोड़ा-सा भी विचलित हुए बिना संयमपूर्वक चलते रहना चाहिए। यदि मार्ग मे लुटेरो का झुंड मिल जाए और वे वस्त्रादि छीन ले तो उन्हे नमस्कार, प्रार्थना आदि करके वस्तुएँ वापिस नही माँगना चाहिए; किन्तु उपेक्षाभाव धारण कर लेना चाहिए।[3]

यदि एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय मार्ग मे कमर तक पानी पार करना पडे तो पहिले सिर से पैर तक शरीर को साफ कर निर्जीव कर ले फिर एक पैर पानी मे, और दूसरा पैर जमीन पर रख कर सावधानी से अपने हाथ-पैर एक दूसरे से न टकरावे, इस प्रकार जल को पार करे।[4]

---

१. आचाराग (हि०) २, ३, १११-११३, पृ० ९४, ९५।
२. वही २, ३, ११४, १२८, पृ० ९५।
३. वही २, ३, १३१, पृ० ९७, ९८।
४ वही २, ३, ११८, पृ० ९९।

श्रमण-जीवन की विचारधारा

शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति चरम लक्ष्य है—श्रमण-जीवन का एक मात्र उद्देश्य अपनी आत्मा की सर्वोच्च उन्नति करना है, अत. श्रमण सर्वदा आत्मा का चिन्तन करता रहता है। अंगशास्त्र मे जहाँ कही भी श्रमण-जीवन का वर्णन है वहाँ यह अवश्य लिखा है कि, "वह आत्मा का विचार करता हुआ विहार करने लगा।"[1]

आत्म-तत्त्व की उन्नति के लिए श्रमण को उसकी विकृत एवं प्रकृत दोनो अवस्थाओ पर विचार करना पडता है। आत्मा क्रोधादि कषायोसे अभिभूत होने के कारण विकृत होता है। ऐसा विकृत आत्मा शत्रु के समान माना गया है। महावीर ने कहा था कि, "हे बन्धु, अपने साथ ही युद्ध कर, वाह्य युद्ध करने से क्या लाभ होगा?"[2] जो श्रमण आत्मा की इस विकृति पर संयम एवं तप के द्वारा पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है, उसका आत्मा उसका मित्र हो जाता है। आचाराग मे कहा गया हे कि, "हे पुरुष तू ही तेरा मित्र है, वाहर के मित्र को क्यो ढूढ़ता है?"[3] तू अपनी आत्मा को निग्रह मे रख और इस प्रकार तू दु ख से मुक्त हो जावेगा।[4]

अहिंसा चरमलक्ष्य की प्राप्ति का साधन है—यदि वास्तव मे देखा जाए तो श्रमण-जीवन एक अहिंसा का जीवन है। श्रमण की प्रत्येक क्रिया तथा विचार अहिंसा की भावना से ओत-प्रोत रहता है। श्रमण के पचमहाव्रतो मे प्रथम स्थान अहिंसा का है। सत्य और अचौर्य मे अहिंसा की ही भावना व्याप्त है। ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह-त्याग इसी के ही रूप है। अहिंसा की पूर्ण साधना के लिए श्रमण अनगार वनता है।[5] महावीर ने कहा था कि, "मनुष्य दूसरे जीवो के प्रति असावधान न रहे,

---

१. "अप्पाण भावेमाणे विहरइ" नायाधम्मकहाओ, १, ४, १, ३२, १, ३५।

२ आचाराग (हि०) १, ५, १५४, पृ० ३३।

३ तुलना, "आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन, गीता ६, ५।

४. आचाराग, (हि०) १, ३, ११७, ११८, पृ० २३।

५ "विविध कर्मरूपी हिंसा की प्रवृत्तियाँ मे नही करूँ, इस भाव से उद्यत हुआ, वुद्धिमान' अनगार कहा है।" आचाराग (हि०) १, १,३९, ६१ पृ० ८।

जो दूसरो के प्रति असावधान रहता है, वह अपनी आत्मा के प्रति असावधान रहता है। जो अपनी आत्मा के प्रति असावधान रहता है, वह दूसरे जीवो के प्रति असावधान रहता है।"[१]

अप्रमाद अहिसा की आधारशिला है—किसी को जीवनविमुक्त कर देना अथवा कष्ट देना ही हिसा नही है। हिंसा का आधार तो हिंसा की भावना है। प्राणिहिसा होने पर भी मन की पवित्रता से व्यक्ति अहिसक हो सकता है और प्राणिहिंसा न होने पर भी यदि हृदय मे प्राणी को रक्षा के भाव नही है तो अप्रमाद के कारण व्यक्ति हिंसक माना जायेगा। आलस्य के कारण हृदय मे प्राणी की रक्षा के भाव तथा रक्षा-रूप प्रवृत्ति न होना प्रमाद है। आचारांग मे कहा है कि, "प्रमाद और उसके कारण कामादि मे आसक्ति हिसा है।"[२]

श्रमण हमेशा इस वात का विचार करता रहता है कि वह एक क्षण के लिए भी प्रमत्त न हो। प्रमाद को कर्म तथा अप्रमाद को अकर्म कहा गया है।[३] महावीर ने वार वार कहा है कि, "श्रमण को थोड़ा-सा भी प्रमाद नही करना चाहिए।"[४] प्रमाद को दृष्टि में रखकर ही श्रमण के दो भेद किए गए है : १. प्रमत्तसंयत, तथा २ अप्रमत्तसंयत। प्रमादी श्रमण प्रथम कोटि मे तथा अप्रमादी श्रमण द्वितीय कोटि मे आता है।[५] प्रमादी मनुष्य सर्वदा भयग्रस्त रहता है और अप्रमादी निर्भय हो कर विचरण करता है।[६]

शरीर तथा कामभोगों मे आसक्ति संसार का कारण है—श्रमण जव तक शरीर तथा इन्द्रिय के विषयो मे मूर्छित रहेगा, वह कभी

---

१. आचारांग (हि०) १, १, २२, पृ० ८।
२ वही १, १, ३४, ३५, पृ० ८।
३. सूत्रकृतांग (हि०) २, ३, पृ० १३७।
४ आचाराग (हि१) १, २, ८४, १, १, ८०, ६५ पृ० १४।
५. समवायांग, १४।
६ आचाराग (हि०) १, १, १२३, पृ० २४।

अप्रमत्त नही हो सकेगा। संसार मे कामनाओ का पार नही है। कामनाओ को पूर्ण करने की इच्छा, चलनी में पानी भरने के समान व्यर्थ है। कामनाओ को पूर्ण करने के लिए दूसरे प्राणियो का वध आदि करना पडता है।[1] मनुष्य इन वासनाओ के कारण ही बार-बार गर्भ (जन्म) प्राप्त करते है। भोग से तृष्णा कभी शांत नही होती; ऐसा समझ कर भिक्षु को इनकी इच्छा छोड़ देनी चाहिए।[2] अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त करने के लिए श्रमण एक ओर तो सांसारिक विपय-सुखो से दूर रहने का चिन्तन करता रहता है और दूसरी ओर वह हमेशा शरीर से नि स्पृहता की भावना जागृत करता है।

संसार अनित्य एव अशरण है—श्रमण इस बात का सदैव ध्यान करता है कि ससार क्षणभंगुर एवं हेय है। "मनुप्य का जीवन अत्यल्प है और इसे ससार मे कही भी शरण नही है। जब मनुष्य मृत्यु से घिर जाता है, आँख कान आदि इन्द्रियो की शक्ति कम हो जाती है, वृद्धावस्था आ जाती है, जीवन और जवानी पानी की तरह बहने लगता है, तब कुटुम्बीजन उसका तिरस्कार करने लगते है। उस समय माता-पिता तथा प्रियजन कोई भी उसे मृत्यु के मुख से नही बचा सकते।[3] यही सोच कर महावीर ने कहा था कि, "हे धीर पुरुष, तू संसारवृक्ष के मूल और डालियो को तोड़ फैक। इस संसार का वास्तविक (अनित्य-रूप) स्वरूप समझ कर आत्मदर्शी बन।"[4]

शरीर अपवित्र एवं उपेक्षणीय है—संसार के प्रति विरागता को दृढ़ करने के लिए श्रमण शरीर की अशुचितारूप वास्तविकता पर भी विचार करता है।" यह शरीर जैसा (अपवित्र) भीतर है, वैसा ही वाहर है और जैसा बाहर है, वैसा ही भीतर है। पंडित मनुष्य, शरीर

---

१. आचारांग (हि०) १, ३, १०८, १०६, पृ० २०।
२ आचाराग (हि०), १, २, ८४, ८५, ।
३. वही १, २, ६३, ६५, पृ० ११।
४. वही १, ३, १११।

के भीतर दुर्गन्ध से भरे हुए भागो को जानता है और शरीर के मल निकलने वाले भागो के स्वरूप को भी समझता है। बुद्धिमान इसको ठीक तरह समझ कर निकली हुई लार को चाटने वाले बालक की तरह त्यागे हुए भोगो मे फिर लिप्त नही होता।"[१]

---

१. वही १, २, ९३, ९४, पृ० १५।

सप्तम अध्याय

ब्राह्मण तथा श्रमण-संस्कृति

संस्कृति

संस्कृति का एकमात्र उद्‌देश्य मानवता की भलाई है। संसार मे भारतीय संस्कृति, योरोपीय संस्कृति आदि जिन-जिन विभिन्न संस्कृतियो के नाम सुने जाते है, उन सब मे हम उन प्रयत्नो का समावेश पाते है, जो समय-समय पर मानव-व्यक्तित्व के विकास की दिशा मे किए गए। इस दृष्टिकोण से संसार मे केवल एक ही संस्कृति है और वह है मानव-संस्कृति।

यह मानव-संस्कृति भौगोलिक दृष्टिकोण से अनेक संस्कृतियो मे विभाजित हो जाती है। हमारे भारतदेश की वह आचार-विचार-परम्परा, जिसने शताब्दियों पूर्व से मानव को ऐहलौकिक सुख-शान्ति के साथ पारलौकिक-समृद्धि का भी मार्ग प्रदर्शित किया; वह "भारतीय संस्कृति" अथवा आर्य-सस्कृति" कहलाती है।

आर्यसंस्कृति मे मानव-व्यक्तित्व के विकास की दो प्राचीन परम्पराएँ मुख्य है—१ ब्राह्मण-परम्परा तथा २ श्रमण-परम्परा। इन्हे हम क्रमश. ब्राह्मण-संस्कृति तथा श्रमण-सस्कृति के नाम से सम्बोधित करेगे।

ब्राह्मण-संस्कृति

ब्राह्मण-सस्कृति मूल मे 'ब्रह्मन्', के आसपास प्रारंभ और विकसित हुई है। ब्रह्मन् के अनेक अर्थो मे से प्राचीन दो अर्थ इस जगह ध्यान देने योग्य है १—प्रार्थना (स्तुति) तथा २ यज्ञयागादिकर्म। वैदिक-मंत्रो

एवं सूक्तो के द्वारा जो नानाविध स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ की जाती है; वे ब्रह्मन् कहलाती है। इसी तरह वैदिक-मन्त्रो द्वारा साध्य यज्ञ-यागादि कर्म भी ब्रह्मन् कहलाता है। वैदिक-मंत्रो के सूत्रो का पाठ करने वाला पुरोहित वर्ग और यज्ञयागादि कराने वाला पुरोहितवर्ग ही ब्राह्मण है।

ब्राह्मण-संस्कृति का मूल आधार वेद है। अत. यह वैदिक-संस्कृति के नाम से भी कही जाती है। वेद के प्रधानतया दो विभाग है—सहिता और ब्राह्मण। मंत्रो के समुदायो का नाम संहिता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन्ही मंत्रो को विस्तृत व्याख्या है। ब्राह्मण के तीन खड है—१. ब्राह्मण २ आरण्यक, और ३ उपनिषद्। अत वेदों से चार प्रकार के ग्रन्थो का बोध होता है—१ वेद २ ब्राह्मण, ३ आरण्यक तथा ४. उपनिषद्।[१]

श्रमण-संस्कृति

श्रमण-संस्कृति का आधारभूत शब्द "समण" है। समण शब्द प्राकृत का है, उसके संस्कृत-रूप तीन होते है—१ श्रमण, २. समन, ३. शमन। श्रमण संस्कृति का रहस्य इन्ही तीनो शब्दों मे अन्तर्हित है। श्रमण शब्द "श्रम" धातु से बना है, जिसका अर्थ है—तप और श्रम करना। "समन" का अर्थ है—समता का भाव,[२] तथा "शमन" का अर्थ है—अपनी वृत्तियो को शान्त रखना। महात्मा बुद्ध ने "श्रमण" का अर्थ किया है, "पापो को शमन करने वाला"[३]। इस प्रकार तप व श्रम, समानता तथा शान्ति ये तीन तत्व श्रमण-सस्कृति की आधारशिला है।

अभी जैनधर्म के नाम से जो आचार-विचार पहिचाना जाता है; वह भगवान् पार्श्वनाथ के समय में विशेषकर महावीर के समय में निग्गंठधम्म (निर्ग्रथधर्म) नाम से पहिचाना जाता था, परन्तु वह श्रमण-धर्म भी कहलाता था। अन्तर केवल इतना है कि एकमात्र जैन-धर्म ही श्रमणधर्म नही है। श्रमणधर्म की और भी अनेक शाखाएँ भूत-

---

१ संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १८।

२ उत्तराध्ययन, २५, ३२।

३. धम्मपद, धम्मट्ठवग्ग, ९, १०।

काल मे थी।[1] और अब भी बौद्धधर्म के नाम से एक शाखा जीवित है। अतः हम साधारणत श्रमण-संस्कृति को दो भागो मे विभाजित कर सकते हैं—१. जैन-संस्कृति, और २ बौद्धसंस्कृति।

जैन-संस्कृति—जिस संस्कृति को हम जैन-सस्कृति के नाम से पहिचानते है, उस के सर्वप्रथम आविर्भावक कौन थे, और उनसे वह पहले-पहल किस रूप से उद्गत हुई? इसका पूरा-पूरा सही वर्णन करना इतिहास की सीमा के बाहर है। फिर भी आजकल जो शोध हुई है उसके आधार पर हम कह सकते है कि जैन-संस्कृति के प्रथम प्रणेता भगवान् ऋपभ तथा अंतिम उद्धारक महावीर थे। इस सस्कृति के सर्वमान्य पुरुष "जिन" कहलाते है। "जिन" का अर्थ है—वे पुरुप, जिन्होंने चार कर्मो पर विजय प्राप्त करके संसार की समस्त वस्तुओ को एक साथ जानने वाला केवलज्ञान प्राप्त कर लिया[2] है। अतः "जिन" के नाम पर इस संस्कृति का नाम जैन-सस्कृति है।

बौद्ध-सस्कृति—महात्मा गौतम बुद्ध महावीर के समकालीन[3] थे। वे बौद्ध-परम्परा के प्रवर्तक माने जाते हैं। इस धर्म की नीव आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व पडी थी। बुद्ध ने तत्कालीन परिस्थितियो से ऊब कर स्वतंत्ररूप से सोच-विचार करना प्रारभ किया। उन्होने बोधि-वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न हो कर निश्चित किया कि तप और यज्ञो से मनुष्य मुक्ति नही पा सकता, उसे मुक्ति पाने के लिए जीवन को शुद्ध बनाना और अपनी इच्छाओं का निरोध करना होगा। महात्मा बुद्ध ने दुःख के पूर्ण विनाश के लिए आष्टांगिक मार्ग बतलाया है, जिनमे दृष्टि, सकल्प, वचन, कर्म, जीविका, प्रयत्न, स्मृति तथा समाधि की शुद्धि पर बल दिया गया है।[4] बुद्ध ने अपने उपदेश उस समय की लोकभाषा "पाली" मे दिये, जिनका संग्रह "त्रिपिटक" के नाम से विख्यात है।[5] महात्मा-बुद्ध के नाम पर इस संस्कृति का नाम बौद्ध-संस्कृति पडा।

---

१. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ४५।
२. कल्पसूत्र, ५, १२१, पृ० २६४।
३ भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृ० ४०।
४. दीर्घनिकाय, २, ९।
५. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३४९।

जैन तथा बौद्ध संस्कृति का अन्तर—महावीर और बुद्ध न केवल समकालीन ही थे, वलिक वे वहुधा एक ही प्रदेश मे विचरने वाले तथा समान और समकक्ष अनुयायियो को एक ही भापा "प्राकृत" मे उपदेश करते थे। दोनो के मुख्य उद्देश्य मे कोई अन्तर नही था। फिर भी महावीर-पोषित तथा वुद्ध-संचालित सम्प्रदायो मे प्रारंभ से ही विशेष अंतर रहा है, जो ज्ञातव्य है। वौद्ध-सम्प्रदाय वुद्ध को ही आदर्शरूप से पूजता है तथा वुद्ध के ही उपदेशो का आदर करता है, जव कि जैन-सम्प्रदाय महावीर आदि चौवीस तीर्थ कर को इष्टदेव मान कर उन सभी के वचनो का आदर करता है। वौद्ध, चित्त-शुद्धि के लिए ध्यान और मानसिक संयम पर जितना वल देते है, उतना वल वाह्यतप और देहदमन पर नही।[1] जैन, ध्यान और मानसिक सयम के अतिरिक्त देहदमन पर भी अधिक बल देते रहे। बुद्ध का जीवन जितना लोगो मे हिलने-मिलने वाला तथा उनके उपदेश जितने अधिक सीधे-सादे लोकसेवागामी है, वैसा महावीर का जीवन और उपदेश नही। वौद्ध-अनगार की वाह्यचर्या उतनी नियन्त्रित नही रही, जितनी जैन-अनगारो की रही। इसके अतिरिक्त और भी अनेक विशेपताएँ है, जिनके कारण वौद्ध-सम्प्रदाय भारत के समुद्र और पर्वतो की सीमा लॉघ कर उस पुराने समय मे भी विभिन्न-भाषाभापी, सभ्य-असभ्य अनेक जातियो मे दूर-दूर तक फैला और करोडो अभारतीयो ने भी वौद्ध आचार-विचार को अपने-अपने ढंग से, अपनी-अपनी भाषा मे उतारा व अपनाया जव कि जैन-सम्प्रदाय के संवध मे ऐसा नही हुआ।[2]

ब्राह्मण तथा श्रमण संस्कृति का अन्तर

वैषम्य तथा साम्यदृष्टि—ब्राह्मण तथा श्रमण सस्कृतियो के मध्य छोटे-वडे अनेक विषयो मे मौलिक अतर है। पर उस अतर को संक्षेप

---

१. "भिक्षुओ, इन अतियो का सेवन नही करना चाहिए—१ काममुख मे लिप्त होना २. शरीर पीडा मे लगना।" सयुक्तनिकाय, ५५, २, १। "शरीर को सताप देना जडता की निशानी है।" प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति, १, ३४२।

२. जैनसस्कृति का हृदय, पृ० १०।

मे कहना हो तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्राह्मण-सस्कृति वैषम्य पर प्रतिष्ठित है, जब कि श्रमण-परम्परा साम्य पर प्रतिष्ठित है। यह वैषम्य और साम्य तीन बातो मे देखा जा सकता है १—समाज-विषयक २, साध्य-विषयक, ३ प्राणिजगत् के प्रति दृष्टि-विषयक।

समाजविषयक वैषम्य का अर्थ है—समाजरचना तथा धर्माधिकार मे ब्राह्मण-वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व और इतर वर्णो का ब्राह्मण की अपेक्षा कनिष्ठत्व। ऋगवेद मे कहा है[1] कि ब्राह्मण "ब्रह्मा" के मुख से पैदा हुए जब कि शूद्र पैरो से। यही कारण है कि ब्राह्मण तथा शूद्र मे उतना ही भेद व्यवहार मे लाया गया, जितना भेद मुख और पैर मे है। अन्य वर्णो के साथ भी आनुपातिक ढंग से विषमता का व्यवहार किया गया।

ब्राह्मण—धर्म का वास्तविक साध्य है—"अभ्युदय", अर्थात् ऐहिक-समृद्धि, राज्य, पशु, पुत्रादि के नानाविध लाभ तथा इन्द्रपद, स्वर्गीयसुख आदि नानाविध पारलौकिक लाभ। अभ्युदय का साधन मुख्यतया यज्ञधर्म है। इस धर्म मे पशु-पक्षी की बलि अनिवार्य मानी गई[2] है, और कहा गया है कि वेदविहित हिसा धर्म का हेतु है। इस विधान मे बलि किये जाने वाले निरपराध पशु-पक्षी आदि के प्रति स्पष्टतया आत्मसाम्य के अभाव की अर्थात् आत्म-वैषम्य की दृष्टि है।

श्रमणधर्म समाज मे किसी भी वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व न मान-कर गुणकृत तथा कर्मकृत श्रेष्ठत्व व कनिष्ठत्व मानता है।[4] इसलिए वह समाजरचना तथा धर्माधिकार मे जन्मसिद्ध वर्णभेद का आदर न करके गुणकर्म के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्था करता है। अतएव उसकी दृष्टि मे सद्गुणी शूद्र भी दुर्गुणी ब्राह्मण आदि से श्रेष्ठ है और धार्मिक क्षेत्र मे योग्यता के आधार पर प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति (पुरुष या स्त्री) समानरूप से उच्चपद का अधिकारी है।[5]

---

१ ऋगवेद, १०, ९०, १२।

२. "अग्नीपोमीय पशुमालभेत" सांख्यकारिका टीका, ११, पृ० ५।

३ "कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र होते है।" उत्तराध्ययन, २५, ३।

४. "चाण्डालकुलोत्पन्न, किन्तु उत्तमगुणी हरिकेशबल नामक एक जितेन्द्रिय भिक्षु हो गये है।" उत्तराध्ययन, १२, १,

श्रमणधर्म का अंतिम साध्य ब्राह्मण धर्म की तरह अभ्युदय न होकर निःश्रेयस् है। निःश्रेयस् का अर्थ है—ऐहिलौकिक तथा पारलौकिक नानाविध लाभो का त्याग करने वाली ऐसी स्थिति, जिसमे पूर्ण साम्य प्रकट होता है। और कोई किसी से कम योग्य या अधिक योग्य नही रहने पाता। जीवजगत् के प्रति श्रमणधर्म की दृष्टि पूर्ण आत्म-साम्य की है। जिसमे न केवल पशु-पक्षी आदि जन्तुओ का ही समावेश होता है, अपितु वनस्पति जैसे अतिक्षुद्र जीववर्ग का भी समावेश होता है।[1] इसमे किसी भी देहधारी का किसी भी निमित्त से किया जाने वाला वध आत्मवध जैसा ही माना गया है।[2] नि श्रेयस् के साधनो मे अहिंसा मुख्य है। किसी भी प्राणी का किसी भी प्रकार से हिसा न करना समस्त प्राणियो को आत्मवत् समझना यही नि श्रेयस् का मुख्य साधन है। जिसमे अन्य सब साधनो का समावेश हो जाता है। यह साधनगत साम्यदृष्टि हिंसाप्रधान यज्ञयागादि कर्म की दृष्टि से विलकुल विरुद्ध है। इस तरह ब्राह्मण और श्रमणधर्म का वैषम्य और साम्यमूलक इतना विरोध है, कि जिससे दोनो धर्मो के वीच पद-पद पर संघर्ष की संभावना रही है, जो सहस्रो वर्षो के इतिहास मे लिपिवद्ध है। यह पुराना विरोध ब्राह्मणकाल मे भी था और बुद्ध एव महावीर के समय मे भी, तथा इसके वाद भी। इसी चिरंतन विरोध के प्रवाह को महाभाष्यकार पतजलि ने अपनी वाणी मे व्यक्त किया है। वैयाकरण पाणिनि ने सूत्र मे शाश्वत विरोध का निदर्शन किया है, पतजलि "शाश्वत"—जन्म-सिद्धविरोध वाले अहि-नकुल गो-व्याघ्र जैसे द्वन्द्वो के उदाहरण देते हुए साथ-साथ ब्राह्मण-श्रमण का भी उदाहरण देते है।[3] पतंजलि से अनेक शताब्दियो बाद होने वाले जैनाचार्य हेमचन्द्र

---

१ सभी प्राणियो को जीवन प्रिय है, सुख अच्छा लगता है, तथा दु ख प्रतिकूल है।" आचाराग, १, २, ३।

२. "जो मुनि वनस्पति की हिंसा को जानता है वह सच्चा कर्मज्ञ है।" आचारांग १, १, ४५-४७।

"जो अपना दु ख जानता है, वह वाहर का दु ख जानता है और जो वाहर का दु ख जानता है, वह अपना दु.ख जानता है।" आचारांग १, १, ५५।

तुम वही हो, जिसे तुम मारना चाहते हो, पीडा देना चाहते हो, पकडना चाहते हो 'आचाराग श्रु १

३ महाभाष्य २, ४, ६।

ने भी ब्राह्मण-श्रमण उदाहरण देकर पतजंलि के अनुभव की यथार्थता पर मुहर लगाई है।[1]

परस्पर प्रभाव और समन्वय—ब्राह्मण और श्रमण-परम्परा परस्पर एक दूसरे के प्रभाव से बिलकुल अछूती नही है। छोटी-मोटी अनेक बातो मे एक का प्रभाव दूसरे पर न्यूनाधिक मात्रा मे पडा हुआ देखा जाता है। उदाहरणार्थ, श्रमणधर्म की साम्यदृष्टिमूलक अहिसा-भावना का ब्राह्मणपरम्परा पर क्रमश इतना प्रभाव पडा कि जिससे यज्ञीय-हिसा का समर्थन केवल पुरानी शास्त्रीय चर्चाओं का विषयमात्र रह गया और और व्यवहार मे यज्ञीय-हिसा लुप्त-सी हो गयी। अहिसा व 'सर्वभूतहिते रत' सिद्धान्त का पूरा आग्रह रखने वाली साख्य, योग औपनिषद्, अवधूत आदि जिन परस्पराओ ने ब्राह्मण-परम्परा के प्राणभूत वेदविषयक प्रामाण्य और ब्राह्मणवर्ग के पुरोहित व गुरुपद का आत्यंतिक विरोध नही किया; वे परम्पराएँ क्रमश ब्राह्मण धर्म के सर्वसंग्राहक क्षेत्र मे एक या दूसरे रूप मे मिल गई है। इसके विपरीत जैन, बौद्ध आदि जिन परम्पराओ ने वैदिकप्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के गुरुपद के विरुद्ध आत्यंतिक आग्रह रक्खा, वे परम्पराएं यद्यपि सदा के लिए ब्राह्मणधर्म से अलग ही रही है; फिर भी उनके शास्त्र एव निवृत्तिधर्म पर ब्राह्मणपरम्परा की लोकसग्राहक वृत्ति का एक या दूसरे रूप मे प्रभाव अवश्य पड़ा है।[2]

उभय संस्कृतियों की तुलना

मानवजीवन का उद्देश्य—वैदिक दृष्टिकोण से मानवजीवन का एकमात्र यही उद्देश्य माना गया कि मानव अपने जीवनकाल मे अधिक से अधिक सुख या आनन्द प्राप्त करे और जीवन के पश्चात् उसे स्वर्ग अथवा मुक्ति की प्राप्ति हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम, मानवजीवन के दीर्घायु होने की आवश्यकता प्रतीत हुई। ऋषियो ने १०० वर्ष के कर्मठ जीवन की कल्पना की थी।[3] १०० वर्ष के जीवन मे पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिए आवश्यक था कि शरीर स्वस्थ रहे और

---

१ सिद्धहैमव्याकरण, ३, १, १४१।

२ जैनधर्म का प्राण, पृ० ४।

३. ऋषियो की वाणी है—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समा."

इन्द्रियाँ सशक्त रहे तभी तो जीवन मे आनन्द की प्राप्ति सम्भव हो सकती है।

बौद्ध दृष्टिकोण से मानवजीवन का एकमात्र उद्देश्य दुःख-विनाश माना गया। दुःख-विनाश बौद्ध के चार आर्यसत्यो मे से एक है। बुद्ध का कहना था कि संसार मे जन्म, मरण, बुढापा आदि दुःख है, यह बात सत्य है। दुःख का कारण तृष्णा (भोगो की अभिलाषा) है। तृष्णा के अत्यन्त निरोध से दुःख का नाश हो जाता है। और दुःख-नाश का उपाय आष्टागिक मार्ग है।[1] बुद्ध ने अपने जीवनकाल मे अधिक से अधिक सुख या आनन्द की प्राप्ति की कल्पना नही की। उनका कहना था कि मानवजीवन के चरम लक्ष्य को पाने के लिए न तो काम-सुखो मे लिप्त होने की आवश्यकता है और न ही शरीर को पीडा देने की। बुद्ध ने इन दोनो अतियो (पराकाष्ठाओ) के बीच का मार्ग जनता को समझाया। यही मार्ग मज्झिममार्ग (मध्यममार्ग) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[2]

जैन-दृष्टिकोण से मानवजीवन का चरम लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना माना गया।[3] इस निर्वाण-प्राप्ति का उपाय अहिसा है। मानव पूर्ण अहिसक जीवन व्यतीत कर दुःखो से आत्यन्तिक अभावरूप एवं अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख एव अनन्तशक्तिरूप निर्वाण को प्राप्त कर सकता है।[4] यद्यपि सयम तथा तप अहिसा के ही रूप है; किन्तु चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सयम तथा तप की भी आवश्यकता दिखताने के लिए अहिसा के साथ संयम तथा तप का भी निर्देश किया गया है। मन को स्थिर एवं शान्त रख कर शरीर से कष्ट सहन करना तप तथा इन्द्रियो का दमन कर छहकाय के जीवो की रक्षा करना सयम है।[5]

---

१. बौद्धदर्शन, "चार आर्यसत्य" पृ० २३।
२ बौद्ध सस्कृति, पृ० ७।
३ सूत्रकृताग, १ २, २, ३२।
४. सूत्रकृताग १, ११।
५ "अहिसा, सयम एवं तप रूप धर्म ही उत्कृष्ट मगल है।" दशवैकालिक १ १।

संस्कार—ब्राह्मण संस्कृति मे मानवव्यक्तित्व के विकास के लिए संस्कारो को अत्यधिक आवश्यक माना गया है। संस्कार का साधारण अर्थ है—किसी वस्तु को ऐसा रूप देना, जिसके द्वारा वह अधिक उपयोगी बन सके।[1] प्रत्येक सस्कार के समय प्रायः देवताओं के समक्ष शुद्ध, संस्कृत और उच्च भावी—जीवन की प्रतिज्ञा की जाती रही है; क्योकि वैदिक पुरुषो की ऐसी धारणा थी कि किसी मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए देवताओ की सहायता लेना अपेक्षित है। जैनसस्कृति मे धार्मिक दृष्टि से सस्कारो की कोई महत्ता स्वीकार नही की गई, क्योकि संस्कारो का संबंध मुख्यतया शरीर मे है और जैन सस्कृति शरीरनिरपेक्ष, आत्मसस्कृति है।[2]

यद्यपि जैनागम मे अनेक जगह ऐसे प्रकरण उपलब्ध होते है, जो कि हमे "संसार" की ओर संकेत करते है, किन्तु उनका महत्व केवल सामाजिक है। धार्मिक नही।

ब्राह्मण,—धर्मशास्त्रो मे संस्कारो की संख्या बहुमत से १६ मानी गई है—१ गर्भाधान, २ पुसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४ विष्णुवलि, ५ जातकर्म, ६ नामकरण, ७ निष्क्रमण, ८ अन्नप्राशन, ९ चौल, १० उपनयन, ११—१४ चार वेदव्रत, १५ समावर्तन तथा १६ विवाह।[1]

जातकर्म तक के पाँच संस्कार पुत्र के जन्म से सम्वन्ध रखते है। इन सस्कारो मे गर्भस्थिति से लेकर पुत्रोत्पत्ति तक विष्णु, त्वष्टा,

---

१ "संस्कारो नाम स भवति यस्मिन जाते पदार्थो भवति योग्य. कस्य-चिद् अर्थस्य।" जैमिनीसूत्र, ३, १, ३, (शवरटीका)।

२ सूत्रकृताग १, २, १, १४। "जैसे लेप वाली भित्ति लेप गिरा कर कृश करदी जाती है, इसी तरह अनशनादि रूप के द्वारा शरीर को कृश करके अहिंसाधर्म का पालन करना चाहिए।"

१ गौतम (८, १४-२४) के अनुसार सस्कारो की सख्या ४० है, जिनमे प्रधान सस्कारो के अतिरिक्त ५ दैनिक महायज्ञ, ७ पाकयज्ञ, ७ हविर्यज्ञ, ७ सोमयज्ञो की गणना की गई है। वैखानस के अनुसार १८ शरीर सस्कार हैं। अगिरा ने सस्कारो की सख्या २५ बताई है। मनु, याज्ञवल्क्य और धर्मसूत्रकार विष्णु के अनुसार गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक १६ सस्कार है।

प्रजापति, सरस्वती, अश्विनीद्वय आदि देवताओ की आराधना करके गर्भस्थ बालक के कल्याण तथा उसके पुत्ररूप मे उत्पन्न होने की कामना की जाती थी।[1] दसवें या बारहवे दिन नामकरण संस्कार द्वारा पुत्र का नाम रखा जाता था। पौराणिकयुग मे यह संस्कार शिशु के लगभग ६ माह का हो जाने पर होता था।[2] इसके बाद उत्पत्ति के चतुर्थमास मे शिशु को चन्द्र-सूर्य के दर्शनार्थ घर से बाहर निकाल कर निष्क्रमण-संस्कार किया जाता था। छठे मास मे शिशु को दही, मधु तथा घी चटा कर अन्नप्राशन-संस्कार किया जाता था। इसके बाद प्रथम अथवा तृतीय वर्ष मे केशकर्तन तथा चूडास्थापना द्वारा चौल-संस्कार होता था।

जैनसूत्रो मे सबसे प्रथम संस्कार गर्भाधान माना गया है। इसके बाद द्वितीय संस्कार जातकर्म है, जो पुत्रोत्पत्ति के प्रथम दिन किया जाता था। गर्भकाल मे भी माता-पिता द्वारा पुत्र की सुरक्षा के लिए पर्याप्त सावधानी रखी जाती थी। ऐसा कहा गया है कि गर्भिणी को सावधानी से उठना बैठना, सोना तथा चलना चाहिए और उसे भोजन भी अत्यन्त स्वास्थ्यकर ग्रहण करना चाहिए।[3]

जातकर्म—सस्कार मे प्रथम दिन पुत्र की नाल काट कर पृथ्वी में गाड़ दी जाती थी। द्वितीय दिन "जागरिका" उत्सव मनाया जाता था, जिसमे रात्रिभर जाग कर लोग आनन्द मनाते थे। तृतीय दिन "चन्द्रसूर्यदर्शनिका" उत्सव होता था। जिसमे बहुत उल्लास के साथ नवोत्पन्न पुत्र को चन्द्र-सूर्य के दर्शन कराये जाते थे। इसके बाद लगातार ७ दिन तक हर्षोल्लास मनाया जाता था। ११ वे दिन "शुचिकर्म" (गृहशुद्धि) होता था और १२ वे दिन पिता सुन्दर वस्त्र एव अलकारो को धारण कर समस्त मित्र, कुटुम्बीजन, तथा निकटजनो को अपने घर पर बुलाता था। घर पर बहुत मात्रा मे विशिष्ट भोजन तैयार किया जाता था और सभी आगन्तुक जनो को भोजनपान द्वारा संतुष्ट करके उनके समक्ष पुत्र का नामकरण संस्कार होता था।[4]

---

१ ऋग्वेद, १०, १८४।
२ भागवत, १०, ८, ६।
३ नायाधम्मकहाओ १, १६, तथा भगवती, ११, ११।
४ वही १, २०।

इसके वाद भी अनेक प्रकार के उत्सव मनाये जाते थे। वालक जव कुछ रेगने लगता था, तव "परंगामण", जव चलना प्रारम्भ करता था तव "पयचंकामण", जव प्रथम बार अन्न ग्रहण करता था, तव "जेमामण" जव प्रथम वार स्पष्ट शब्दो का उच्चारण करता था, तव "पज्जपावण" और जव कान छेदे जाते थे, तव "कर्णवेध" सस्कार होता था। "वर्षग्रथि" (सवच्छरपडिलक्खण), केशकर्तन (चोलोपण), यज्ञोपवीत (उवनयण) तथा अक्षर ज्ञान (कलाग्रहण) सस्कारो का भी वर्णन जैनागमो मे यत्रतत्र बीज रूप में प्राप्त होता है। भगवतीसूत्र मे सभी सस्कार "कौतुक" कहे गए है। अभयदेव ने कौतुक का अर्थ "रक्षाविधानादि" किया है। इन उत्सवो के समय याग (पूजाविशेष) दाय (दान) आदि क्रियाओं के द्वारा पुत्र की रक्षा का विधान किया जाता था।[1]

विद्यार्थी जीवन—व्राह्मण-सस्कृति के अनुसार वालक का विद्यार्थी जीवन उपनयन-संस्कार से प्रारम्भ होता है।[2] इस संस्कार के पश्चात उनका व्रह्मचर्याश्रम-जीवन माना जाता है।

उपनयन-सस्कार में आचार्य विद्यार्थी के लिए "गायत्री" या "सावित्री" मन्त्र का शिक्षण आरम्भ करता था। अन्त मे आचार्य व्रह्मचारी की कटि मे मेखला वाध कर और और दड दे कर व्रह्मचर्यव्रत का आदेश देता था, "तुम व्रह्मचारी हो, जल पीओ, काम करो, सोओ मत, आचार्य के अधीन हो कर वेद का अध्ययन करो।"[3]

उपनयन-सस्कार के वाद आचार्य और विद्यार्थी का वह सम्बन्ध स्थापित होता था, जिसके द्वारा विद्यार्थी लगभग १२ वर्षो तक वैदिक साहित्य तथा दर्शन का अध्ययन करता था।

अंगशास्त्र में भी उपनयन (उवणयण) संस्कार का वर्णन है। अभय देव ने उपनयन का अर्थ "कलाग्रहण" किया है। कला का अर्थ है—

---

१ भगवती, ११, ११, ४२९ पृ० ९९९, १०००, नायाधम्मकहाओ १, २०, कल्पसूत्र, ५, १०२-१०८ ओवाइयसुत्त, ४०, पृ० १८५।

२ "उपनयन का मौलिक अर्थ है (आचार्य के द्वारा) कला-ग्रहण किया जाना।" पाणिनि, १, ३, ३६।

३ भारतीय संस्कृति का उत्थान, पृ० ४३, ४४।

विद्या, विद्याग्रहण के समय जो उत्सव मनाया जाता था, उसे उपनयन कहा गया है।[1] उपनयन के बाद माता-पिता अपने पुत्र को कलाचार्य (विद्यागुरु) के साथ भेज देते थे।

अध्ययन काल—वैदिक युग मे ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ १२ वर्ष की अवस्था मे होता था।[2] उस युग मे वेदो का अध्ययन ही प्रधान था। अतः १२ वर्ष की अवस्था से लेकर जब तक वेदो का अध्ययन चलता रहता था, तब तक विद्यार्थी पढ़ते रहते थे। साधारण रूप से १२ वर्ष का समय ब्रह्मचारी के लिए उचित माना गया है।[3]

अगशास्त्र के अनुसार बालक का अध्ययन कुछ अधिक ८ वर्ष से प्रारम्भ होता था और जब तक वह कलाचार्य के निकट संपूर्ण ७२ कलाओ का अथवा कुछ कलाओ का अध्ययन नही कर लेता था, तब तक अध्ययन करता रहता था।[4]

बौद्ध-संस्कृति मे कोई भी गृहस्थ अपने कुटुम्ब का परित्याग करके किसी अवस्था का होने पर भी बुद्ध, धर्म और सघ की शरण में जा कर विद्याध्ययन मे लग सकता था।

ज्ञान की प्रतिष्ठा—व्यक्तित्व के विकास की दिशा मे ज्ञान का सर्वाधिक महत्व है। मानवजीवन की सफलता उसके ज्ञान की मात्रा पर अवलवित होती है। शतपथ-ब्राह्मण में ज्ञान की प्रतिष्ठा को प्रमाणित करते हुए कहा गया है कि—"स्वाध्याय और प्रवचन से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है, वह स्वतत्र बन जाता है, उसे नित्य धन प्राप्त होता है, वह सुख से सोता है, वह अपना परम चिकित्सक हो जाता है, वह इन्द्रियो पर संयम कर लेता है, उसकी प्रज्ञा बढ जाती है और उसे यश मिलता है।[5]"

जैनागमो मे भी ज्ञान की महिमा स्वीकार की गई है। शिष्य ने पूछा—"भंते! ज्ञानसम्पन्नता से जीव को क्या लाभ है?" गुरु ने कहा—

---

१. भगवती, सूत्र ११, ११, ४२९, पृ० ९९९, (अभयदेववृत्ति)।
२ छान्दोग्य उपनिषद, ६, १, १-२।
३. गोपथ ब्राह्मण, २, ५।
४. नायाधम्मकहाओ, १, २९, पृ० २१।
५. शतपथ ब्राह्मण, ११, ५, ७, १—५।

'आयुष्मन्, ज्ञानसम्पन्न जीव समस्त पदार्थों को यथार्थरूप से जान सकता है। यथार्थरूप से जानने वाले जीव को इस चतुर्गतिमय संसाररूपी अटवी मे कभी दुःखी नही होना पडता। जैसे धागे वाली सुई खोती नही है, वैसे ही ज्ञानी जीव ससार मे पथभ्रष्ट नहीं होता और ज्ञान, चारित्र, तप तथा विनय के योग को प्राप्त होता है तथा स्वपरदर्शन को यथार्थ जान कर असत्यमार्ग मे नही फँसता।"[1]

जैनो तथा बौद्धो ने लौकिक विभूतियो को तिलाजलि दी और भिक्षु का जीवन अपना कर भी ज्ञान का अर्जन और वितरण किया। तत्कालीन समाज ने नतमस्तक हो कर उन महामनीपियो की पूजा की और अपना सर्वस्व उनके लिए समर्पित कर दिया। ऐसी परिस्थिति मे विद्वानो को अनगार या अकिंचन होने पर भी यह प्रतीत न हुआ कि घर वाले अथवा स्वर्णजटित वस्त्र वाले उनसे अच्छे है। अवश्य ही उन विद्वानो का समाज पर यह प्रभाव पड़ कर रहा कि अनेक राजाओ और राजकुमारो ने अपने वैभव और ऐश्वर्य के पद को अंगीभार न करके जीवनभर ज्ञानमार्ग के पथिक रह कर सरल जीवन विताया और अपने जीवन के द्वारा ज्ञान की महिमा को उज्ज्वल किया।[2]

विद्या के अधिकारी—वैदिक काल मे जिन विद्यार्थियो की अभिरुचि अध्ययन के प्रति होती थी, आचार्य प्राय उन्ही को अपनाते थे। जिन विद्यार्थियों की प्रतिभा ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होती थी, उन्हे फाल और हल या ताने-वाने के काम में लगना पड़ता था।[3]

जैनाचार्यो ने विद्यार्थी की योग्यता के लिए उसका आचार्यकुल में रहना, उत्साही, विद्याप्रेमी, मधुरभापी तथा शुभकर्मा होना आवश्यक वतलाया है।[4] आज्ञा का उल्लंघन करने वाले, गुरुजनो के हृदय से दूर रहने वाले शत्रु की तरह विरोधी तथा विवेकहीन शिष्य को 'अविनीत' कहा गया है।[5] इसके विपरीत जो शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन

१. उत्तराध्ययन, २९, ५९, पृ० ३४३।
२. वही २०, भगवती सूत्र, १२, २, १३, ६ अतगडदसाओ, ७।
३. छन्दोग्यउपनिपद्, ६, १, २।
४. उत्तराध्ययन, ११, १४।
५. वही १, ३।

करने वाला है, गुरु के निकट रहता, (अन्तेवासी) है, तथा अपने गुरु के के इंगित, मनोभाव तथा आकार का जानकार है, उसे "विनीत" कहा गया है।[1]

शिष्य को वाचाल, दुराचारी, क्रोधी, हंसी-मजाक करने वाला कठोर वचन कहने वाला, विना पूछे उत्तर देने वाला, पूछने पर असत्य उत्तर देने वाला, गुरुजनो से वैर करने वाला नही होना चाहिए।[2] उत्तराध्ययन सूत्र मे शिष्य के लिए निम्नोक्त विधान बतलाया गया है—"गुरुजनो की पीठ के पास अथवा आगे-पीछे नही बैठना चाहिए जिससे अपने पैरो का उनके पैरो से स्पर्श हो। शय्या पर लेटे-लेटे तथा अपनी जगह पर बैठे-बैठे ही उन्हे प्रत्युत्तर न देना चाहिए। गुरुजनो के समक्ष पैर पर पैर चढ़ा कर, अथवा घुटने छाती से सटा कर तथा पैर फैला कर कभी नही बैठना चाहिए। यदि आचार्य बुलाएँ तो कभी भी मौन न रहना चाहिए। मुमुक्षु एवं गुरुकृपेच्छ शिष्य को तत्काल ही उनके पास जाकर उपस्थित होना चाहिए। जो आसन गुरु के आसन से ऊँचा न हो तथा जो शब्द न करता हो ऐसे स्थिर आसन पर शिष्य को बैठना चाहिए। आचार्य का कर्त्तव्य है कि ऐसे विनयी शिष्य को सूत्र, वचन और उनका भावार्थ, उसकी योग्यता के अनुसार समझाए।[3]

उत्तराध्ययन सूत्र मे गुरु तथा शिष्य के संबन्ध पर भी प्रकाश डाला गया है "जैसे अच्छा घोडा चलाने मे सारथी को आनन्द आता है, वैसे चतुर साधक को विद्यादान करने में गुरु को आनन्द प्राप्त होता है। जिस तरह अड़ियल टट्टू को चलाते-चलाते सारथी थक जाता है, वैसे ही मूर्ख शिष्य को शिक्षण देते देते गुरु भी हतोत्साह हो जाता है। पापदृष्टि वाला शिष्य कल्याणकारी विद्या प्राप्त करते हुए भी गुरु की चपतो और व भर्त्सनाओं को वध तथा आक्रोश (गाली) मानता है। साधुपुरुष तो यह समझ कर कि गुरु मुझ को अपना पुत्र, लघुभ्राता, अथवा स्वजन के समान मान कर ऐसा कर रहे है, गुरु की शिक्षा (दण्ड) को अपने लिए कल्याणकारी मानता है, किन्तु पापदृष्टि वाला शिष्य

---

१. उत्तराध्ययन, १, २।
२. वही १, ४, ६, १३, १४, १७,।
३. वही १, १८-२३।

उस दशा मे अपने को दास मान कर दु.खी होता है। कदाचित् आचार्य क्रुद्ध हो जाय तो शिष्य अपने प्रेम से उन्हे प्रसन्न करे, हाथ जोड कर उनकी विनय करे तथा उनको विश्वास दिलाए कि वह भविष्य मे वैसा अपराध कभी नही करेगा ।[1]

बौद्ध-संस्कृति मे विद्यार्थी का सदाचारी होना आवश्यक गुण माना जाता था। तत्कालीन आचार्यों का विश्वास था कि दुष्ट स्वभाव का शिष्य बडे जूते के समान है, जो खरीदे जाने पर भी पैर को काटता है। दुष्ट शिष्य आचार्य से जो ज्ञान ग्रहण करता है, उसी से उनकी जड़ काटता है ।[2] भिक्षुओ को उच्चत्तर शिक्षण देने के लिए जो "उपसम्पदा" सस्कार होता था उसके पहिले ही सघ के सभी सदस्यों का मत लिया जाता था। यदि संघ पक्ष मे नही होता था, तो उस भिक्षु की उपसंपदा नही हो सकती थी। तथागत बुद्ध ने नियम बनाया था कि ढोगी, ढीठ, मायावी या गृहस्थो की निन्दा करने वाले भिक्षुओ के लिए संघ मे स्थान नही है। गौतम ने आदेश दिया कि गृहासक्त, पापेच्छु, पापसंकल्पी भिक्षु को बाहर निकाल दिया जाय ।[3] संघ में प्रवेश करने वाले भिक्षुओं को छूत रोग से मुक्त होना, ऋणभार से मुक्त होना, राजा की सेवा में न होना, माता-पिता की स्वीकृति लेना, अवस्था में कम से कम २० वर्ष होना आदि आवश्यक गुण थे ।[4]

शूद्रो का विद्याधिकार—वैदिक काल मे आर्येतर जातियो के द्वारा आर्य भाषा और संस्कृति मे निष्णान्त हो कर वैदिक मंत्रो की रचना करने का उल्लेख मिलता है शूद्रो के लिए वैदिक शिक्षा पर रोक प्रधानत. स्मृति-काल मे लगी। उनके लिए सदा से ही पुराणों के अध्ययन की सुविधा थी। आश्वलायन गृह्यसूत्र मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारो जातियो के "समावर्तन" संस्कार के विधान दिए गए है ।[5] जातककाल में ऐसे अनेक शूद्र और चाण्डाल हो चुके है, जो उच्चकोटि के दार्शनिक तथा

---

१ उत्तराध्ययन, १, ३७-४१ ।

२ उपानहजातक, २३१ ।

३. चुल्लवग्ग, ६, १, ४ ।

४. चुल्लवग्ग, १०, १७, २ ।

५. आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३, ८ ।

विचारक थे ।[1] सुत्तनिपात के अनुसार मातंग नामक चाण्डाल तो इतना बड़ा आचार्य हो गया था कि उसके यहाँ अध्ययन करने के लिए अनेक उच्चवर्ण के लोग आते थे ।

जैन-संस्कृति में चाण्डालो तक का दार्शनिक शिक्षा पा कर महर्षि बनना संभव था । उत्तराध्ययन मे हरिकेशबल नामक चाण्डाल की चर्चा आती है, जो स्वयं ऋषि बन गया था और सभी गुणों से अलंकृत हुआ ।[2] जैनशास्त्रो मे यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वर्ण-व्यवस्था जन्मगत नही किन्तु कर्मगत है । "कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है तथा कर्म से शूद्र होता है ।"[3]

बौद्ध संस्कृति मे भी ज्ञान के द्वारा व्यक्तित्व का विकास करने का मार्ग सबके लिए समान रूप से खोल दिया गया था । एक बार संघ मे प्रवेश पा जाने पर ज्ञान पाने की दिशा मे अपनी शूद्रजाति के कारण किसी प्रकार की बाधा नही रह जाती थी । गौतम के जीवनकाल मे ही शूद्रवर्ग के असंख्य व्यक्ति उनके शिष्य बन चुके थे ।[4]

विद्यालय—वैदिक काल में प्राय प्रत्येक विद्वान गृहस्थ का घर विद्यालय होता था ।[5] क्योकि गृहस्थ के पाँच यज्ञो मे ब्रह्मयज्ञ की पूर्ति के लिए गृहस्थ को अध्यापन-कार्य करना आवश्यक था ।[6] जिन वनो, पर्वतो और उपनद-प्रदेशो को लोगो ने स्वास्थ्य-संवर्धन के लिए उपयोगी माना वे स्थान आचार्यो ने अपने आश्रम और विद्यालयो के उपयोग के लिए चुने । महाभारत मे कण्व, व्यास, भारद्वाज, और परशुराम आदि के आश्रमो के वर्णन मिलते है ।[7] रामायण-कालीन चित्रकूट मे वाल्मीकि का आश्रम था ।[8]

---

१. सेतुजातक, ३७७ ।
२. उत्तराध्ययन, १२, १ ।
३. वही २५, ३३ ।
४ चुल्लवग्ग, ६, १, ४, महावग्ग, ६, ३७, १ ।
५ छान्दोग्य उपनिषद्, ८, १५, १, ४, ६, १ तथा २, २३, १ ।
६ अध्यापन ब्रह्मयज्ञ. मनुस्मृति, ३, ७० ।
७ आदिपर्व, ७० ।
८. रामायण, २, ५६, १६ ।

जैन-संस्कृति की आचार्य-परम्परा तीर्थंकरों से आरम्भ होती है। तीर्थंकर प्राय अनगार होते थे। अन्तिम तीर्थंकर महावीर का निर्ग्रन्थ होना प्रसिद्ध है। ऐसे तीर्थंकरों की पाठशाला का भवनों में होना संभव नहीं था। उनके शिष्य-संघ आचार्यों के साथ ही देशदेशान्तर में पर्यटन करते थे। महावीर के जो ११ गणधर (शिष्य) थे, वे सब आचार्य थे। उनमें इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, आर्यव्यक्त तथा सुधर्मा के प्रत्येक के ५०० शिष्य थे; मंडितपुत्र तथा मौर्यपुत्र के प्रत्येक के ३५० शिष्य थे। और अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य तथा प्रभास के प्रत्येक के ३०० शिष्य थे। ये भ्रमण करते हुए संयोगवश महावीर से मिले और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हो कर अपने शिष्यों सहित उनके संघ में सम्मिलित हो गए।[1]

शनैः-शनैः जैनमुनियों तथा आचार्यों के लिए भी गुफा-मन्दिर तथा तीर्थक्षेत्र के मन्दिर आदि बनने लगे। इसके बाद राजधानियाँ, तीर्थ-स्थान, आश्रम तथा मन्दिर शिक्षा के केन्द्र बने। राजा तथा जमींदार लोग विद्या के पोषक तथा संरक्षक थे। समृद्ध राज्यों की अनेक राज-धानियाँ बड़े-बड़े विद्या-केन्द्रों के रूप में परिणत हुईं। जैनागमों में वर्णन है कि बनारस विद्या का केन्द्र था। शंखपुर का राजकुमार अगड-दत्त वहाँ विद्याध्ययन के लिए गया था। वह अपने आचार्य के आश्रम में रहा और अपना अध्ययन समाप्त कर घर लौटा। सावत्थी (श्रावस्ती) एक अन्य विद्या का केन्द्र था। पाटलिपुत्र भी विद्या का केन्द्र था। "अज्जरक्खिय" जब अपने नगर दशपुर में अपना अध्ययन न कर सका तो वह उच्च शिक्षा के लिए पाटलिपुत्र गया। 'प्रतिष्ठान, दक्षिण में विद्या का केन्द्र था।

साधुओं के निवासस्थान (वसति) तथा उपाश्रयों में भी विद्याध्ययन हुआ करता था। ऐसे स्थानों पर वे ही साधु अध्यापन के अधिकारी होते थे, जो उपाध्याय के समीप रहकर आगम का पूर्णरूप से अभ्यास कर चुके होते थे।[2]

बौद्ध-शिक्षण, विहारों में होता था। ये विहार नगरों के समीप ऊँचे भवनों के रूप में बनते थे। तत्कालीन अनेक राजाओं और धनी लोगों

---

१. कल्पसूत्र, "लिस्ट आफ स्थविराज्, श्रमण भगवान् महावीर, पृ० २११-२२०।

२. ला० इन ए० इ०, पृ० १७३-१७४।

ने गौतमबुद्ध के समय से ही विहारो के बनवाने का उत्तरदायित्व लिया। ऐसी परिस्थिति में विहारो का राजप्रसाद के समकक्ष होना स्वाभाविक ही था। प्रारम्भ मे विहार सादे होते थे पर धीरे-धीरे वे सुसंस्कृत बनने लगे।

श्रावस्ती के "जेतवन" विहार का निर्माण अनार्थपिडक ने गौतम-बुद्ध के जीवनकाल मे कराया था। इसमे १२० भवन और अनेक शालाएँ थी। उपदेश देने के लिए, समाधि लगाने के लिए तथा भोजन करने के लिए पृथक-पृथक शालाएं निर्धारित थी। साथ ही स्नानागार, औषधालय, पुस्तकालय, अध्ययनकक्ष आदि बने हुए थे। पुस्तकालय में बौद्धधर्म की पुस्तको के अतिरिक्त अन्य विचारधाराओं के ग्रन्थो का का भी संग्रह किया गया था। उसमे अनेक जलाशय भी बनाए गए थे।[1]

अध्ययन के विषय—वैदिक-शिक्षण के आदिकाल से ही ऋग्वेद का अध्ययन और अध्यापन सर्वप्रथम रहा। वेद के अतिरिक्त वेदाग, शिक्षा कल्प, निरुक्त, छन्द, व्याकरण तथा ज्योतिप का महत्व भारतीय विद्यालयो मे सदैव रहा है। इनका अध्ययन और अध्यापन वैदिक काल मे ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण से होने लगा था। छान्दोग्य उपनिषद् मे तत्कालीन अध्ययन के विपयो की एक सूची इस प्रकार मिलती है—"चारो वेद, इतिहास-पुराण, वेदो का वेद (व्याकरण), पित्र्य (श्राद्ध-यज्ञ), राशि (गणित), दैव (भौतिक- विधान), निधि (काल-ज्ञान), वाको—वाक्य (तर्क), एकायन (नीति), देव विद्या (शिल्प तथा कलाएँ)।[2]

भगवतीसूत्र (२ १) तथा औपपातिक—दशासूत्र (३२ p. १७२) मे अध्ययन के विषय निम्न प्रकार बतलाए गए है—छह वेद, छह वेदांग तथा छह उपाग।

छह वेद इस प्रकार है—१ ऋग्वेद, २ यजुर्वेद, ३ सामवेद, ४ अथर्ववेद, ५ इतिहास (पुराण) तथा ६ निघटु।

छह वेदांग इस प्रकार है—१. सखाण (गणित), २. सिक्खाकप्प (स्वरशास्त्र) ३. वागरण (व्याकरण) ४ छन्द, ५ निरुक्त (शब्दशास्त्र)

---

१ वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग १, पृ० ३८५, ३८६।

२ छान्दोग्यउपनिपद्, ७, १, २।

तथा ६ जोइस (ज्योतिष्)। छह उपागो मे प्राय वेदांगों मे वर्णित विषयो का और अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन था।

इस प्रकार हम देखते है कि जैन-संस्कृति मे भी वेद का अध्ययन प्रारम्भ काल मे होता रहा है। स्थानांग मे भी ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद का उल्लेख है।[1]

उत्तराध्ययन टीका मे निम्नप्रकार १४ विद्यास्थान (अध्ययन के विषय) बताए गए है[2]—चार वेद; छह वेदांग, मीमांसा, नाय (न्याय) पुराण तथा धम्मसत्थ (धर्मशास्त्र)।

स्थानागसूत्र मे नव प्रकार के पापश्रुतो का वर्णन है[3]—

१	उप्पाय	(अपशकुन-विज्ञान)
२	निमित्त	(शकुन-विज्ञान)
३.	मन्त	(उच्च-इन्द्रजाल विद्या)
४.	आइक्खिय	(नीच-इन्द्रजाल विद्या)
५	तेगिच्छिय	(चिकित्सा-विज्ञान)
६.	कला	(कला-विज्ञान)
७	आवरण	(गृह-निर्माण-विज्ञान)
८.	अण्णाण	(साहित्य-विज्ञान, काव्य नाटकादि)
९	मिच्छापवयण	(असत्य-शास्त्र)

अंगशास्त्र मे ७२ कलाओ का वर्णन मिलता है।[4] यद्यपि सभी छात्र इन समस्त कलाओ मे निपुणता प्राप्त नही करते थे, फिर भी अपनी

---

१ स्थानांग, ३, ३, १८५, "जैन परम्परा के अनुसार वेद दो प्रकार के है—आर्यवेद तथा अनार्यवेद। आर्यवेदो की रचना भरत तथा अन्य आचार्यो ने की थी। इनमे तीर्थंकरो के यशोगान तथा श्रमण एवं उपासको के कर्त्तव्यो का वर्णन था। बाद मे सुलसा, याज्ञवल्क्य आदि ने अनार्यवेदो की रचना की।" आवश्यकचूर्णि २१५।

२ उत्तराध्ययन टीका, ३, पृ० ५६ (अ)।

३ स्थानांग, ९, ६७८।

४. नायाधम्मकहाओ, १, २०, पृ० २१।

शक्ति के अनुसार इन कलाओ मे दक्ष होना प्रत्येक छात्र का उद्देश्य होता था।

ये ७२ कलाएँ निम्न प्रकार हैं—१ लेह (लेख), २. गणिय (गणित), ३ पोरेकव्व (कविता बनाना), ४ अज्जा (आर्यावृत्त का ज्ञान), ५. पहेलिया (पहेलियों का ज्ञान), ६ मागधिया (मागधी भाषा मे कविता-निर्माण), ७ गाहा (गाथा वृत्त मे कवितानिर्माण) ८ गीइय (गीतो का निर्माण), ९. सिलोय (श्लोको का निर्माण), १०. रूव (मूर्ति-निर्माण-कला) ११ नट्ट (नृत्य), १२ गीय (गायन), १३. वाइय (वादित्र), १४ सरगम (सरगम), १५ पोक्खरगय (ढोलवादन), १६ समताल (ताल का ज्ञान), १७. दगमट्टिय (मृत्तिका विज्ञान), १८. जूय (द्यूत), १९. जणवाय (विशेष प्रकार का द्यूत), २० पासय (अक्षद्यूत) २१. अट्ठावय (शतरंज), २२ सुत्तखेड (कठपुतली विज्ञान), २३. वत्थ (भौरे का खेल), २४ नालिका खेड (पासो का खेल), २५ अन्नविहि (भोजन विज्ञान), २६ पाणविहि (पानकविज्ञान), २७ वत्थविहि (वस्त्रविज्ञान), २८. विलेवणविहि (विलेपन विज्ञान), २९ सयणविहि (शय्याविज्ञान), ३०. हिरण्यजुत्ति (चादी के आभूषणो का विज्ञान), ३१ सुवण्णजुत्ति (सोने के आभूषणो का विज्ञान), ३२ चुण्णजुत्ति (चूर्णविज्ञान), ३३. आभरण विहि (आभरण-विज्ञान), ३४. तरुणी पडिकम्म (युवती-विज्ञान), ३५ पत्तच्छेज्ज (पत्र-छेद द्वारा आभूषणो के प्रकार बनाना), ३६ कडच्छेज्ज (मस्तक को सजाने का विज्ञान), ३७ इत्थिलक्खण (स्त्रीलक्षण-विज्ञान), ३८ पुरिसलक्खण (पुरुषलक्षण-विज्ञान) ३९ हयलक्खण (अश्वलक्षणविज्ञान), ४० गयलक्खण (गजलक्षणविज्ञान), ४१ गोलक्खण (गो लक्षण विज्ञान), ४२ कुक्कडलक्खण (मुर्गी लक्षण) विज्ञान) ४३ छत्तलक्खण (छत्रलक्षणविज्ञान), ४४ दण्डलक्खण (दण्डलक्षणविज्ञान), ४५ असिलक्खड (असिलक्षणविज्ञान), ४६. मणिलक्खण-(मणिलक्षणविज्ञान), ४७ काकिणीलक्खण (काकिणी-रत्नलक्षण विज्ञान), ४८ सउणरुय (पक्षियो की बोली का विज्ञान), ४९ ५०. चार-पडिचार (गृहो के चलन तथा प्रतिचलन की विद्या), ५१. सुवण्णपाग (सुवर्ण बनाने की विद्या), ५२ हिरण्णपाग (चाँदी बनाने की विद्या), ५३. सज्जीव (नकली धातुओ को असली धातु मे परिवर्तित करने की विद्या), ५४. निज्जीव (असली धातुओ को नकली धातु मे परिवर्तित करने की विद्या), ५५. वत्थुविज्जा (गृहनिर्माणविज्ञान), ५६-५७ नगरमाण

-खंधारमाण (नगर तथा स्कन्धावारो को नापने की विद्या), ५८. जुद्ध (युद्धविज्ञान), ५९. निजुद्ध (मल्लविज्ञान), ६० जुद्धातिजुद्ध (घोर युद्ध), ६१. दिट्ठिजुद्ध (दृष्टियुद्ध), ६२. मुट्ठिजुद्ध (मुष्टियुद्ध), ६३ बाहु युद्ध (बाहुयुद्ध), ६४ लयायुद्ध (मल्लयुद्ध), ६५. ईसत्थ (तीर विज्ञान), ६६ छरुप्पवाय (असिविज्ञान), ६७ धनुव्वेय (धनुर्वेद), ६८. वूह (व्यूह (विज्ञान), ६९ पडिवूह (प्रतिव्यूह विज्ञान), ७०. चक्कवूह(चक्रव्यूह विज्ञान), ७१ गरुलवूह (गरुडव्यूहविज्ञान), ७२. सगडवूह (शकटव्यूहविज्ञान)।

शिक्षण विधि—वैदिक काल मे प्रारंभ से ही सूत्रो को कंठाग्र करने की रीति थी। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित की अभिव्यक्ति वाणी के साथ-साथ हाथ की गति से भी की जाती थी। वैदिक मंत्रो को कंठस्थ करने के लिए तथा उनके पाठ मे किसी प्रकार की त्रुटि न होने देने के लिए विविध प्रकार के पाठ होते थे। जैसे, संहितापाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटापाठ तथा धनपाठ।

जैन-शिक्षणपद्धति का श्रेय महावीर को है। महावीर ने कहा था कि, "जैसे पक्षी अपने बच्चो को चुगादाना देते है, वैसे ही शिष्यो को नित्य दिन और रात शिक्षा गुरु को देनी चाहिए।"[1] यदि शिष्य संक्षेप मे कुछ समझ नही पाता था तो आचार्य व्याख्या करके उसे समझाता था। आचार्य अर्थ का अनर्थ नही करते थे। वे अपने आचार्य से प्राप्त विद्या को यथावत् शिष्य को ग्रहण कराने मे अपनी सफलता मानते थे। वे व्याख्यान देते समय व्यर्थ की बाते नही करते थे।[2]

परवर्ती युग मे शास्त्रो के पाठ करने की रीति का प्रचलन हुआ। विद्यार्थी शास्त्रो का पाठ करते समय शिक्षक से पूछ कर सूत्रो का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेता था और इस प्रकार अपना संदेह दूर करता था। विद्यार्थी बार-बार आवृत्ति करके अपने पाठ को कंठस्थ कर लेता था। फिर वह पढे हुए पाठ का मनन और चिंतन करता था।[3] प्रश्न पूछने से पहिले विद्यार्थी आचार्य को हाथ जोड लेता था।[4]

१. आचाराग, १, ६, ३, ३।

२ सूत्रकृताग, १, १४, २४-२७।

३ उत्तराध्ययन, २९, १८, तथा १, १३।

४ वही १, २२।

जैन शिक्षण की वैज्ञानिक शैली के पाँच अंग थे—१. वाचना (पढना), २. पृच्छना (पूंछना), ३ अनुप्रेक्षा (पढ़े हुए विषय का मनन करना), ४. आम्नाय—परियट्टणा (कण्ठस्थ करना और आवृत्ति करना) तथा ५. धर्मोपदेश।[1]

वौद्ध-शिक्षण-पद्धति का आदर्श स्वयं गौतमवुद्ध ने प्रतिष्ठित किया था। गौतम ने अपनी शिक्षण-पद्धति का विवेचन करते हुए स्वयं कहा है—"जिस प्रकार समुद्र की गहराई शनैः-शनैः वढती है, सहसा नही, हे भिक्षुओ, उसी प्रकार धर्म की शिक्षा शनैः-शनैः होनी चाहिए। पद-पद चल कर ही अर्हत् वना जा सकता है।[2] गौतम के शिक्षण मे प्रासंगिक उपमा, दृष्टान्त, उदाहरण और कथा का समावेश होता था।

अनुशासन—वैदिक युग मे आचार्य विद्यार्थी को प्रथम दिन ही आदेश देता था कि, "अपना काम स्वय करो, कर्मण्यता ही शक्ति है, अग्नि मे समिधा डालो, अपने मन को अग्नि के समान ओजस्विता से समृद्ध करो, सोओ मत।"[3]

जैनशिक्षण में भिक्षुओ के लिए शारीरिक कष्ट को अतिशय महत्व दिया गया है। व्रतभंग के प्रसंग पर साधु को मरना ही श्रेयस्कर बताया गया है। जैनशिक्षण में शरीर की बाह्यशुद्धि को केवल व्यर्थ ही नही, अपितु अनर्थकर वताया गया है। शरीर का सस्कार करने वाले श्रमण "शरीरबकुश" (शिथिलाचारी) कहलाते थे।[4] वैदिक पद्धति के अग्निहोत्र आदि की उपेक्षा भी जैनसंस्कृति मे की गई है।[5] परिवर्ती युग में विद्यार्थियो के लिए आचार्य की आज्ञा का पालन करना, डाट पड़ने पर भी चुपचाप सह लेना, भिक्षा मे स्वादिष्ट भोजन न लेना आदि नियम वनाये गये। विद्यार्थी सूर्योदय से पहिले जाग कर अपनी वस्तुओ का निरीक्षण करते थे और गुरुजनो का अभिवादन करते थे। दिन के तीसरे पहर मे वे भिक्षा माँगते थे, रात्रि के तीसरे पहर मे वे

१. स्थानाग, ४६५।
२. चुल्लवग्ग, ६, १, ४।
३ शतपथब्राह्मण, ११, ५, ४, ५।
४ स्थानाग ४४५ तथा १५८।
५. सूत्रकृताग, १, ७।

सोते थे। विद्यार्थी भूल से किए गए अपराधों का प्रायश्चित्त भी करते थे।[1]

जैनसंस्कृति के विद्यार्थी ऊन, रेशम, क्षौम, सन, ताडपत्र आदि के बने हुए वस्त्रो के लिए गृहस्थ से याचना करते थे। वे चमड़े के वस्त्र या बहूमूल्य रत्न या स्वर्णजटित अलंकृत वस्त्रो को ग्रहण नही करते थे। हट्टे-कट्टे विद्यार्थी केवल एक और भिक्षुणियाँ चार वस्त्र पहिनती थी।[2]

शिक्षक का व्यक्तित्व—ऋग्वैदिक आचार्य, जिसके दिव्य प्रतीक अग्नि और इन्द्र है, तत्कालीन ज्ञान और आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से समाज मे सर्वोच्च व्यक्ति थे। आचार्य विद्यार्थी को ज्ञानमय शरीर देता था।[3] वह स्वयं ब्रह्मचारी होता था और अपने ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता के बल पर असंख्य विद्यार्थियो को आकर्पित कर लेता था।[4]

जैनशिक्षण के आचार्यो पर महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरो की छाप रही है। वे अपना जीवन और शक्ति मानवता को सन्मार्ग दिखाने के प्रयत्न मे ही लगा देते थे।[5]

आचार्य के आदर्श व्यक्तित्व की जैनसंस्कृति मे जो रूपरेखा आगे बनी वह इस प्रकार थी—"वह सत्य को नही छिपाता था और न उसका प्रतिवाद करता था। वह अभिमान नही करता था और न यश की कामना करता था। वह कभी भी अन्य धर्मो के आचार्यो की निन्दा नही करता था। सत्य भी कठोर होने पर उसके लिए त्याज्य था। वह सदैव सद्विचारों का प्रतिपादन करता था। शिष्य को डॉट-डपट कर या अपशब्द कह कर वह काम नही लेता था। वह धर्म के रहस्य को पूर्णरूप

---

१ उत्तराध्ययन, २६।
२ आचाराग, २, ५, १, १।
३ अथर्ववेद, ११, ५, ३।
४ वही, ११, ५, १६।
५. आचाराग, १, ६, ५, २-४।

से जानता था। उसका जीवन तपोमय था। उसकी व्याख्यानशैली शुद्ध थी, वह कुशल विद्वान् और सभी धर्मों का पडित होता था।[1]

बौद्ध-शिक्षण मे गौतम के व्यक्तित्व की सर्वोपरि महिमा थी। गौतम ने जो निजी आदर्श उपस्थित किया था, वह बौद्ध-शिक्षण के परवर्ती आचार्यो के लिए मार्ग-प्रदर्शक बन कर रहा। गौतम मे अदम्य उत्साह था। उनमे कर्मण्यता की कल्पनातीत शक्ति थी और नई-नई विषम परिस्थितियो को सुलझाने के लिए प्रत्युत्पन्न वुद्धि और समाधान की क्षमता थी। सारे भारत के भिक्षु गौतम के समीप अपने संदेहो को मिटाने के लिए आते थे।[2]

समावर्तन—वैदिककाल में अध्ययन समाप्त हो जाने पर कुछ विद्यार्थी आचार्य की अनुमति से घर लौट जाते थे। आश्रम छोड़ते समय आचार्य विद्यार्थी को कुछ ऐसा उपदेश—दीक्षान्त भाषण देता था, जो उसके भावी जीवन की प्रगति मे सहायक होता था।

इस अवसर पर ब्रह्मचारी के शरीर का अलकरण किया जाता था। समावर्तन का अर्थ है, लौटना। इस संस्कार मे ब्रह्मचारी का विधिपूर्वक स्नान होना था। इसी "स्नान" को महत्व देते हुए इस संस्कार को भी स्नान कहा गया है। समावर्तन-संबंधी स्नान कर लेने के बाद व्यक्ति 'स्नातक, कहलाता था। विवाह के समय तक स्नातक पद की प्रतिष्ठा रहती थी और विवाह होते ही स्नातक गृहस्थ की उपाधि से अलकृत हो जाता था।[3]

जैनसूत्रो मे भी समावर्तन-संस्कार का वर्णन मिलता है। छात्र जब अध्ययन समाप्त करके घर वापिस आता था, तब अत्यन्त समारोह के साथ उसे स्वीकार किया जाता था। रक्षित जब पाटलिपुत्र से अध्ययन समाप्त करके घर वापिस आया तो उसका राजकीय सम्मान किया गया। सारा नगर पताकाओ तथा वंदनवारों से सुसज्जित किया गया।

---

१ सूत्रकृताग, १, १४, १६-२७।

२ महावग्ग, ८, १३, ७।

३ "आजायासंगमात् स्नातको भवति, अत ऊर्ध्व गृहस्थः।' वोधायनगृह्य सूत्र, परिभाषा, १, १५, १०।

रक्षित को हाथी पर बिठाया गया तथा लोगो ने उसका सत्कार किया। उसकी योग्यता पर प्रसन्न होकर लोगो ने उसे दास, पशु तथा स्वर्ण आदि द्रव्य दिया।[1]

विवाह—वैदिक धारणा के अनुसार गार्हपत्य (गृहस्थ जीवन) के लिए पत्नी का होना अपेक्षित है। देवताओ की पूजा करने के लिए पति-पत्नी का सहयोग होना चाहिए।[2] स्नातको का विवाह साधारणत उनकी योग्यता, विद्या और चरित्र के द्वारा उत्तम कुल की योग्य कन्याओ से अनायास ही हो जाता था। स्नातको के ब्रह्मज्ञान पर मुग्ध होकर कुछ उच्चकोटि के नागरिक अपनी कन्याएँ उन्हे दे देते थे। इस प्रकार की वैवाहिक योजना का नाम ब्रह्मविवाह था।[3]

शतपथ ब्राह्मण मे गृहस्थ के लिए ५ महायज्ञो का विधान है। गृहस्थ का कर्त्तव्य था कि वह नित्य उन यज्ञों का सपादन करे। पंच महायज्ञो मे ब्रह्मयज्ञ सर्वप्रथम है। ब्रह्मयज्ञ मे वेदो का स्वाध्याय प्रधान था। ब्रह्मयज्ञ के अतिरिक्त पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथियज्ञ का विधान है। पितृयज्ञ मे पितरो की परितृप्ति के लिए "स्वधा" के साथ जल आदि समर्पित किया जाता था। देवयज्ञ मे "स्वाहा" के साथ समिधा आदि से देवताओ का परितोष किया जाता था। भूतयज्ञ मे प्राणियो की परितृप्ति के लिए नित्य बलि दी जाती थी। अतिथियज्ञ में अतिथि के लिए जल आदि प्रस्तुत करके उनका परितोष किया जाता था।[4]

जैनसंस्कृति मे प्राय आरंभ से ही गृहस्थो के व्यक्तित्व के विकास की योजना सुव्यवस्थित विधि से प्रस्तुत की गई है।[5] साधारणतः जैन-गृहस्थ उन्ही नियमो और व्रतो को अंशत. अपनाता था जिनको जैनश्रमण पूर्णरूप मे अपनाते थे। अहिंसा, सत्य, अचौर्य,

---

१ उत्तराध्ययन टीका, २, पृ० २२ (अ)।

२ ऋग्वेद, १०, ४५, २४, ५, ३, २, ५, २८, ३।

३ शातिपर्व, ७६, २।

४. शतपथ ब्राह्मण, ११, ५, ६, २।

५ उपासकदशाग मे जैनगृहस्थो के व्यक्तित्व-विकास का निरूपण किया गया है।

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का व्रत मुनि और गृहस्थ दोनो के लिए समान रूप से लेना पडता था। मुनि के लिए यह महाव्रत होता था और वे इसको सर्वत ग्रहण करते थे, पर गृहस्थ के लिए इनका सर्वत ग्रहण करना असंभव ही है। ऐसी परिस्थिति मे उनका व्रत केवल आंशिक ही होता था। उनके आंशिक वत का नाभ अणुव्रत था।

अणुव्रतो के साथ गृहस्थ को सात शिक्षाव्रत भी ग्रहण करना पड़ते थे, जिनके अनुसार वह जीवनपर्यन्त चारो दिशाओ मे आने जाने का नियम, निष्प्रयोजन हिसादि पापो का त्याग, सामायिक, उपवास, उपभोग की वस्तुओ का परिमाण निश्चित करना तथा अतिथिसंविभाग व्रत की प्रतिज्ञा करता था।[1] इन व्रतो मे से सामायिक, पोषधोपवास और यथासंविभागव्रत क्रमश. वैदिक संस्कृति के ब्रह्मयज्ञ, व्रतोपवास और अतिथियज्ञ के समकक्ष है। गृहस्थ-जीवन का अत सल्लेखना—विधि से होना चाहिए। इसके अनुसार शुद्ध मन हो कर, सभी विकारो से मुक्त हो कर और सभी लोगो से क्षमादान ले कर अपने समस्त पूर्वकृत पापों की आलोचना की जाती थी। अन्त मे महाव्रतो को अपना कर शोक, भय, विषाद, अरति आदि से चित्त को विमुक्त कर भोजन, पेय का सर्वथा त्याग कर के समाधिमरण अपना लिया जाता था।[2]

बौद्ध—संस्कृति मे गृहस्थ भी बुद्ध, धर्म तथा संघ की शरण मे जाते थे। उन्हे चार आर्यसत्यो का अभ्यास करना पड़ता था। गौतम स्वयं गृहस्थो का सम्मान करते थे। बौद्ध-भिक्षु गृहस्थो के उपकार से कृतज्ञ होते थे। फिर भी साधारणतः बौद्धाचार्यो का मत था कि यथाशीघ्र गृहस्थाश्रम को छोड देने मे ही कल्याण है। जो नही छोड़ सकते है, वे भले ही गृहस्थ उपासक बने रहे। उपासक बनना व्यक्तित्व के विकास की सबसे पहली सीढी मानी गई है। उपासक से आशा की जाती थी कि वह बौद्ध साधुओ की उत्कृष्टता देख कर स्वयं ही उनके समान बनने के लिए प्रव्रज्या ले ले।[3]

---

१ नायाधम्मकहाओ, १, ६०, पृ० ७४।

२ उपासकदशांग, १, ७, पृ० २१।

३ महावग्ग, ५, १३, ५, १।

तथागत बुद्ध के अनुसार यदि श्रद्धालु गृहस्थ मे सत्य, धर्म, धृति और त्याग ये चार गुण है तो वह इस लोक तथा परलोक मे शोक नही करता।[1] गौतमबुद्ध के पश्चात् कालान्तर में बौद्धसस्कृति की महायान शाखा प्रस्फुटित हुई। महायान के अनुसार गृहस्थ, जीवन के किसी क्षेत्र मे क्यो न हो; प्रवज्या लिए बिना ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है; चाहे वह व्यापारी, शिल्पी, राजा, दास या चाण्डाल ही क्यो न हो। ऐसे को निर्वाण-प्राप्त कराने के साधन, दया, मैत्रीभावना, उदारता, त्याग, गृहस्थ आत्मबलिदान, बुद्ध और बोधिसत्वो की भक्ति आदि है।[2]

वानप्रस्थ तथा सन्यास—वैदिक संस्कृति मे मनुष्य की उत्तर अवस्था मे वानप्रस्थ तथा सन्यास इन दो आश्रमों का अत्यधिक महत्व रहा है। प्रारम्भिक युग मे वानप्रस्थ तथा सन्यास, दोनो मुनिकोटि मे रखे जाते थे। सूत्रकाल से इन दोनो का भेद सुनिश्चित हुआ है।

वानप्रस्थ नाम से ही प्रतीत होता है कि इस आश्रम के सम्बन्ध में आरंभिक युग से ही घर छोड कर वन की शरण लेने का विधान रहा होगा। मुनि, अजिन वस्त्र धारण करते थे, सिर पर जटा रखते थे और उनके दात मैले होते थे। उनके मुख से कान्ति नही टपकती थी।[3] वानप्रस्थ मुनि को कभी गॉव मे प्रवेश नही करना चाहिए। वह वन के फल और मूल से अथवा प्राप्त की गई भिक्षा से, आए हुए अतिथियों की पूजा करता था और भिक्षुओं को भिक्षा देता था। नियम था कि वानप्रस्थ अपनी वाणी पर संयम रखे, किसी से स्पर्धा न करे, दूसरों के प्रति क्षमा तथा मैत्री-भाव वढाए और सत्यपरायण बने। साधारणतः वानपस्थ मुनि केश, श्मश्रु वढाते थे। नित्य समाहित होना वानप्रस्थ के लिए आवश्यक था।[4] वानप्रस्थवासी स्त्रियाँ भी वल्कल और अजिन धारण करती थी। गाधारी और कुन्ती ने वानप्रस्थ व्रत अपनाया था।[5]

---

१ सुत्तनिपात, आडवकसुत्त।

२. महायान सूत्रालकार, २, पृ० १६, तथा आगे।

३. सेतुकेतुजातक, १७७।

४. आश्वमेधिक पर्व, ४६ वाँ अध्याय।

५ आश्रमवासिक पर्व, १६, १५, २६, १२, १३।

सन्यास आश्रम मे मनुष्य सर्वतन्त्र-स्वतंत्र हो कर महान् विचारक बनने का अवसर पाता था। सन्यास का विधान मानव को किसी एक स्थान, कुटुम्ब, ग्राम, देश, कुल, धर्म, व्यवसाय तथा पद को सकुचित सीमा से निकाल कर विशाल आध्यात्मिक क्षेत्र मे लाने के लिए किया गया है। वानप्रस्थ—आश्रम के मनन, चिन्तन और तप साधारणतः ब्रह्मज्ञान के साधन है। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर इन साधनो की आवश्यकता नही रह जाती। साधना की अवधि समाप्त हो जाने पर मुनि की संन्यास अवस्था होती है। ऐसे ब्रह्मज्ञानियो का उल्लेख उपनिषद्-साहित्य में मिलता है; जो सभवत· ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमो मे अपने व्यक्तित्व का विकास करके ब्रह्मसंस्थ हो चुके थे।[1]

बौद्ध तथा जैन संस्कृतियो मे यद्यपि गृहस्थ के लिए व्यक्तित्व विकास की योजना बनाई गई, पर गृहस्थाश्रम को कभी आवश्यक नही माना गया। दोनो संस्कृतियों के ग्रन्थो में ग्रहस्थाश्रम के दोपों की गणना प्राय· मिलती हैं। गौतम ने गृहस्थाश्रम का विवेचन करते हुए बताया है कि, "पुत्र और पशु मे आसक्त मन वाले गृहस्थ को मृत्यु उसी प्रकार ले जाती है, जैसे सोये हुए गाव को बाढ। ऐसी परिस्थितियो मे पिता, पुत्र, भाई, बन्धु कोई नही बचा सकते। जब सत्य इस प्रकार है तो शीलवान पंडित यथाशीघ्र निर्वाण की ओर ले जाने वाले मार्ग को अपने लिए खोज निकाले।[2] दार्शनिक तत्वो के आधार पर भी गौतम ने वैराग्य का कारण बतलाते हुए कहा है कि, "सभी संस्कार (बनी हुई वस्तुएँ) अनित्य और दु खमय है। सभी धर्म (पदार्थ) अनात्म हे। जब इन बातो को कोई व्यक्ति अपनी प्रज्ञा से देखता है तो उसे संसार से विराग होता है, यही विशुद्धि का मार्ग है।[3]

जैन-संस्कृति के अनुसार यदि कोई व्यक्ति चराचर संपत्ति रखता है या उसके रखने की सम्मति देता है तो वह कभी मुक्त नही हो सकता।[4]

---

१. छान्दोग्य उपनिषद्, २, २३, १, तथा मनुस्मृति, ६, ८१।
२ धम्मपद, २०, १५, १७।
३. वही, मग्गवग्ग, ५-७।
४. सूत्रकृताग, १, १, १, २।

गृहस्थाश्रम के घनघोर श्रम से बचने के लिए कुछ लोग उसका परित्याग करते थे; तभी तो उनके सम्बन्धी उनसे कहते थे कि, "तुम से हम सरल काम करायेगे, तुम्हारा ऋण भी हम बाँट लेंगे, तुम घर लौट चलो। "ऐसे आश्वासन पा कर कभी-कभी लोग घर लौट जाते थे।[1] "संसार के सभी प्राणी आतुर है, यह देख कर घर से निकल ही पड़ना चाहिए।[2] इस प्रकार के विचार प्रायः जैनसाधक के हुआ करते थे।

इस संस्कृति के विचारकों को मानवजीवन नश्वर, घृणास्पद और चंचल प्रतीत होता था, अत इस जीवन को सुधारने के लिए उनके समक्ष प्रव्रज्या ही एकमात्र उपाय था। उन्हे स्वभावत· गृहस्थाश्रम के कामभोगो मे अशुद्धि और अपवित्रता दिखाई पडती थी। यह बात प्रत्यक्ष है कि "संसार का समस्त ऐश्वर्य मरने के साथ ही समाप्त हो जाता है, पुत्रादि सब कुछ नश्वर है ही, फिर किसके लिए गृहस्थाश्रम में निवास किया जाए ?"[3]

व्यक्तित्व के विकास के लिए बौद्ध-संस्कृति मे वनो का अतिशय महत्व रहा है। इस सस्कृति मे अरण्य को रमणीय माना गया है और कहा गया है कि कामनाओ के चक्कर मे न पडने वाले विरागी पुरुष इन्ही अरण्यो मे रमण करते है।[4]

गौतमबुद्ध ने वन की उपयोगिता प्रमाणित करते हुए कहा था कि, "जब तक भिक्षु वन के शयनासन का उपभोग करेगे, उनकी वृद्धि होगी।[5] उन्होने नियम बनाया था कि भिक्षु एकासन और एक शय्या वाला हो कर अकेला विचरण करे, आलस्य न करे, अपना दमन करे और वन मे आनन्दपूर्वक रहे।[6]

---

१ वही, १, ३, २।
२. वही, ३, १, १०९।
३. ज्ञाताधर्म कथा, १, १।
४ धम्मपद, ७, १०।
५ महापरिनिव्वानसुत्त, १, ६।
६. धम्मपद, परिण्ण वग्गो, १६।

जैन संस्कृति मे आत्मा को कर्मों के संस्कार से बचाने के लिए ही पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त होने की जो योजना बनाई गई, उसके लिए गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और संयमरूप साधन प्रस्तुत किये गए।[1]

जहाँ तक जैनमुनियो के रहने और खाने-पीने की व्यवस्था का सम्बन्ध है; यह निश्चय रहा कि उनके निमित्त न कोई घर बनना चाहिए, न भोजन और न वस्त्र। ऐसी परिस्थिति मे श्मशान, शून्यागार, गुहा तथा शिल्पशाला आदि मे वह निवास कर सकता था।[२] वह शीत से बचने के लिए अग्नि प्रज्वलित नही करता था। उसके लिए वस्त्र भिक्षा से प्राप्त होते थे। शीत से बचने के लिए वह कुछ अधिक वस्त्र ले सकता था, किन्तु गर्मी के आते ही वह उन्हे छोड़ देता था।

१. इन सबके विवरण के लिए देखिए, इसी पुस्तक का "श्रमण जीवन" अध्याय।

२ आचाराग, १, ७, २, १।

३. वही १, ७, ३, ३।

अष्टम अध्याय

उपसंहार

जैनपरम्परा में मानवीय विकास की रूपरेखा

आत्मा अपनी स्वाभाविक परिणति से शुद्ध है, निर्मल है, विकार-रहित है, परन्तु कपायमूलक वैभाविक परिणति के कारण वह अनादि-काल से कर्मबन्धन मे जकडा हुआ है। यह सभी अनुभव करते है कि प्राणी सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, किसी न किसी प्रकार की कपायमूलक हलचल किया ही करता है। यह हलचल ही कर्मबन्ध की जड है। अत सिद्ध है कि कर्म, व्यक्तिश अर्थात किसी एक कर्म की अपेक्षा से आदि वाले है परन्तु कर्मरूप-प्रवाह की अपेक्षा से अनादि हैं। भूतकाल की अनन्त गहराई मे पहुँच जाने के वाद भी ऐसा कोई प्रसग नही मिलता; जव कि आत्मा पहिले सर्वथा शुद्ध रहा हो और वाद मे कर्मस्पर्श के कारण अशुद्ध बन गया हो। यदि कर्मप्रवाह को आदिमान मान लिया जाय तो प्रश्न होता है कि विशुद्ध आत्मा पर विना कारण अचानक ही कर्ममल लग जाने का क्या कारण है ? विना कारण के कार्य तो होता नही है। और यदि सर्वथा दृश्य आत्मा भी विना कारण के यो ही व्यर्थ कर्ममल से लिप्त हो जाता है तो फिर जप-तप आदि की अनेकानेक कठोर साधनाओ के बाद मुक्त हुए जीव भी पुनः कर्मलिप्त हो जायेंगे।[1]

एक बार महावीर के शिष्य मंडित-पुत्र ने उनसे प्रश्न किया कि, "कर्मो से वधमोक्ष तथा आत्मा का नये-नये रूपो मे ससार मे भटकना

---

१. सामायिकसूत्र, पृ० २६।

वुद्धि ग्राह्य नही है क्योकि शास्त्रो मे लिखा है कि आत्मा त्रिगुणातीत, बाह्य तथा आभ्यन्तर सुख-दु.खो के प्रभाव से परे है, अतः वह किस कारण कर्मवद्ध[1] होगा ? और जिसका वन्धन ही नही है, उसके छूटने की वात ही कहाँ ? इस कारण जो अवद्ध होगा, वह संसार मे भ्रमण भी किस लिए व क्यो करेगा ?

महावीर ने उत्तर दिया कि, "उक्त श्रुतिवाक्य मे जो आत्मा के स्वरूप का वर्णन है, वह केवल सिद्ध आत्माओ पर ही लागू होता है; संसारी आत्माओ पर नही।"

मंडितपुत्र ने पुन· प्रश्न किया, "सिद्ध और संसारी यों दो प्रकार की आत्माओं की कल्पना करने की अपेक्षा सभी आत्माओ को केवल कर्ममुक्त सिद्धस्वरूप मान लिया जाए तो क्या आपत्ति है ?"

महावीर वोले—"संसारी आत्माओ को कर्मरहित मान लेने पर जीवो मे जो कर्मजन्य सुख-दु ख के अनुभव का व्यवहार होता है, वह निराधार सिद्ध होगा। मै सुखी हूँ दुःखी हूँ, इत्यादि व्यवहार का आधार जीवो के कर्मफल माने जाते है। यदि हम जीवो को कर्मरहित मान लेंगे तो इस सुख-दु ख का कारण क्या माना जाएगा ? आत्मा का शरीर अथवा अन्त.करण के साथ जो घनिष्ठ संवध है उसी को हम "वंध" कहते है। आत्मा स्वरूप से उज्ज्वल है, इसमे कोई विरोध नही; पर जव तक वह कर्मवन्धयुक्त है, शरीरधारी है, तव तक कर्मफल से मलिन है। इस मलिन प्रकृति के कारण वह नवीन-नवीन कर्म बाँधता रहता है और उन कर्मो के अनुसार ऊँच-नीच गतियो मे भटकता है, यही इसका ससार—परिभ्रमण है। जव तक आत्मा को ससार से मुक्त होने का साधन प्राप्त नही होता, तव तक वह चातुर्गतिक संसार मे भटकता रहता है और अपने कर्मो का फल भोगता रहता है। जिस समय इसे गुरु के द्वारा अथवा स्वयं मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, तव यदि मुक्ति

---

१. "तस्मान्न वध्यते, नापि मुच्यते, नापि ससरति कश्चित्, ससरति, वध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति." साख्यकारिका, ६२

के लिए वह उद्यम करने लगता है तो कर्मबंधनों का क्षय करके वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।"[1]

मनुष्यजीवन के दो रूप हैं, एक भीतर की ओर और दूसरा बाहर की ओर। जो जीवन बाहर की ओर झाँकता रहता है, संसार की मोह-माया मे उलझा रहता है, अपने आत्मतत्त्व को भूल कर केवल देह का पुजारी बना रहता है, वह मनुष्य-भव मे मनुष्यता के दर्शन नहीं कर सकता। शास्त्रकार इस प्रकार के भौतिक विचार रखने वाले देहात्म-वादी को बहिरात्मा या मिथ्यादृष्टि कहते है।[2] मिथ्यासंकल्प, मनुष्य को अपने वास्तविक अन्तरजगत् की ओर अर्थात् चैतन्य की ओर नही झाकने देते और सदा बाह्य जगत् के भौतिक विलास की ओर ही उल झाये रहते है। केवल बाह्यजगत् का द्रष्टा मनुष्य आकृतिमात्र से मनुष्य है, परन्तु उसमे मोक्षसाधक मनुष्यत्व नही।[3]

मनुष्य-जीवन का दूसरा रूप भीतर झाकना है। भीतर की ओर झाँकने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य, देह और आत्मा को पृथक्-पृथक् वस्तु समझता है, जड़जगत् की अपेक्षा चैतन्य को अधिक महत्व देता है और भोग-विलास की ओर आंखे बन्द करके अन्तर मे रहने वाले आत्मतत्त्व को देखने का प्रयत्न करता है। शास्त्र में उक्त जीवन को अन्तरात्मा या सम्यग्दृष्टि कहा गया है। मनुष्य के जीवन मे मनुष्यत्व की भूमिका यही से प्रारम्भ होती है। अधोमुखी जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाने वाला सम्यगदर्शन के अतिरिक्त और कौन है? यही वह भूमिका है, जहाँ अनादिकाल के अज्ञानांधकार से आच्छन्न जीवन मे सर्वप्रथम सत्य की सुनहरी किरण प्रस्फुरित होती है।[4]

---

१. श्रमण भगवान महावीर, पृ० ६५, ६७।

२ "आत्मविकास के १४ गुणस्थानो मे सबसे प्रथम गुणस्थान मिथ्यादृष्टि है।" समवायाग, १४।

३. "मनुष्य को ये चार बातें दुर्लभ हैं, १. मनुष्यत्व, २. श्रुति=धर्मश्रवण, ३. श्रद्धा ४. संयमधारण की शक्ति।" उत्तराध्ययन ३, १।

४ बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग मे प्रथम मार्ग सम्यग्दृष्टि है, जिसका तात्पर्य है—कायिक, वाचिक, मानसिक, भले बुरे कर्मों का ठीक-ठीक ज्ञान" बौद्धदर्शन, पृ० २५।

मनुष्य यदि इस सत्य-परीक्षण की शुद्ध दृष्टि को प्राप्त कर अनात्मा से सम्बन्ध छोड़ आत्मोन्मुख हो जाय तो वह निरन्तर विकास करता हुआ मानवजीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। मानवीय विकास की इस रूपरेखा को ठीक तरह समझने के लिए हमे जैन-परम्परा के आदर्शों की ओर अपनी दृष्टि दौड़ानी पड़ेगी।

जैन-परम्परा के आदर्श—मानवीय विकास की जैन-परम्परा को समझने के लिए हमे संक्षेप मे उन आदर्शों का परिचय प्राप्त करना होगा, जो पहिले से आज तक जैन-परम्परा मे सर्वमान्य रहे है।

सवसे प्राचीन आदर्श जैन-परम्परा के समक्ष ऋषभदेव और उनके परिवार का है। ऋषभदेव ने अपने जीवन का वहुभाग उन उत्तर-दायित्वों को वुद्धिपूर्वक निभाने मे व्यतीत किया, जो प्रजापालन के साथ उन पर आ पड़े थे। उन्होने उस समय के विलकुल अपढ़ लोगो को पढना-लिखना सिखाया, कुछ कामधन्धा न जानने वाले वनचरो को खेती-वाड़ी तथा वढ़ई, कुम्हार आदि के जीवनोपयोगी धन्धे सिखाए, आपस मे कैसे व्यवहार करना, कैसे सामाजिक नियमो का पालन करना? यह भी सिखाया। जव उनको यह ज्ञान हो गया कि उनका वडा पुत्र भरत प्रजापालन के समस्त उत्तरदायित्वो को सम्हालने के योग्य हो गया है, तव वे राज्य का भार उसे सौप कर गहन आध्यात्मिक विपयो की छानवीन के लिए तपस्वी हो कर घर से निकल पडे।

ऋपभ के भरत और वाहुवलि नामक पुत्रो मे राज्य के निमित्त भयानक युद्ध प्रारम्भ हुआ। अन्त मे युद्ध का निर्णय हुआ। भरत का प्रचण्ड प्रहार निष्फल गया। जव वाहुवली की वारी आई और समर्थ-तर वाहुवली को जान पड़ा कि मेरे मुष्टि-प्रहार से भरत की अवश्य दुर्दशा होगी, तव उसने भ्रातृविजयाभिमुख क्षण को आत्मविजय मे वदल दिया। उन्होने यह सोच कर कि राज्य के निमित्त लड़ाई मे विजय पाने और वैर-प्रतिवैर तथा कुटुम्व-कलह के वीज वोने की अपेक्षा सच्ची विजय अहंकार और तृष्णा पर जय मे ही है, अपने वाहुवल को क्रोध और अभिमान पर ही जमाया और अवैर से वैर के प्रतिकार के जीवन का

आदर्श स्थापित-किया। फल यह हुआ कि अन्त मे भरत का भी लोभ और गर्व खत्म हुआ।[1]

एक समय था जब कि केवल क्षत्रियो मे ही नही, पर सभी वर्गों में मॉस खाने की प्रथा थी। प्रतिदिन के भोजन, सामाजिक उत्सव, धार्मिक अनुष्ठान के अवसरो पर पशु-पक्षियो का वध ऐसा ही प्रचलित और प्रतिष्ठित था; जैसा आज नारियलो और फलो का चढ़ना। उस युग मे भगवान् अरिष्टनेमि ने एक अलौकिक परम्परा स्थापित की। उन्होने अपने विवाह मे भोजन के लिए वध किए जाने वाले निर्दोप, पशु-पक्षियो की आर्तमूकवाणी से आर्द्र-हृदय हो कर यह निश्चय किया कि वे ऐसा विवाह न करेगे, जिसमे अनावश्यक और निर्दोप पशु-पक्षियो का वध होता हो। उस गंभीर निश्चय के साथ वे सबका आग्रह टाल कर बारात से शीघ्र वापिस लौट आए और द्वारिका से सीधे गिरनार पर्वत पर जा कर उन्होने तपस्या की। कौमार वय में राजपुत्री का त्याग और ध्यान तथा तपस्या का मार्ग अपना कर उन्होने उस चिरप्रचलित पशुवध की प्रथा पर आत्मदृष्टान्त द्वारा ऐसा कठोर प्रहार किया कि जिससे गुजरातभर मे और गुजरात से प्रभावित दूसरे प्रान्तो मे भी भी वह प्रथा नामशेप हो गई।[2]

भगवान् पार्श्व तथा महावीर का जीवन जैन-परम्परा मे महान आदर्श समझा जाता रहा है। महावीर के जीवन मे पार्श्व के आत्म-विकास का पूर्ण प्रतिबिम्ब उपस्थित है। दीर्घतपस्वी महावीर ने अपने जीवन मे अहिसावृत्ति को अपना कर पूर्ण साधना का ऐसा परिचय दिया कि उनके समय मे तथा उनके बाद भी लोग ब्राह्मणधर्म मे से हिसा का नाम मिटा देने के लिए उग्र प्रयत्न करते रहे। परिणाम यह हुआ कि जिन यज्ञो मे पशुवध के बिना पूर्णाहुति नही हो सकती थी। ऐसे यज्ञ भारत-वर्प मे नामशेष हो गए।

महावीर की एक और अपनी विशेषता थी। उन्होने मनुष्य के भाग्य को ईश्वर और देवो के हाथो से निकाल कर स्वय मनुष्य के हाथ

---

१. उत्तराध्ययन, २२ कल्पसूत्र "लाइफ आफ अरिष्टनेमि"।

२ कल्पसूत्र, "लाइफ आफ ऋषभ"।

पर रख दिया। महावीर से स्पष्ट कहा था कि "हिसा से तो हिंसा को उत्तेजना मिलती है; लोगो मे परस्पर शत्रुता बढती है; और सुख की कोई आशा नही। सुख चाहते हो तो सब जीवो से मैत्री करो, प्रेम करो सब दु खी जीवो पर करुणा रखो। ईश्वर में और देवो मे यह सामर्थ्य नही कि वे तुम्हे सुख या दुःख दे सके। तुम्हारे कर्म ही तुम्हे सुखी और दु.खी करते है। अच्छा फल पाओ। बुरा कर्म करके बुरा परिणाम भोगने के लिए तैयार रहो।"

जैन-परम्परा में विकास की दो श्रेणियाँ और उनका परस्पर समन्वय—जैन परम्परा मे मानव के विकास की दो श्रेणियाँ है—१ गृहस्थजीवन मे रहते हुए विकास करने वाला गृहस्थ उपासक और २. गृहस्थवास को छोड़ कर आत्मसाधना के पथ पर चलने वाला अनगार श्रमण।

इन दोनो वर्गो का आदर्श एक समान है किन्तु दोनो के विकास करने की गति मे जितना तारतम्य है, उतना ही तारतम्य उन दोनों साधको के साधनो मे भी है। अहिसा, सत्य, अचार्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये विकास के साधन है। उनके पालन मे गृहस्थसाधक के लिए मर्यादा रखी गई हैं; क्योकि उसे गृहस्थधर्म निभाते हुए साथ-साथ आत्मधर्म मे भी आगे बढना होता है। इसी कारण उसके समस्त व्रतो मे उतनी ही मर्यादा रखी गई है, जितनी उसके जीवन मे सुसाध्य हो सके। किन्तु श्रमण-साधको को तो विकास के उन साधनो का सम्पूर्ण पालन करना होता है। इस कारण गृहस्थ के व्रतो को अणुव्रत और श्रमण के व्रतो को महाव्रत कहते है।[1]

साधु के लिए श्रमण तथा गृहस्थ के लिए श्रमणोपासक शब्द हमें विकास की दोनो श्रेणियो मे परस्पर समन्वय की ओर संकेत करते है। इसी प्रकार आगार-चारित्र और अनगार-चरित्र,[2] आगार-सामायिक और अनगार-सामायिक[3] आदि भी हमें स्पष्टरूप से यह बताते है कि महावीर

---

१. समवायाग, ५।
२. स्थानाग, ७२।
३. वही ८४।

ने एक ही धर्म को केवल अवस्थाभेद से दो प्रकार का कहा है। उन्होंने दोनो वर्गों के व्यक्ति के लिए पूर्णरूप से अलग धर्मों की व्यवस्था नही की तथा महावीर ने श्रमण और श्रमणोपासक दोनो के लिए आलोचना तथा प्रतिक्रमण की व्यवस्था की और इसी प्रकार दोनो के लिए मृत्यु काल मे सल्लेखना का भी विधान किया।

महावीर ने कभी भी गृहस्थधर्म की निन्दा नही की। इसके विपरीत उन्होंने गृहस्थधर्म को साधुधर्म की प्रथम श्रेणी माना है। गृहस्थ की प्रतिमाओ मे अतिम "श्रमणभूत" प्रतिमा पर विचार करने से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।[1]

इस प्रकार हम कह सकते है कि जैन-परम्परा मे विकास की दोनों श्रेणियो के परस्पर समन्वय पर पूर्ण बल दिया गया है।

---

१. समवायाग, ११।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

जैन-अंगशास्त्र

१. सुत्तागमे	सम्पादक, पुप्फभिक्खु, गुडगाव छावनी, १९५३।
२. आचाराग	अग्रेजी अनुवाद, हरमन जेकोवी, "सेक्रेड बुक ऑफ दी ईस्ट" पुस्तक न० २२, जैनसूत्राज्, भाग १, १८८४।
,,	निर्यूक्ति, भद्रवाहु, सूरत, १९३५
,,	वृत्ति, शीलाकाचार्य, सूरत, १९३५।
,,	चूर्णि, जिनदासगणी, रतलाम. १९४१।
,,	हिन्दी अनुवाद (हि०), गोपालदास जीवाभाई, पटेल, वम्बई, १९३८।
३ सूत्रकृताग	अग्रेजी अनुवाद, हरमन जेकोवी, "सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट" पुस्तक न० ४५, जैनसूत्राज् भाग २, १८९५।
,,	निर्युक्ति, भद्रवाहु।
,,	चूर्णि, जिनदासगणी, रतलाम, १९४१।
,,	वृत्ति, शीलाकाचार्य, आगमोदय समिति, वम्वई, १९१७।
,,	हिन्दी टीका, पं० अविकादत्त ओझा, राजकोट, विक्रम सवत् १९९३। (२ भाग)
,,	हिन्दी अनुवाद (हि०), गोपालदास जीवाभाई पटेल, वम्वई, १९३८।
४ स्थानाग	वृत्ति, अभयदेव, अहमदावाद, १९३७।
५. समवायाग	वृत्ति, अभयदेव, अहमदावाद, १९३८।

६ भगवती (व्याख्या प्रज्ञप्ति)	वृत्ति, अभयदेव, रतलाम, १९३७।
७ ज्ञाताधर्मकथा, (नायाधम्मकहाओ)	वृत्ति, अभयदेव, आगमोदयसमिति, बम्बई, १९१९।
,,	सम्पादक प्रो० एन० व्ही० वैद्य, पूना, १९४०।
,,	हिन्दी अनुवाद, प्यारेचन्दजी महाराज, रतलाम, विक्रम सवत्, १९९५।
८. उपासकदशाग (उवासगदसाओ)	वृत्ति, अभयदेव, अहमदावाद, विक्रम सवत् १९९३।
,,	सम्पादक, डा० पी० एल० वैद्य, पूना, १९३०।
,,	अँग्रेजी अनुवाद, हार्नले, कलकत्ता, १८८८।
,,	गुजराती अनुवाद, जीवराज घेलाभाई, अहमदावाद १९२२।
९ अन्तकृद्दशांग, (अन्तगडदसाओ)	वृत्त, अभयदेव, संपादक, म० चि० मोदी, अहमदा-वाद, १९३२।
,,	सम्पादक, पी० एल० वैद्य, पूना, १९३२।
१०. अनुत्तरौपपातिकदशाग (अनुत्तरोववाइयदसाओ)	वृत्ति, अभयदेव, सम्पादक, म० चि० मोदी, अहमदावाद, १९३२।
	सम्पादक, पी० एल० वैद्य, पूना, १९३२।
,,	हिन्दी अनुवाद, उपाध्याय आत्मारामजी महाराज लाहौर, १९३६।
११ प्रश्नव्याकरणाग,	वृत्ति, अभयदेव, बम्बई, १९१९।
,,	वृत्ति, ज्ञानविमलसुरि, अहमदावाद, विक्रम सवत् १९९३।
१२. विपाकसूत्र, (विवागसूयं)	वृत्ति, अभयदेव, सम्पादक, म० चि० मोदी, पूना, तथा व्ही० जे० चौकसी, अहमदावाद, १९३५।

जैन-आगमग्रन्थ

१. अनुयोगद्वार,	वृत्ति, हरिभद्र, रतलाम, १९२८।
२. आवश्यक सूत्र,	नियुक्ति, भद्रबाहु।
,,	चूर्णि, जिनदासगणी, रतलाम, १९२८।

३ उत्तराध्ययन, अँग्रेजी अनुवाद, हरमन जेकोबी, "सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट" पुस्तक न० ४५, जैनसूत्राज् भाग २, १८९५ ।
,, हिन्दी अनुवाद, मुनि श्रीसौभाग्यचन्द्रजी, वम्वई, विक्रम सवत् १९९२ ।
,, टीका, शान्तिसूरी, वम्वई, १९१६ ।
४. औपपातिकसूत्र, (ओवाइयसुत्त), वृत्ति, अभयदेव, द्वितीय, एडीसन, सूरत, १९१४
५. कल्पसूत्र, अँग्रेजी अनुवाद, हरमन जेकोबी, "सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट" पुस्तक न० २२, जैनसूत्राज् भाग १, १८८४ ।
६. दशवैकालिक, वृत्ति, हरिभद्र, वम्बई, १९१८ ।
,, चूर्णि, जिनदास गणी, रतलाम, १९३३ ।
,, हिन्दी अनुवाद, मुनि श्रीसौभाग्यचन्द्रजी, वम्वई, १९३६ ।
७. निशीथ, चूर्णि, जिनदास गणी, सम्पादक, विजयप्रेमसूरीश्वर, विक्रम संवत् १९९५ ।
८. नदीसूत्र, चूर्णि, जिनदास गणी, रतलाम, १९२८ ।
,, भाषा टीका, हस्तिमल्ल मुनि, मुथा, १९४२ ।
९ वृहत्कल्प, भाष्य, संघदास गणी ।
१० पन्नवणा, वृत्ति, मलयगिरि, वम्बई, १९१८, १९१९ ।
११. पट्खण्डागम, धवला टीका, भाग १ ।

वैदिक ग्रन्थ

१ अथर्ववेद,
२. आपस्तव सूत्र, "सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट" पुस्तक न० २, आक्सफोर्ड, १८१७ ।
३. आश्वलायनगृह्यसूत्र,
४ ऋग्वेद,
५ गोपथब्राह्मण,
६ छान्दोग्य उपनिषद्,
७. जैमिनीसूत्र (शवर टीका),

८ तर्कभाषा, अन्नभट्ट, सम्पादक-रामकृष्ण भण्डारकर, पूना, १९३७ ।

९. बोधायन गृह्यसूत्र,

१०. बृहदारण्यकोपनिषद,

११. श्रीमद्भागवत

१२ महाभारत, टी० आर० कृष्णाचार्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०६-१९०९ ।

१३. महाभाष्य, पतजलि ।

१४. मनुस्मृति, "सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट" पुस्तक २५ अनुवाद, बुहलर, १८८६ ।

१५ रामायण, टी० आर० कृष्णाचार्य, बम्बई, १९११ ।

१६ वेदातसार, सदानद, पूना, १९२९ ।

१७ शतपथ ब्राह्मण,

१८ साख्यकारिका, टीका, वाचस्पति मिश्र, पूना, १९३४ ।

बौद्ध ग्रन्थ

१ अंगुत्तरनिकाय, पी० टी० एस०, लन्दन, १८८५-१९०० ।

२ अभिधर्मकोष,

३. चुल्लवग्ग,

४. दीग्घ-निकाय, सम्पादक-रोज डेविड्स, पी० टी० एस०, लन्दन, १८८९ ।

५. धम्मपद, पी० टी० एस०, १९०६-१९१५ ।

६ प्रमाणवार्तिक, स्ववृत्ति,

७ बौद्धदर्शन, राहुलसाकृत्यायन, इलाहाबाद, १९४८ ।

८ बौद्धसस्कृति, राहुलसाकृत्यायन, कलकत्ता, १९५२ ।

९ मज्झिमनिकाय, सम्पादक-टेकनर, लन्दन, १८८८-१८९९ ।

१०. महायानसूत्रालंकार,

११. महापरिनिव्वानसुत्तंत,

१२. सच्चसंगहो, भदंत, आनद कौशल्यायन, प्रयाग, विक्रम सवत् १९५७ ।

१३. जातक, सम्पादक-फोसवाल, लन्दन, १८७७-१८९७ ।

१४. संयुक्तनिकाय, सम्पादक-एम० लिअन फोर, लन्दन, १८८४ १८९८ ।

अन्य ग्रन्थ

१ इन्ट्रोडक्शन टू प्राकृत
लक्षण आफ चण्ड, डा० हार्नले।
२. इडियन एण्टीक्वेरी, पु० ६, डा० याकोवी।
३. इडियन फिलासफी, पु० १, डा० राधाकृष्णन्।
४ कास्मोलोजी ओल्ड-
एण्ड न्यू, प्रो० घासीराम।
५ चार तीर्थंकर, प० सुखलाल संघवी, वनारस, १९५३।
६. जैनदर्शन, प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, काशी, १९५५।
७. जैन आगम, पं० दलसुख मालवणिया, वनारस।
८ जैनधर्म, पं० कैलाशचन्द्रजी, मथुरा, १९५५।
९. जैनसस्कृति का हृदय, पं० सुखलाल सघवी, वनारस, १९४९।
१०. जैनधर्म का प्राण, पं० सुखलाल सघवी, वनारस, १९४९।
११ नाट्यशास्त्र, भरत, काशी संस्कृत सीरिज, १९२९।
१२ नागरी प्रचारिणी
पत्रिका, पु० न० २१।
१३ प्राकृत व्याकरण, आचार्य हेमचन्द्र।
१४ पार्श्वनाथाचा
चातुर्याम धर्म, धर्मानन्द कोसम्वी।
१५. भारतीय, सस्कृति और
अहिंसा, धर्मानन्द कोसम्वी, वम्बई, १९४८।
१६. भारतीय सस्कृति का
उत्थान, डा० रामजी उपाध्याय, इलाहावाद, १९५०।
१७ लाइफ इन ऐन्श्येंट
इडिया एज डेपिक्टेड
इन दी जैन कैनन्स
(ला० इन ए० इ०) डा० जगदीशचन्द्र, वम्वई, १९४७।
१८ वीर निर्वाण संवत्, मुनिश्रीकल्याणविजयजी।
१९. सामायिक सूत्र, उपाध्याय अमरमुनिजी, आगरा, विक्रम सवत् २००३।
२० सस्कृत साहित्य का
इतिहास, वलदेव उपाध्याय, वनारस, १९४५।
२१. सिद्धहैम शव्दानुशासन,

२२ श्रमणसूत्र, उपाध्याय अमरमुनि, आगरा विक्रम संवत् २००७।

२३ श्रमण भगवान् महावीर पं० कल्याणविजय गणी, जालोर, विक्रम संवत् १९९८।

२४ हेमचन्द्र परिशिष्ट पर्व,

२५ ह्वेनसाग, वाटर्स, भाग १

२६ अर्धमागधी कोष, प्रथम भाग, केसरीचन्द्र भण्डारी, इंदौर, १९२३।
,, द्वितीय भाग, ,, ,, इंदौर, १९२७।
,, तृतीय भाग, रेजीडेन्ट जनरल सेक्रेटरीज, बम्बई, १९३०।
,, चतुर्थ भाग ,, ,, ,, १९३२।

२७ पाइअ सद्द महण्णवो, सम्पादक, हरगोविन्ददास सेठ, कलकत्ता, १९२३।

२८ जैन तत्त्वज्ञान, पं० सुखलालजी सघवी, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस हि० यूनि० पत्रिका न १२।